॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला
५

वैशेषिक दर्शन
(एक अध्ययन)

लेखक :
डॉ० श्रीनारायण मिश्र
व्याख्याता, संस्कृत तथा पालि विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

५



वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन

लेखक

श्रीनारायण मिश्र

व्याख्याता, संस्कृत तथा पालि विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३२०४०४

पुनर्मुद्रित संस्करण २०००

मूल्य १००-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ३३३४३१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक

फूल प्रिन्टर्स

वाराणसी

THE
CHOWKHAMBA RASHTRABHASHA SERIES
5
****

VAIŚESIKA DARŚANA : EKA ADHYAYANA

(Vaiśeṣika Philosophy : A Study)

By

ŚRĪ NĀRĀYAṆA MIŚRA
Lecturer, Deptt. of Sanskrit and Pali,
Banaras Hiudu University, Varanasi.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1 (India)

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Publishers & Distributors)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001

*

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007
Telephone : 236391



पूज्यतातपादाः स्व० पं० लक्ष्मीनाथमिश्राः

यदा श्रान्तोऽपि नाऽपश्यं तत् पुत्रे यन्न पैतृकम् ।
तदा त्वत्प्राप्तमेवार्थं तुभ्यं प्रत्यर्पये पितः ?

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक—'वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन'—को विद्वानों के समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे उन दिवङ्गत पिता के वियोग में कुछ शान्ति मिल रही है जिनकी अगाध वत्सलता से ही मैं इस दुरवगाह शास्त्र-सागर में प्रवेश कर सका हूँ। वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित पदार्थों के विषय में जो कुछ मुझे उनसे प्राप्त हो सका उसी का, प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर, मैंने इस पुस्तक में उपनिबन्ध किया है।

यद्यपि 'समान-तन्त्र' होने के कारण इस दर्शन का न्याय-दर्शन के साथ ऐकमत्य स्वाभाविक है तथापि दोनों दर्शनों के परस्पर-वैमत्य का भी अपलाप नहीं किया जा सकता। मध्य-युग में बौद्ध-दार्शनिकों के साथ हुए संघर्ष से प्राप्त-प्रकर्ष न्याय-शास्त्र ने वैशेषिक-शास्त्र को इस तरह आत्म-सात् कर लिया कि आज हमारे समक्ष वैशेषिक-सूत्रों का मौलिक स्वरूप भी प्रायशः उपस्थित नहीं है। न्याय-शास्त्र के प्रभाव के कारण ही इस दर्शन की व्याख्या-परम्परा भी मध्य-युग के प्रारम्भ से अवरुद्ध-सी हो गई। यदि एक-दो व्याख्या-ग्रन्थ लिखे भी गए तो उनमें भी वैशेषिक-दर्शन न्याय-दर्शन की वासना से असंक्रान्त नहीं रह सका। इतना होने पर भी इस दर्शन की व्यावहारिकता तथा प्रामाणिकता के कारण मेरा मन प्रारम्भ से ही इस दर्शन की ओर आकृष्ट रहा है। यह इसी आकर्षण का परिणाम है कि आज मैं अपनी टूटी-फूटी भाषा में इस शास्त्र के सभी प्रधान विषयों की एक रूप-रेखा प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका हूँ।

यद्यपि नव्य-नैयायिकों ने प्रकृत शास्त्र के कई पदार्थों के खण्डन-मण्डन तथा रूपान्तरण किए हैं तथापि साधारण जिज्ञासुओं को इस दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों से परिचित कराने के उद्देश्य से मैंने केवल प्राचीन ग्रन्थों तथा व्याख्या-ग्रन्थों के आधार पर ही सभी पदार्थों का प्रतिपादन किया है। हाँ, यत्र-तत्र अनुकूल होने पर (और कहीं-कहीं मत-भेद के निर्देश के लिए भी) नवीन-ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। मैं यह नहीं कह सकता कि इस ग्रन्थ में उपनिबद्ध मेरे सभी विचार प्रामाणिक ही हैं, क्योंकि एक साधारण व्यक्ति के लिए भ्रान्ति का मार्ग सर्वदा खुला रहता है, तथापि इतना कहने में प्रायशः अधिक अनौचित्य

की सम्भावना नहीं कि इस ग्रन्थ की सहायता से वैशेषिक दर्शन के पदार्थों की जिज्ञासा करनेवालों को यदि मानसिक श्रम में नहीं तो कम से कम प्रामाणिक ग्रन्थों में वैशेषिक-सिद्धान्तों के अन्वेषण में अपेक्षित शारीरिक श्रम में कुछ लाघव अवश्य होगा।

हाँ, मुझे इस बात का खेद अवश्य है कि जिस रूप में इस पुस्तक को प्रस्तुत करने को मेरी अभिलाषा थी वह पूरी न हो सकी। 'प्रामाण्य-वाद' आदि कुछ मार्मिक-विषयों पर तो मेरा विवरण अत्यन्त अपर्याप्त रहा है। यह असम्भावित नहीं कि मेरी अभिलाषा की असफलता का प्रधान उत्तर-दायित्व मेरी अल्पज्ञता पर ही हो, परन्तु कुछ अनुल्लेखनीय बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रतिकूल परिस्थितियों का भी इस असफलता में साधारण अवदान नहीं रहा है। अस्तु, इस विषय में अधिक कहना उचित नहीं।

गुरु-जनों में जिनका नाम प्रथमोल्लेखनीय होता वे मेरे पूज्य पिता जी तो मेरे ही दौर्भाग्य से कुछ ही दिन पहले 'नाम-मुक्त' हो चुके। वर्त्तमान अनुग्राहकों में श्रद्धेय डा० श्री सिद्धेश्वर भट्टाचार्य जी, डा० श्री शीतांशु-शेखर बागची, प्रो० श्री शोभाकान्त झा जी, प्रो० अनन्तलाल ठाकुर जी, पं० कान्तानाथ शास्त्री जी, डा० दिनेशचन्द्र गुह तथा पं० काशीनाथ पाण्डेय जी के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं जिनसे मुझे सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों में प्रविष्ट होने का निर्देश सर्वदा मिलता रहा है। इन गुरु-जनों के उपकार की तुलना में मेरा कृतज्ञता-ज्ञापन नगण्य है। इस प्रसङ्ग में आज के युग में भी संस्कृत-विद्या के परम अनुरागी चौखम्बाप्रकाशनाध्यक्ष भी अत्यन्त धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी प्रेरणा तथा दत्त-चित्तता से ही इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो सका है।

इस पुस्तक में हुई अशुद्धियों के लिए यद्यपि अन्त में एक 'शुद्धि-पत्र' लगा दिया गया है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से उसका उपयोग अधिक नहीं होता। अतः अपनी त्रुटियों के लिए मैं अपने उदार पाठकों से क्षमा-याचना करता हूँ। आशा है, विद्वान् पाठक मेरी त्रुटियों की उपेक्षा कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
दिनांक २५-५-१९६८

निवेदक—
श्रीनारायण मिश्र

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय



वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन

प्रथम अध्याय : उपोद्घात

सम्यग्दर्शन-सम्पन्नः कर्मभिः न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते[1] ॥

वैदिक-काल से ही भारत-भूमि में दार्शनिक विचार की दो धाराएँ प्रवाहित होती आ रही हैं, जिन्हें हम 'द्वैत' तथा 'अद्वैत' कह सकते हैं। भारत के प्राचीन-तम वैदिक-साहित्य में जहाँ एक ओर "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समाने वृक्षे परिषस्वजाते" का उपदेश मिलता है वहीं, दूसरी ओर, यह भी कहा गया है :—

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" ॥

इन दोनों भावनाओं का विकास ब्राह्मण-ग्रन्थों, स्मृतियों, पुराणों तथा विभिन्न दार्शनिक-सम्प्रदायों द्वारा अविच्छिन्न रूप में होता रहा है। प्रस्तुत वैशेषिक-दर्शन भी द्वैत-धारा का ही एक अङ्ग है। यद्यपि इस दर्शन, या यों कहिए कि समस्त द्वैत-दर्शन, का पर्यवसान अद्वैत-प्रवाह में ही है तथाऽपि उपदिश्यमान व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर ये विभिन्न द्वैत-सम्प्रदाय करुणामय महर्षियों द्वारा प्रतिष्ठापित किए गये हैं।

यह वैशेषिक-दर्शन उस विपर्यस्त पुरुष के उद्धार के लिए बनाया गया है जो इस संसार से सहसा विरक्त नहीं हो पाता है। इस दर्शन का कहना है कि सांसारिक द्रव्य, गुण आदि पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से ही मनुष्य मुक्त होकर कृतकृत्य हो सकता है। इसलिये यदि मनुष्य हठात् वैराग्य में प्रवृत्त नहीं होता है तो कोई बात नहीं, पर यदि उसे सांसारिक विषयों का स्वरूप समझा दिया जाय तब उसके लिए उनसे विरत होना अत्यन्त साधारण काम है। इसका विवरण आगे होगा।

ऊपर इस दर्शन के मुख्य लक्ष्य का निर्देश हो चुका है। अब हमें इसकी ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना चाहिए।

वैशेषिक-दर्शन के प्रतिष्ठाता

इस दर्शन के प्रतिष्ठापक परमर्षि के कणाद, काश्यप, उलूक, औलूक्य आदि नाम पाये जाते हैं।

---

१. म० सं० ६.७४ ।

इनका नाम कणाद क्यों पड़ा—इस विषय में मतमतान्तर नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

व्योम-शिवाचार्य के अनुसार कणाद शब्द का अर्थ निम्नलिखित है :—

"कणान् अत्तीति कणादः,[1] तमिति विशिष्टाहार-निमित्तसंज्ञोपदर्शनेन असच्चोद्यनिरासः। तच्च 'कणान् वा भक्षयेत् कामं म (मा) हिषाणि दधीनि च' इत्यादि-युक्तिसिद्धम्।"

श्रीधराचार्य ने भी कुछ ऐसा ही मत प्रस्तुत किया है। उनका कथन यह है—

"कणादमिति[2] तस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठतः रथ्या-निपतितांस्तण्डुल-कणानादाय प्रत्यहं कृताहारनिमित्ता संज्ञा। अत एव 'निरवकाशः कणान् वा भक्षयतु' इति उपालम्भः तत्र भवताम्।"

कुछ लोग[3] इनके परमाणुवाद के आधार पर इन्हें कणाद कहने के पक्ष में हैं। उनकी दृष्टि से कणाद शब्द की निम्नलिखित व्युत्पत्ति हो सकती है :—

"कणान् = परमाणून्, अत्ति = सिद्धान्तत्वेन आत्म-सात् करोति इति कणादः।"

व्योम-शिवाचार्य ने तो कुछ व्युत्पत्तियों का खण्डन भी किया है। जैसे :—

"अन्ये तु[4] असच्चोद्य-निरासार्थम् कणान् ददाति इति दयते इति वा व्युत्पत्त्यन्तरमाश्रियन्ते······चिन्त्यमेतत्, प्रसिद्ध्यपरिज्ञानार्थम् च उपात्तमिति अलम् असद्व्याख्यानैः।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि प्रकृत दर्शन के प्रतिष्ठापक का नाम कणाद इनके आचार अथवा सिद्धान्त के आधार पर पड़ा था न कि यह इनका पारिभाषिक व्यक्तिगत नाम था। अतएव इन्हें यत्र-तत्र कणभुक्, कण-भक्ष तथा कण-व्रत भी कहा गया है।

'पदार्थ-धर्म-संग्रह' तथा 'किरणावली' आदि में इन्हें काश्यप भी कहा गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि ये कश्यप-गोत्र में उत्पन्न हुए थे।

'वायु-पुराण' में इन्हें प्रभास-क्षेत्र-वासी सोमशर्मा का शिष्य तथा भगवान् शङ्कर का अवतार कहा गया है। इस विषय में विशेष विवरण म० म० पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी जी की 'न्यायकन्दली' की भूमिका में दिया गया है।

---

१. व्योमवती पृ० २० (छ)

२. न्या० क० पृ० ४।

३. Ui—Vaisheshika Philosophy P, 6.

४. व्योमवती पृ० २० (छ)

इनका दूसरा नाम 'उलूक' भी प्रसिद्ध है। इस विषय में निम्नलिखित मत हैं :—

(क) डा० उई द्वारा प्रस्तुत[1] आर्यदेव के 'शत-शास्त्र' के व्याख्याकार चीनी विद्वान् चित्सान के अनुसार इनका नाम इसी लिए 'उलूक' पड़ा था कि ये दिन में ग्रन्थ-रचना करते थे और रात में उलूक के समान जीविकोपार्जन किया करते थे।

(ख) व्योमशिवाचार्य भी किसी[2] कारण के निर्देश के विना इन्हें 'उलूक' शब्द से अभिहित करते हैं।

(ग) 'नैषधीय-चरित' के[3] व्याख्याकार नारायण भट्ट ने भी 'उलूक को 'कणाद' का पर्याय माना है।

मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित[4] वै० सू० वृत्ति में इन्हें 'उलूक-वेषधारी' कहा गया है।

'वाचस्पत्यम्' में इन्हें उलूक ऋषि की सन्तति मानकर 'औलूक्य' कहा गया है। 'सम्मतितर्क' की व्याख्या में[5] अभय-देव सूरि ने भी इसी का अनुमोदन किया है।

जैन विद्वान्[6] राजशेखर का कहना है कि 'उलूक' रूप में भगवान् शङ्कर ने 'कणाद' को इस शास्त्र का उपदेश दिया था। इस दृष्टि से कणाद तथा इनके दर्शन को 'औलूक' भी कहा जा सकता है।

कहीं कहीं[7] इनके परमाणुवाद के आधार पर इस सम्प्रदाय तथा इसके आचार्यों को 'पैलुक' भी कहा गया है। यहाँ पीलु-शब्द का अर्थ है परमाणु, जैसा कि 'पीलु-पाक-वाद' शब्द से स्पष्ट है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि इस दर्शन के प्रतिष्ठापक की प्रसिद्धि 'कणाद', 'उलूक', 'औलूक्य', 'पैलुक' एवम् 'औलूक' आदि शब्द से है।

---

१. Vais. Phil. P. 3.

२. व्योमवती "......विना = पक्षिणा = उलूकेन" पृ० ११४।

३. नै० च० प्र० २२।३६॥

४. वै० द० वृ० २।१।१२

५. स० त० व्या० पृ० १४०; और भी देखिए—ष०द०स०वृ०पृ०—६२।

६. मुनये कणादाय स्वयमीश्वरः उलूक-रूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-लक्षणम् पदार्थ-षट्कम् उपदिदेश। राजशेखर (न्या० ली० भूमिका० पृ० २ पर उद्धृत)

७. पैलुकेन कणाद-शिष्येण—न्या० बि० टीका, पृ० ८८।

प्रकृत-दर्शन के नाम

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि प्रकृत दर्शन 'काणाद', 'काश्यपीय', 'औलूक्य' एवम् 'पैलुक' आदि शब्दों से निर्दिष्ट होता आ रहा है। परन्तु इसका सबसे अधिक प्रसिद्ध नाम है 'वैशेषिक-दर्शन'। इसे 'वैशेषिक-दर्शन' क्यों कहा जाता है—इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं—

(क) चीनी विद्वान् की[१] एक परम्परा के अनुसार यह दर्शन कणाद के बुद्धि-वैशिष्टय से उपोद्बलित होने के कारण 'वैशेषिक' कहलाता है। डा० उई ने एक अन्य मत का[२] भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार 'दश-पदार्थ-शास्त्र' के प्रणेता आचार्य चन्द्र को भी चीनी भाषा में 'विशिष्ट उपदेशक' कहा गया है। उक्त दोनों परम्पराओं में वैशेषिक नाम के मूलभूत विशेष शब्द का अर्थ 'बौद्धिक-विशेष' है।

किन्तु उपर्युक्त विवरण से प्रो० उई ने [३]असन्तोष व्यक्त किया है, क्योंकि केवल इसी दर्शन के आचार्यों की बुद्धि उत्कृष्ट होती थी अन्य शास्त्रों के आचार्यों की नहीं—यह आत्माभिमान मात्र-सा लगता है। अतः उपर्युक्त आधार पर इस सम्प्रदाय का उक्त नामकरण उचित नहीं प्रतीत होता है।

(ख) 'वैशेषिक-सूत्र' के अर्वाचीन भाष्यकार चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार[४] का कहना है कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा इस दर्शन में विशिष्ट तत्वों के व्याख्यान होने के कारण ही इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा है। प्रो० उई ने[५] भी एक चीनी परम्परा का ऐसा ही मत प्रस्तुत किया है। परन्तु पूर्वोक्त युक्ति से यह मत भी बहुत उपादेय नहीं प्रतीत होता है।

(ग) 'षड्-दर्शन-समुच्चय' की वृत्ति में[६] मणि-भद्र ने नैयायिकों की अपेक्षा द्रव्य-गुण आदि विशेष तत्वों की व्याख्या होने के कारण ही इसे 'वैशेषिक' कहा है।

---

१. Vais. Phil. P. 5.

२. Ibid. P. 9.

३. Ibid. P. 9.

४. यदिदं वैशेषिकं नाम शास्त्रमारब्धम् तत् खलु तन्त्रान्तरात् विशेषस्यार्थस्य अभिधानात्, च० भा०, पृ० ५.

५. Vais. Phil. P. 5.

६. नैयायिकेभ्यो द्रव्य-गुणादि-सामग्रया विशिष्टमिति वैशेषिकम्—ष० द० स० वृ० पृ० ४।

(घ) प्रो० उई ने[1] एक अन्य चीनी-परम्परा का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार सांख्य-शास्त्र की अपेक्षा इस दर्शन के विशिष्टतर होने के कारण ही इसे 'वैशेषिक' कहा जाता है। परन्तु यह मत भी बहुत उचित नहीं प्रतीत होता है।

(ङ) 'नैषधीय-चरित' के प्रसिद्ध व्याख्याकार नारायण भट्ट[2] ने द्रव्य, गुण आदि पदार्थों के तत्त्व-ज्ञापक होने के कारण ही इस दर्शन को 'वैशेषिक' कहा है। म० म० कालीपद तर्काचार्य की चतुर्थ व्याख्या भी इस मत से अंशतः तथा मणिभद्र की व्याख्या से मिलती-जुलती है।

(च) अत्यन्त प्रसिद्ध तथा बहुमत [3]व्याख्या यह है कि इस दर्शन में दर्शनान्तर-विलक्षण 'विशेष' पदार्थ की व्याख्या होने के कारण ही इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा। अपनी 'न्याय-लीलावती' में 'श्लाघ्या विशेष[4]–स्थितिः' कह कर श्री बल्लभाचार्य ने भी प्रायः इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। डा० राधाकृष्णन्[5] आदि अर्वाचीन विशिष्ट विद्वान भी इसी के समर्थक हैं।

(च) उदयनाचार्य ने अपनी 'किरणावली'[6] में तत्त्व-निश्चय-पूर्वक व्यवहार करनेवालों को 'वैशेषिक' की उपाधि दी है। उनके मत में 'विशेष' शब्द व्यवच्छेद, अर्थात् तत्त्व-निश्चय, का वाचक है :—"विशेषो व्यवच्छेदः तत्त्व-निश्चयः, तेन व्यवहरतीत्यर्थः"।

(ज) वस्तुतः 'वैशेषिक' शब्द के प्रकृति-भूत 'विशेष' शब्द का अर्थ 'व्यवच्छेदक' होना चाहिए। इस दृष्टि से 'विशेष' शब्द की व्युत्पत्ति यह हो सकती है—'विशिष्यते-सर्वतः व्यवच्छिद्यते—येन स विशेषः'। व्यवच्छेदक के विषय में विचार करने पर यह स्पष्ट है कि साधर्म्य-वैधर्म्य ही किसी भी तत्त्व का तत्त्वान्तर से व्यवच्छेदक हो सकता है केवल साधर्म्य या केवल वैधर्म्य नहीं। अतः 'वैशेषिक' शब्द की निम्नलिखित दो व्याख्यायें हो सकती हैं :—

---

१. Vais. Phil. P. 4.

२. नै० च० प्र० २२।३६।

३. शास्त्र-रूपार्थे वैशेषिक-शब्द-व्युत्पत्तिः विशेषं पदार्थभेदमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—न्या० को०

४. न्या० ली० श्लो० २।

५. Indian Phil. P. 176.
Ui—Vais Phil. P. 7.
प्रशस्त-पाद भाष्य-भूमिका (का० तर्काचार्य) पृ० ४

६. किरणावली—पृ० ६१३ (Asiatic Society.)

(क) विशेषाभ्याम् (चतुर्थी द्वि. व.) = व्यवच्छेदकाभ्याम् साधर्म्य-वैधर्म्याभ्याम् (= साधर्म्य-वैधर्म्ये प्रतिपादयितुम्) प्रभवति इति वैशेषिकम् ;

(ख) विशेषाभ्याम् (तृतीया द्वि. व.) व्यवहरतीति वैशेषिकं दर्शनम् (दार्शनिकश्च वैशेषिकः) इति ।

वैशेषिकों की धार्मिक-निष्ठा

प्रशस्त-पाद ने अपने "पदार्थ-धर्म-संग्रह" के अन्त में यह बतलाया है कि महर्षि कण-भुक् ने अपने यौगिक-सदाचार से महेश्वर को प्रसन्न कर उनकी कृपा से वैशेषिक शास्त्र का निर्माण किया[1]। इस विचार का समर्थन उदयनाचार्य ने भी किया[2] है। चन्द्रानन्द ने 'अथाऽतो धर्मं व्याख्यास्यामः'[3] की वृत्ति में कुछ विशद तथा विशेष विवरण प्रस्तुत किया है :—

वेदाभ्यास-व्यपगत-मल एक ब्राह्मण "अशरीरं वावसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः" इस छान्दोग्योपनिषद् (८।१२।१) के उपदेश को समझ कर भगवान् कणाद के पास पहुँचा और उनसे (कणाद से) निवेदन किया—हे भगवन्, उपर्युक्त वाक्य के द्वारा जो निःश्रेयस का उपदेश दिया गया है उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? महर्षि कणाद ने उत्तर दिया—धर्म। पुनः उस ब्राह्मण ने प्रश्न किया—धर्म क्या है ? इसका क्या लक्षण है ? इसके साधन क्या हैं ? इसका उद्देश्य क्या है ? इसका अधिकारी कौन हो सकता है ? इसके बाद कणाद ने धर्म की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की। प्रथम सूत्र में 'अथ' शब्द उसी प्रतिज्ञा का आनन्तर्य बतलाता है। परन्तु इसमें कणाद के ज्ञान-लाभ का आख्यान नहीं है। व्योमशिवाचार्य ने[4] महेश्वर के प्रसाद का

---

१. योगाऽऽचार-विभूत्या यः तोषयित्वा महेश्वरम्।
चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कण-भुजे नमः॥

प० ध० सं० का अन्तिम श्लोक।

२. किरणावली पृ० ४; राजशेखर ने भी इसी का विवरण कुछ विशेषता के साथ किया है :—

"इह किल पूर्वमजिह्म-ब्रह्माऽभ्यास-दूरीकृत-प्रमादाय मुनये कणादाय स्वयमीश्वर उलूक-रूपधारी प्रत्यक्षीभूय द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-समवाय-विशेष लक्षणं पदार्थषट्कमुपदिदेश। तदनु स महर्षिः लोकानुकम्पया षट्-पदार्थ-रहस्य-प्रपञ्चनपराणि सूत्राणि रचयाञ्चकार"

(न्या० ली० भू०, पृ० २ पर उद्धृत)

३. वै० सू० १।१।१।

४. व्योमवती—पृ० १९।

तथा उपर्युक्त चन्द्रानन्द-कथित उपाख्यान का (यद्यपि व्योमवती का पाठ त्रुटित है तथापि उपलब्ध कुछ शब्दों से प्रतीत होता है कि इनका उपाख्यान और चन्द्रानन्द का उपाख्यान समान ही था) निर्देश किया है।

उपर्युक्त महेश्वर तथा कणाद के सम्बन्ध को ध्यान में रख कर ही कुछ लोग वैशेषिक दार्शनिक को 'शैव' कहने के पक्ष में हैं। अत एव हरिभद्रसूरि ने अपने "षड्-दर्शन-समुच्चय" में लिखा है :—

अक्ष-पाद-मते देवः सृष्टि-संहारकृच्छिवः ।
विभुर्नित्यैक-सर्वज्ञो नित्य-बुद्धि-समाश्रयः ॥
देवता-विषये भेदो नास्ति नैयायिकैः समम् ।
वैशेषिकाणाम्[1]...................... ॥

दूसरे [2]मत के अनुसार नैयायिक लोग 'शैव' तथा वैशेषिक लोग 'पाशुपत' माने जाते हैं। युक्ति दीपिका के उद्धरण[3] में वैशेषिकों को 'पाशुपत' कहा गया है। इस मत के अनुयायी की दृष्टि में 'शिव' तथा 'पशुपति' में आगमशास्त्र-प्रसिद्ध भेद का स्थान है।

तृतीय मत के अनुसार, नैयायिक तथा वैशेषिक, दोनों ही पाशुपत माने जाते हैं।

"षड्-दर्शन-समुच्चय" की वृत्ति में मणि-भद्र-सूरि के निर्देश के अनुसार, इस प्रसङ्ग में 'पशुपति' तथा 'शिव' के स्वरूप में आगम-शास्त्रीय भेद नहीं माना गया है। "षड्-दर्शन-समुच्च" की तृतीय कारिका की वृत्ति में मणि-भद्र का उल्लेख है :—

"नैयायिकस्पाशुपत-दर्शनम्;...वैशेषिकं काणाद-दर्शनम्, दर्शन-देवताऽऽदि-साम्येऽपि नैयायिकेभ्यः..."

पुनः स्वयम् मणि-भद्र ने मूल-कार के अनुसार १३ तथा ५९ कारिकाओं की व्याख्या में नैयायिक तथा वैशेषिक को 'शैव' कहा है। अतः मणि-भद्र की दृष्टि में 'शिव' तथा 'पशुपति' में कोई अन्तर नहीं है। उपर्युक्त वचन से गोतम आदि के 'पाशुपत' सिद्ध हो जाने से मणि-भद्र के 'पाशुपतं दर्शनम्' पर टिप्पणी करते हुए दामोदर शास्त्री जी का निम्न-लिखित वचन निरर्गल नहीं प्रतीत होता है :—

---

१. ष० द० स० का० १३, ५९।

२. भा० द० (उमेश मिश्र) पृ. २३८

३. "काणादानामीश्वरोऽस्तीति पाशुपतोपज्ञमेतत्"
मि० वि० सं० की० प्रस्तावना (Introduction) पृष्ठ १६ पर उद्धृत।

"असमञ्जसेयमुक्ति :—[1]न्याय-दर्शनस्य पाशुपतत्वेनाऽप्रसिद्धेः, पाशुपत-दर्शनस्य न्याय-प्रस्थानाऽऽरूढत्वम्प्रायेणेत्यन्यदेतत् ।"

वस्तुतः वैशेषिक शैव हैं या पाशुपत, यह विचार-विमर्श बहुत महत्त्व नहीं रखता ।

'वैशेषिक-सूत्र' का समय

यद्यपि 'वैशेषिक-दर्शन' का मूल-स्रोत वेद ही है तथापि इसका क्रम-बद्ध रूप वैदिकोत्तर युग में ही सम्पन्न हुआ है—ऐसा ऐतिहासिकों का मत है । इस सम्प्रदाय का सर्व-प्रथम उल्लेख बौद्ध-साहित्य के 'मिलिन्द पण्ह' में मिलता है ।[2] राजा मिलिन्द का समय १५० ई० पू० माना जाता है । डा० उई ने अपने ग्रन्थ—Vaisheshika Philosophy—में जैन ग्रन्थों में भी वैशेषिक-सम्प्रदाय के उल्लेख का संग्रह किया है । वैशेषिक तथा बौद्ध ही ऐसे भारतीय सम्प्रदाय हैं जिनका उल्लेख चीन की प्राचीन परम्परा में मिलता है । अतः इस सम्प्रदाय की प्राचीनता असन्दिग्ध है । न्याय-दर्शन की अपेक्षा भी इसे प्राचीनतर[3] माना जाता है । इतना होने पर भी वै० सूत्र की रचना का निश्चित काल बतलाना कुछ कठिन कार्य है । तथापि ऐतिहासिकों के मत-मतान्तर का सारांश निम्न-लिखित है :—

(क) डा० याकोबी के मत में[4] न्याय-सूत्र का समय २०० ई० से ५०० ई० के बीच का है और वै० सू० उससे कुछ प्राचीनतर है ।

(ख) डा० उई ने[5] वै० सूत्रों के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग परीक्षण के पश्चात् इन सूत्रों को नागार्जुन से पूर्ववर्त्ती सिद्ध कर वै० सू० को ५० से लेकर १५० ई० के आस-पास की रचना मानी है ।

(ग) म० म० डा० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने[6] ईस्वीय पूर्व चतुर्थ-शतक के मध्य-भाग से भी पहले वै० सू० की रचना मानी है ।

वैशेषिक-सूत्रों का स्वरूप तथा उनकी संख्या

कणाद के बाद और प्रशस्त-पाद के "पदार्थ-धर्म-संग्रह" से पूर्व वैशेषिक-

---

१. ष० द० स०, पृ० ४

२. Randle—Indian Logic in Early Schools–P. 12.

३. Garbe—The philosophy of Ancient India–P. 20
Randle—I. L. S. P. 177.

४. Journal of The American Oriental Society, Vol, xxxi.

५. Vais. Phil. P. 65.

६. P. I. L. P. xii (Introduction).

दर्शन की परम्परा के लुप्त-प्राय हो जाने के कारण वैशेषिक सूत्रों का स्वरूप वस्तुतः विरूप हो गया है। भिन्न-भिन्न व्याख्याओं तथा अन्यान्य ग्रन्थों से उद्धृत वैशेषिक सूत्रों के स्वरूप में पर्याप्त असामञ्जस्य है। मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित संस्करण की भूमिका में तथा बड़ौदा से प्रकाशित संस्करण की प्रस्तावना तथा उसके कुछ परिशिष्टों में सूत्र-पाठ-तारतम्य का निर्देश किया गया है, जो बहुत ही उपयोगी है।

जैसे स्वरूप में वैमत्य है उसी तरह संख्या में भी सम्प्रतिपत्ति नहीं है। साधारणतः शङ्करमिश्र के "उपस्कार" के साथ प्रकाशित वै० सू० का प्रचार अधिक है। इसमें पूरे सूत्र-पाठ को १० अध्यायों तथा प्रत्येक अध्याय को दो-दो आह्निकों में विभक्त किया गया है। इस संस्करण की सङ्कलित सूत्र-संख्या है :—३७०। परन्तु "उपस्कार" में पठित बहुत सूत्र तो स्पष्टतः अनावश्यक या पूर्व-सूत्रों के प्रपञ्च जैसे प्रतीत होते हैं, जो प्रक्रिया साधारणतः अन्य सूत्रकारों की शैली में नहीं पायी जाती है। मिथिला विद्यापीठ से १९५७ ई० में प्रकाशित वै० सू० में केवल नवम अध्याय के प्रथम आह्निक तक का अंश ही उपलब्ध होता है जिसमें ३२४ सूत्र हैं। बड़ौदा से १९६१ ई० में चन्द्रानन्द-वृत्ति के साथ प्रकाशित संस्करण में ३८४ सूत्र मिलते हैं। इस संस्करण की एक विशेषता और है कि इसमें अष्टम, नवम तथा दशम अध्यायों का अन्य अध्यायों की तरह दो-दो अह्निकों में विभाजन नहीं है।

वै० सूत्र की व्याख्याएँ

(क) वाक्य

वै० सू० पर एक 'वाक्य' नाम की टीका का संकेत जैन लेखक महातार्किक मल्लवादी ने अपने 'द्वादशारनय चक्र', जिसका संस्कृत रूपान्तर बड़ौदा से प्रकाशित वै० सू० के परिशिष्ट में किया गया है, में किया है। 'नय-चक्र' में एक वाक्य है[1]—"असत्सम्बन्ध-परिहारार्थं निष्ठा-सम्बन्धयोरेक-कालत्वात् इति वाक्यम् सभाष्यं प्रशस्तोऽन्यथा व्याचष्टे"। इसके व्याख्याकार सिंह सुरि ने भी उक्त भाष्य को "अस्य वाक्यस्य[2] व्याख्याग्रन्थः" कहकर 'वाक्य' की सत्ता को प्रमाणित किया है। 'वाक्य' इस नाम से ही उसकी संक्षिप्तता स्पष्ट है। यद्यपि मैंने प्रशस्तपाद-भाष्य (का० सं० ग्रन्थ-माला १७३) की 'प्रस्तावना' के १८ पृष्ट पर 'वाक्य' शब्द से किसी भी व्याख्या की प्रसिद्धि नहीं है, ऐसा बतलाया था परन्तु भोजराज के 'शृङ्गार-

---

१. न० च० पृ० १५० (तथा पृ० १५२ भी द्रष्टव्य है)

२. वही पृ० १५२।

प्रकाश' के अवलोकन से ऐसा पता चला है कि पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर कोई 'वाक्य-वार्तिक' रहा। अतएव निम्नलिखित पद्य भी उपलब्ध होता है—

"यद्विस्मृतमदृष्टं वा सूत्र-कारेण, तत्स्फुटम् ।
वाक्यकारो ब्रवीत्येव, तेनाऽदृष्टं च भाष्य-कृत् ॥"

अतः यह भी सम्भव है कि उपर्युक्त 'वाक्य' भी वै० सू० पर एक वार्तिक-ग्रन्थ हो।

इस 'वाक्य' के ऊपर एक भाष्य तथा उन दोनों पर एक प्रशस्त-मति की टीका—जिसका नाम भी 'प्रशस्त-मति' ही सम्भावित है—की सत्ता भी उपर्युक्त उद्धरण तथा "कारण-समवेतस्य वस्तुनः उत्तर-कालं सत्ता-सम्बन्धः[1] इति बहूनाम्मतम्, वस्तूत्पत्ति-काल एवेति तु वाक्यकाराऽभिप्रायोऽनुसृतो भाष्यकारैः, सिद्धस्य वस्तुनः स्व-कारणैः सत्तया च सम्बन्ध इति प्राशस्तमतोऽभिप्रायः" इस कथन से सिद्ध होती है।

(ख) आत्रेयक कृत व्याख्या

बड़ौदा से प्रकाशित वै० दर्शन के परिशिष्ट में तिब्बती भाषा से संस्कृत में रूपान्तरित 'प्रमाण-समुच्चय' में लिखा है—"केचित्[2] प्रमाणात् फलमर्थान्तरमिच्छन्तः असाधारण-कारणत्वात् इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षम्प्रमाणमामनन्ति"। इसकी व्याख्या करते हुए जिनेन्द्रबुद्धि ने 'केचित्' का अर्थ किया है "आत्रेयकादयः"[3]। सम्भव है कि इसी मत को मानने वाली कुछ और व्याख्याएँ या उपव्याख्याएँ भी रहीं जिनके लिए वृत्तिकार जिनेन्द्रबुद्धि ने 'आदि' शब्द का प्रयोग किया हो। कई स्थान पर 'प्र० समुच्चय' तथा इसकी वृत्ति में उद्धरण किसी आचार्य के नाम-निर्देश के बिना ही मिलते हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध किससे है—यह कहना कठिन है।

(ग) रावण-भाष्य

उपर्युक्त प्रसङ्ग में ही आचार्य दिङ्नाग ने एक मतान्तर का भी उल्लेख किया है—"अन्येतु[4] प्रधानत्वात् आत्म-मनः-सन्निकर्षं प्रमाणमाहुः"। इसकी व्यख्या करते हुए जिनेन्द्रबुद्धि ने 'रावणादयः'[5] लिखा है जिससे एक रावणकृत

---

१. वही पृ० १५२।
२. प्र० स० पृ० १६९।
३. विशालामलवती पृ० १७४।
४. प्र० स० पृ० १६९।
५. विशा० पृ० १७४।

व्याख्या का संकेत मिलता है। 'ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर-भाष्य' की 'रत्नप्रभा' में भी एक विवरण है—"द्वाभ्यां[1] द्व्यणुकाभ्यामारब्धे कार्ये महत्त्वं दृश्यते, तस्य हेतुः प्रचयो नाम प्रशिथिलावयव-संयोगः इति रावण-प्रणीते भाष्ये दृश्यते इति चिरन्तन-वैशेषिक-दृष्ट्या इदम्"। उदयनाचार्य ने अपनी 'किरणावली'[2] में जिस भाष्य का संकेत किया है वह भी पद्मनाभ मिश्र की दृष्टि में 'रावण-भाष्य' ही है।

इस 'रावण-भाष्य' को कुछ लोग[3] प्रशस्तपाद से परवर्ती मानते हैं। परन्तु यदि उदयनाचार्य द्वारा निर्दिष्ट भाष्य 'रावण-भाष्य' ही था तब तो यह नहीं माना जा सकता कि 'रावण-भाष्य' प्रशस्तपाद से पूर्व की व्याख्या थी। उपर्युक्त 'रत्नप्रभा' में भी रावण के मत को 'चिरन्तन-वैशेषिक-दृष्टि' का महत्त्व दिया गया है जो रावण-भाष्य की प्राचीनता का ही परिपोषक है।

(घ) कटन्दी

'नय-चक्र'[४] की 'न्यायागमानुसारिणी' वृत्ति में एक 'कटन्दी' नाम की टीका का उल्लेख है। मुरारि मिश्र के 'अनर्घराघव'[५] नाटक में भी रावण की उक्ति है—"वैशेषिक-कटन्दी-पण्डितः···"। इसकी व्याख्या में रुचिपति उपाध्याय ने इस कटन्दी को रावण की अपनी ही कृति मानी है। अतः कुछ विद्वान्[६] का कथन है कि 'रावण-भाष्य' ही 'कटन्दी' है। परन्तु रावण का 'भाष्य' था और 'कटन्दी' टीका थी जैसा कि 'नय-चक्र' की वृत्ति की 'कटन्द्यां[७] टीकायाम्' उक्ति से स्पष्ट है। यद्यपि भाष्य भी टीका ही है तथापि भाष्य को 'टीका' कहने की तथा नाम-विशेष से उपात्त करने की प्रवृत्ति साम्प्रदायिक नहीं है। अतः 'कटन्दी' तथा 'रावण-भाष्य' की एकता सन्दिग्ध है। दूसरी बात यह है कि 'अनर्घ-राघव' के 'कटन्दी-पण्डितः' का स्वारस्य उसके रावणान्य-कर्तृकत्व मानने में ही प्रतीत होता है, क्योंकि स्वकृत ग्रन्थ के पाण्डित्य का प्रख्यापन कुछ अर्थ नहीं-सा रखता है।

---

१. ब्र० सू० २।२।११ के शा० भा० पर रत्नप्रभा।

२. किर० पृ० ५ (काशी)

३. Bodas—Introduction to the तर्क-संग्रह—P. 33.

४. न० च० वृ० पृ० १४९, १५० आदि।

५. अ० रा० पृ० १९१ (का. मा. सं.)

६. कुप्पूस्वामी—Journal of Oriental Research, Madras. Vol. III PP. I—5.

७. न० च० वृ० पृ० १४७।

(ङ) आत्रेय-भाष्य

'स्याद्वाद-रत्नाकर' में आत्रेय-भाष्य के बहुत से वाक्य उद्धृत किए गए हैं जिनके आधार पर वै. सू. के आत्रेय-कर्तृक भाष्य का निर्णय किया जाता है। डा. वी. राघवन्[1] तथा गुरुवर प्रो. श्री अनंतलाल ठाकुर[2] जी ने 'आत्रेय-भाष्य' के सभी उद्धरणों का सङ्कलन किया है। यहाँ उनका निर्देश अनावश्यक प्रतीत होता है। मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित 'वै. सू. वृत्ति' में भी 'आत्रेय[3]-भाष्य' का सङ्केत मिलता है। परन्तु मूल 'भाष्य' अप्राप्त है।

(च) भाष्य

'प्र० स०' की वृत्ति में[4] एक 'भाष्य' का उल्लेख है। यह पूर्वोक्त 'वाक्य-भाष्य' से भिन्न ही है। इस वृत्ति में एक स्थान पर कहा गया है—'असौत्रमपि भाष्यकृदभिहितमस्ति, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षः प्रत्यक्षम् आत्म-मनः-सन्निकर्षो वा'। इस मत में पूर्वोक्त आत्रेयक-मत तथा रावण-मत का समाहार है। परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि आत्रेयक तथा रावण ने अपनी-अपनी विवेचना के अनुसार भाष्यकार के एक-एक मत का अभ्युपगम किया था या भाष्यकार ने ही उन दोनों के मतों का संग्रह कर लिया था। अतः इसका पूर्ववर्तित्व सन्दिग्ध है। यह भी निर्णय करना कठिन है कि यह 'भाष्य' आत्रेय-भाष्य से भिन्न था या अभिन्न, क्योंकि मि. विद्यापीठ से प्रकाशित 'वृत्ति' में आत्रेय का उल्लेख कहीं भी भाष्यकार के रूप में नहीं किया गया है जब कि कई स्थानों[5] पर भाष्यकार' का भी उल्लेख मिलता है।

(छ) प्रशस्तपाद-भाष्य

कुछ लोग प्रशस्तपाद के 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' को भी वै. सू. का 'भाष्य' मानने के पक्ष में हैं। परन्तु यह धारणा अत्यन्त भ्रान्त है।

---

१. Works and Authors quoted in Shrideva's Syādvādarat-nākara —

Nathuram Premi commemoration Volume. PP. 429–438.

२. Ātreya—the Bhāṣyakāra—Indian Culture, XIII, PP. 185–188.

३. वै० सू० वृ० पृ० ३, १५, ६५।

४. प्र० स० वृ० पृ० १०४, १९५।

५. वै० सू० वृ० पृ० २०, २१, ४०, ५३।

यद्यपि 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' का 'भाष्य' शब्द से[1] अभिधान साम्प्रदायिक है तथाऽपि इसे वै० सू० का 'भाष्य' (पारिभाषिक) नहीं माना जा सकता है। प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में 'भाष्य' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है :—

(क) "सूत्रम्बुद्धिस्थीकृत्य[2] तत्पाठ-नियमम् विनापि तद्व्याख्यानम् भाष्यम्;"

(ख) "सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्व-पदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्य-विदो विदुः" ॥

(पराशरोपपुराण)

प्रथम अर्थ के अनुसार भाष्य शब्द व्याख्या-मात्र के लिए प्रयुक्त हो सकता है परन्तु द्वितीय अर्थ के अनुसार यह शब्द पारिभाषिक है।

उपर्युक्त दोनों ही अर्थों की दृष्टि से आचार्यों ने 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' को 'भाष्य' तथा 'संग्रह' कहा है। व्योमशिवाचार्य ने इसे बार-बार 'संग्रह'[3] कहकर भी कभी-कभी 'भाष्य'[4] शब्द से भी उपात्त किया है। श्रीधराचार्य की भी यही पद्धति है। उन्होंने अपनी इस उक्ति—"इदं हि तस्य नामेति तच्छब्द[5]-संकीर्त्तनं कृतम् प्रशस्त-देवेन, न तु तदुपनिबन्ध-ख्यापनाय युक्तिरभिहिता, तदुपनिबन्ध वैशिष्ट्यस्य मन्वादिवाक्यवत् महाजन-परिग्रहादेव उपपत्तेः"—के द्वारा इसे स्वतन्त्र निबन्ध कहकर भी यत्र-तत्र[6] 'भाष्य' शब्द का भी प्रयोग इसके लिए कर डाला है।

परन्तु 'भाष्यस्य[7] चाति—विस्तृतत्वात्' कहने वाले उदयनाचार्य इस 'पदार्थ धर्म-संग्रह' को भाष्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में 'भाष्य' शब्द का पारिभाषिकत्व ही उचित है। सभी व्याख्या-उपव्याख्याओं के लिए 'भाष्य' शब्द का प्रयोग 'भाष्य' की गरिमा का अपलाप है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि 'भाष्य' के मर्यादित अर्थ के अनुसार 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' को 'भाष्य' कहना अनुचित है।

---

१. व्योम० पृ० २ (च); न्या. क. पृ. ६९६; सेतु–पृ. २, ११८; सूक्ति–पृ० १
२. न्या० नि० प्र० (वै. द. पृ. २ पर डा. गङ्गानाथ झा द्वारा उद्धृत)।
३. व्योम० पृ० ३३।
४. वही पृ० २० (च)।
५. न्या० क० पृ० ४।
६. वही पृ० ६९६।
७. किर० पृ० ५ (काशी)।

यद्यपि म० म० पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री ने 'न्याय-कन्दली' तथा 'किरणवाली' की भूमिकाओं में एवं म० म० कालीपद तर्काचार्य ने अपनी प० ध० सं० भूमिका में 'प० ध० सं०' को पारिभाषिक-भाष्य के लक्षण से समन्वित करने का प्रयास किया है तथाऽपि वह दुराग्रहमात्र है, क्योंकि वैसी दृष्टि अपनाने पर तो सभी साम्प्रदायिक ग्रन्थ 'भाष्य' हो सकते हैं, फिर इसमें लक्षण-समन्वय का प्रयास निरर्थक है।

'प० ध० सं०' को पारिभाषिक मानने में एक यह भी अनुपपत्ति दीखती है कि अभी जितने भी भाष्य उपलब्ध हैं उनमें किसी का संज्ञाविशेष नहीं है अपितु तत्तत् शास्त्र या तत्तत् भाष्यकार के नाम से ही उनका अभिधान प्रसिद्ध है, जैसे—'व्याकरण-महाभाष्य', 'न्याय-भाष्य', 'योगभाष्य', 'शाबर-भाष्य', 'शाङ्कर-भाष्य' आदि। परन्तु प्रशस्त पाद का यह ग्रन्थ 'प० ध० सं०' से अतिरिक्त 'पदार्थ-संग्रह',[1] 'पदार्थ-प्रवेश',[2] तथा 'पदार्थ-प्रवेशक' आदि शब्दों से ही अभिहित होता है,[3] 'भाष्य' के नाम से नहीं। इससे भी इसे 'भाष्य' मानना अनुचित है। कहीं-कहीं 'भाष्य' का प्रयोग तो गौण-रूप में है। 'प० ध० सं०' के देखने से यह भी स्पष्ट ही हो जाता है कि यह वै० सू० की साधारण टीका भी नहीं है।

वस्तुतः यह 'प० ध० सं०' संग्रह है। 'संग्रह' का लक्षण निम्न-लिखित है—

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्र-भाष्ययोः।
निबन्धो यः समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधाः॥

इस 'प० ध० सं०' के प्रसिद्ध व्याख्याकार व्योमशिव[4] उदयन[5] तथा श्रीधर[6] ने भी इस तथ्य का स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से समर्थन किया है। अधिक कहना अनावश्यक है क्योंकि स्वयम् प्रशस्तपाद ने ही तो इसे 'संग्रह' कहा है—

---

१. व्योम० (प्रकरणान्त में पुष्पिका में)।

२. न्या० क० (प्रकरणान्त में), उप० ७।२।२६, ९।१।६।

३. स० त० प्र०–पृ० ६६१; प्र० क० मा०–पृ० ५३१; न्या० कु० च०–पृ० ३६४; त० सं० प० पृ० १९२।

४. पदार्थ-धर्माणां संग्रह इति निबन्धान्तरैः (रे०) विस्ता (स्त) रोक्तानां संक्षेपेण अभिधानम्—व्योम० पृ० २० (छ) तथा ३३।

५. शास्त्रे नानास्थानेषु वितताः एकत्र सङ्कलय्य कथ्यन्ते इति संग्रहः—किर० पृ० ५ (काशी)।

६. अन्यत्र ग्रन्थे विस्तरेण इतस्ततः अभिहितानाम् इह एकत्र तावतामेव पदार्थानां ग्रन्थे संक्षेपेणाभिधानम्–न्या० क०—पृ० ६।

"पदार्थ-धर्म-संग्रहः[1] प्रवक्ष्यते महोदयः ।"

शङ्करमिश्र के[2] अनुसार 'प० ध० सं०' एक 'प्रकरण' है। 'प्रकरण' की परिभाषा निम्नलिखित है :—

शास्त्रैक-देश-सम्बद्धं शास्त्र-कार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थ-भेदं विपश्चितः ॥

परन्तु 'प० ध० सं०' के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'प्रकरण' नहीं है। अतएव उदयनाचार्य ने भी कहा है—"प्रकरणादीनां[3] चैकदेशत्वात् ।"

इससे अतिरिक्त प्रशस्तपाद-कृत अन्य वै. सू. व्याख्या का कोई सङ्केत नहीं मिलता है। पहले एक टीका का सङ्केत किया गया है परन्तु वह तो 'वाक्य-भाष्य-टीका' है वै० सू० की टीका नहीं।

फिर भी, मि० विद्यापीठ से प्रकाशित वृत्ति में सम्प्राप्त—"आत्रेय-प्रशस्तपादादयस्तु पृथिव्यामिति सूत्रम् कार्य-पृथिवी-रूपादीनां कारण-गुण-पूर्वकत्व-प्रतिपादकम्, वह्नि-संयोगात्पाकजाश्च इति सूत्रं तु परमाणु-पृथिवी-रूपादीनां पाकजत्व-प्रतिपादकमिति व्याचक्षते"—से प्रशस्तपाद-कृत वैशेषिक-सूत्र की किसी टीका के विषय में थोड़ा सन्देह अवश्य ही होता है।

(ज) वृत्ति

चन्द्रानन्द ने[4] अपनी 'वै० सू० वृत्ति' में, जिनेन्द्र-बुद्धि ने[5] अपनी 'विशालामतवती' में तथा शङ्करमिश्र ने अपने 'उपस्कार' में[6] एक 'वृत्ति' का उल्लेख किया है। चन्द्रानन्द-वृत्ति में तथा उपस्कार में कुछ उद्धरण भी मिलते हैं, परन्तु मूल रूप में 'वृत्ति' अभी उपलब्ध नहीं है। यह कहना कठिन है कि तीनों लेखकों द्वारा उल्लिखित 'वृत्ति' एक ही है। परन्तु यह भी निश्चित है कि शङ्कर मिश्र की दृष्टि में उस 'वृत्ति' का बहुत उपयोग नहीं था।

(झ) भारद्वाज-वृत्ति

म० म० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री ने 'न्या० क०' की भूमिका में

---

१. प० ध० सं०—मङ्गल-श्लोक ।

२. उप० ७।२।२६, ९।२।६ ॥

३. किर०—पृ० ५ (काशी)।

४. च० वृ० पृ० ६९, ७० ।

५. विशा० पृ० १७३ ।

६. उप० १।१।२; १।२।३; १।२।६; ३।१।१७; ४।१।७; ६।१।५; ६।१।१२; ७।१।३; ९।२।८; १०।१।३ ।

एक 'भारद्वाज-वृत्ति' का उल्लेख किया है। डा० [1]राधाकृष्णन्, प्रो०[2] दासगुप्त आदि आधुनिक विद्वानों के ग्रन्थों में भी प्रायः उसी के आधार पर इसका उल्लेख किया गया है। शास्त्रीजी ने यह भी लिखा है कि किसी सन्यासी के पास मिथिलाक्षर में लिखित एक छिन्न-भिन्न हस्त-लिखित 'भारद्वाज-वृत्ति' उन्हें देखने को भी मिली थी, परन्तु बाद में वह 'वृत्ति' उन्हें मिल न सकी। यह निर्णय करना कठिन है कि यह 'वृत्ति' और चन्द्रानन्द आदि के द्वारा संकेतित वृत्ति एक रही या भिन्न-भिन्न। बहुत सम्भव है कि अपने समय में प्रचलित अपव्याख्यानों से उद्विग्न होकर न्याय-वार्त्तिककार भारद्वाज उद्योतकराचार्य ने ही इस 'वृत्ति' की रचना की हो। वै० द० के प्रति उनकी निष्ठा में उनके समान-तन्त्र क प्रसिद्ध आचार्य होने के साथ-साथ यह भी प्रबल प्रमाण है कि उन्होंने 'न्याय-वार्त्तिक' में भी वै० द० के कई सूत्रों की प्रामाणिक व्याख्या की है, जिसका संकलन गुरुवर[3] ठाकुर जी ने अपने एक विशिष्ट निबन्ध में किया है। परन्तु यह 'वृत्ति' यदि उद्योतकर की हो तब तो पूर्वोक्त 'वृत्ति' या कम से कम शंकर मिश्र के द्वारा उल्लिखित 'वृत्ति', जिसे उन्होंने अत्यन्त साधारण माना है, इससे अभिन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि उद्योतकर जैसे महादार्शनिक की 'वृत्ति' का गौरव साधारण नहीं हो सकता है।

(ञ) चन्द्रानन्द-वृत्ति

१९६१ ई० में बड़ौदा से वै० सू० की एक चन्द्रानन्द-कृत 'वृत्ति' का प्रकाशन हुआ है। यह वृत्ति संक्षिप्त होने पर भी 'वैशेषिक-दर्शन' के मर्म को समझने के लिए बहुत ही उपयोगी है। सम्पादक के अनुसार चन्द्रानन्द का समय ७०० ई० के आस-पास है।

(ट) कणाद-सूत्र-निबन्ध

भट्ट-वादीन्द्र की वै० सू० पर एक 'कणाद-सूत्र-निबन्ध'[4] नाम की टीका है। इसका संकेत गुरुवर अनन्तलाल ठाकुर जी ने बड़ौदा से प्रकाशित चन्द्रानन्द-वृत्त्यनुगत 'वैशेषिकदर्शन' के उपोद्घात (Introduction) में भी किया है। भट्टवादीन्द्र का समय १३ शतक का पूर्वार्ध माना जाता है।

---

१. Indian Phil. P. 180.

२. H. I. Phil. P. 306.

३. Udyotakara as a Vaiśeṣika—Proceedings and Transactions, AIOC. Bombay—1949, P. 327 ff.

४. Introduction to The Mahāvidyā–Viḍambana, P. XVI.

(ठ) मिथिला-विद्यापीठ-वृत्ति या व्याख्या

मिथिला-विद्यापीठ, दरभङ्गा से १९५७ ई० में एक व्याख्या का प्रकाशन हुआ है, परन्तु इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। यह व्याख्या नवम अध्याय के प्रथम आह्निक तक ही उपलब्ध है। वै० सू० के तात्पर्य को समझने के लिए यह व्याख्या अत्यन्त उपादेय है। मेरी दृष्टि में 'चन्द्रानन्द-वृत्ति' की अपेक्षा यह उत्कृष्टतर है। इसका रचना-काल १३०० ई० के आस-पास माना गया है।

(ड) उपस्कार

१५०० ई० के प्रसिद्ध मैथिल दार्शनिक शंकरमिश्र के द्वारा रचित 'वैशेषिक-सूत्र-उपस्कार' आज-कल सबसे प्रचलित व्याख्या है। यह नव्य-न्याय की प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। इसके ऊपर भी पञ्चानन तर्करत्न ने 'परिष्कार' नाम की टीका लिखी है जो कलकत्ते से प्रकाशित हुई है।

उपर्युक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त कुछ आधुनिक व्याख्याएँ भी हैं— चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार का 'भाष्य', जयनारायण तर्कपञ्चानन की 'विवृति' रघुदेव का 'व्याख्यान', हरिप्रसाद शास्त्री को 'वैदिक-वृत्ति' तथा अन्यान्य हिन्दी व्याख्यान आदि। इनमें चन्द्रकान्त का 'भाष्य' तथा जयनारायण की 'विवृति' अधिक उपादेय हैं।

द्वितीय अध्याय

पहले यह बतलाया जा चुका है कि 'वैशेषिक-दर्शन' के अनुसार, निःश्रेयस की सम्प्राप्ति पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से होती है। अब साधर्म्य-वैधर्म्य के द्वारा तत्त्व-ज्ञान के विषय जो पदार्थ हैं उनके स्वरूप का यथा-सम्प्रदाय निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

'वैशेषिक-दर्शन' के अनुसार पदार्थ के दो भेद हैं—भाव तथा अभाव। भाव-पदार्थ छः प्रकार के होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। इनसे अतिरिक्त भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय में भिन्न-भिन्न शक्ति-सादृश्य आदि पदार्थ भी माने गए हैं। परन्तु अप्रमाणिक होने के कारण उनका अभ्युपगम वै० द० में नहीं किया गया है। उन पदार्थों के अप्रामाणिकत्व की व्याख्या के लिए 'न्याय-कुसुमाञ्जलि', 'किरणावली', 'न्याय-लीलावती' तथा 'सेतु'[1] आदि ग्रन्थों तथा व्याख्या-ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

द्रव्य (Substance)

द्रव्य का लक्षण सूत्र-कार ने निम्न-लिखित सूत्र के द्वारा प्रस्तुत किया है :—

"क्रिया-गुणवत् समवायि-कारणम्[2] द्रव्यम्"।

इस सूत्र में साधारणतः तीन लक्षण हैं :—'क्रियावत् द्रव्यम्', 'गुणवत् द्रव्यम्' तथा 'समवायि-कारणं द्रव्यम्'। यद्यपि सभी लक्षण प्रथम-क्षण-वृत्ती निर्गुण, निष्क्रिय अतएव समवायिकारणत्व-रहित घटादि द्रव्य में अव्याप्त हो जाते हैं एवम् प्रथम लक्षण आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा, जो स्वभावतः निष्क्रिय द्रव्य हैं, मे अव्याप्त होता है तथाऽपि तीनों लक्षण के निम्न-लिखित व्याख्यान से सब दोष दूर हो जाते हैं :—

(क) क्रियावत् द्रव्यम् :—यहाँ वत् प्रत्यय का अर्थ है समवाय सम्बन्ध से आश्रय। पूरे लक्षण का परिष्कृत अर्थ इस प्रकार है—क्रिया-समवायि-कारण-वृत्ति-पदार्थ-विभाजकोपाधिमत् द्रव्यम्। क्रिया का समवायि-कारण द्रव्य ही होता है अन्य पदार्थ नहीं। एवञ्च क्रिया-समवायि-कारण = द्रव्य, वृत्ती = वर्तमान; पदार्थ-विभाजक-उपाधि = द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व, समवायत्व, विशेषत्व तथा अभावत्व (इनमें प्रथम तीन धर्म तो जाति हैं और

---

1. सेतु पृ० १०४–१०७।
2. वै० सू० १।१।१५।

अतिरिक्त धर्म उपाधिमात्र हैं; परन्तु उपाधि-शब्द धर्म-सामान्य का वाचक है अतः जाति के लिए भी साधारणतः उपाधि-शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है) भेद से सात पदार्थ-विभाजक उपाधियाँ हैं, परन्तु यहाँ केवल उसी पदार्थ-विभाजक उपाधि को लेनी है जो क्रिया के समवायि-कारण में रहती हो। अब यदि द्रव्य ही क्रिया का समवायि-कारण होता है तब तो क्रिया-समवायि-कारण-वृत्ति-पदार्थ-विभाजक-उपाधि के स्थान में एकमात्र द्रव्यत्व आयेगा, उससे युक्त जो पदार्थ होगा वह द्रव्य कहलायेगा। अब आकाश आदि निष्क्रिय द्रव्यों में तथा उत्पत्ति-कालीन द्रव्यों में क्रिया के नहीं रहने पर भी द्रव्यत्व जाति, जो नित्य पदार्थ है तथा उत्पन्न पदार्थों के साथ जिसका सम्बन्ध उत्पत्ति क्षण में ही हो जाता है (जातं च सम्बद्धं चेत्येकः कालः), की सत्ता रहने से 'क्रियावत् द्रव्यम्' में कोई त्रुटि नहीं रह जाती है। इसी प्रकार से 'गुणवत् द्रव्यम्' तथा 'समवायि-कारणं द्रव्यम्' का भी क्रमशः "गुण-समवायि-कारण-वृत्ति-पदार्थविभाजकोपाधि (= द्रव्यत्व) मत् द्रव्यम्" एवम् "समवायि-कारणत्व-वद्वृत्ति-पदार्थ-विभाजकोपाधि (=द्रव्यत्व) मत् द्रव्यम्" अर्थ करके सारी अनुपपत्तियों को दूर करना चाहिए।

(क) यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि तीनों लक्षणों का तात्पर्य 'द्रव्यत्ववत् द्रव्यम्' की अभिव्यक्ति में ही है तो सूत्रकार को असन्देहार्थ कण्ठतः वैसा ही लक्षण बतलाना चाहिये था न कि "क्रिया-गुणवत्" आदि रूप में। इसके उत्तर में यह कहना चाहिए कि इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार को द्रव्य-लक्षण-मुख से यह भी बतला देना था कि क्रियावत्व, गुणवत्व तथा समवायि-कारणतावत्व—ये तीन धर्म केवल द्रव्य में ही रहते हैं अन्यत्र नहीं। इसीलिए उन्होंने "क्रिया-गुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम् इति द्रव्य-लक्षणम्" कहा है। ये सभी द्रव्य के ही असाधारण धर्म हैं, अतः लक्षण के लक्षण का समन्वय भी इस कथन में हो ही जाता है।

(ख) दूसरा प्रश्न यह है कि मान लिया कि द्रव्यत्व-जाति-युक्त पदार्थ को द्रव्य कहना चाहिए; परन्तु द्रव्यत्व नाम का कोई पदार्थ है या नहीं, इसमें सन्देह है। सन्देह का कारण यह है कि शास्त्रीय तथा लौकिक व्यवहार में द्रव्य शब्द के प्रयोग में सामञ्जस्य नहीं है; शास्त्र-दृष्टि से घृत आदि पदार्थ भी, पार्थिव होने के कारण, द्रव्य हैं, परन्तु लौकिक दृष्टि से तो इन्हें द्रव्य नहीं कहा जाता है, क्योंकि केवल ठोस पदार्थ (Solid) को ही लोकव्यवहार में द्रव्य माना जाता है। अतः द्रव्यत्व जाति के ही असिद्ध होने पर उस जाति से युक्त होने की बात ही व्यर्थ है। इसके उत्तर में यह कहना चाहिये कि द्रव्यत्व जाति में अनुमान भी प्रमाण है।

(अ) जितने कार्य-पदार्थ होते हैं उन सबों के तीन कारण होते हैं समवायि-कारण, असमवायि-कारण तथा निमित्त-कारण (तीन कारण केवल भावपदार्थ के लिए अपेक्षित हैं अभाव के लिए तो केवल निमित्त-कारण)। जैसे घट में घटत्व नाम का धर्म होता है, छात्र में छात्रत्व नाम का धर्म रहता है, उसी प्रकार कारण में भी कारणत्व या कारणता नाम का धर्म रहता है। उस कारणता का अवच्छेदक (नियामक = Determinative factor) भी होता है। यह 'अवच्छेदक' शब्द नव्य-न्याय में बहुधा प्रयुक्त होता है। अतः इसके अर्थ को समझाने के लिए कुछ प्रयास किया जाता है :—

तन्तु पट का उपादान-कारण (Material Cause) है। यह तन्तु वैशेषिकों की दृष्टि में सर्व-प्रथम एक पदार्थ है, उसके बाद एक द्रव्य है, उसके बाद एक पार्थिव-द्रव्य है, उसके बाद तन्तु भी है। पूर्व-पूर्व स्वरूप से उत्तरोत्तर स्वरूप संकुचित-तर है। इस प्रकार एक ही तन्तु के सामान्य तथा विशेष स्वभावों को मिलाकर चार स्वरूप (Status) हो जाते हैं। अब यहाँ विचारणीय विषय यह है कि यह तन्तु पट का उपादान है परन्तु किस स्वरूप (Status) में ? क्या तन्तु एक पदार्थ है इसीलिए पट का उपादान है ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक ही होगा, क्योंकि यदि विध्यात्मक उत्तर दिया जाय तब तो यह सिद्ध होगा कि पट का उपादान एक पदार्थ है; एवञ्च किसी भी पदार्थ से पट का निर्माण हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसी वस्तु-स्थिति नहीं है; अतः निषेधात्मक उत्तर ही सम्भावित है। पुनः दूसरा प्रश्न है :—क्या एक द्रव्य होने के नाते तन्तु पट का उपादान है ? इसका भी उत्तर स्वीकारात्मक नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा मान लेने पर यह मानना होगा कि एक द्रव्य पट का कारण है; फलतः जल, जो एक द्रव्य है, से भी पट की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जो सर्वथा असम्भव है। अब तीसरा प्रश्न यह है :— क्या एक पार्थिव-द्रव्य होने के कारण तन्तु पट का उपादान है ? इस प्रश्न का भी उत्तर निषेधात्मक ही देना होगा; अन्यथा पूर्ववत् यह मानना होगा कि पृथिवी-निर्मित द्रव्य पट का उपादान है फलतः यह भी मानना होगा कि, पुस्तक, जो एक पार्थिव-द्रव्य है, पट का उपादान हो सकती है। परन्तु ऐसा मानना कथमपि सम्भव नहीं है। अतः इस प्रश्न के उत्तर में भी सम्प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। अन्ततः यही मानना होगा कि तन्तु तन्तु होने के नाते पट का उपादान-कारण है। इस 'तन्तु होने के नाते' के स्थान में ही दार्शनिक शब्द आता है—'तन्तुत्व'। इस प्रकार तन्तु के चार स्वभावों में तन्तुत्व ही एक ऐसा स्वभाव (Status) इस प्रसङ्ग में, है जो तन्तु में पट की कारणता का नियमन कर सकता है। अतः "पट का उपादान कारण (=समवायि-कारण) तन्तु है" इस कथन से तन्तु में सिद्ध कारणता का अवच्छेदक तन्तुत्व को ही

माना जा सकता है, न कि पदार्थत्व, द्रव्यत्व और पार्थिवत्व में से किसी भी धर्म को। इसी प्रकार से अवच्छेदक के स्वरूप को अन्यत्र भी (साधारणतः) समझना चाहिए।

अब द्रव्यत्व की सिद्धि में उपन्यस्त प्रक्रिया को समझने में सौविध्य होगा। जितने भी भाव-कार्य होते हैं, चाहे वे द्रव्य हों या गुण या कर्म, सबों की उत्पत्ति में समवायि-कारण, असमवायि-कारण एवं निमित्त-कारण की अपेक्षा होती है। यदि समस्त कार्य के समवायि-कारण की जिज्ञासा हो तो उसका विषय एक-मात्र 'द्रव्य' होगा। कार्य-सामान्य में सभी प्रकार के कार्य आते हैं, अतः किसी द्रव्य-विशेष को कार्य-सामान्य का कारण नहीं माना जा सकता है। एवञ्च यदि कार्य-सामान्य का समवायि-कारण द्रव्य है तो द्रव्य में समवायि-कारणता रहेगी और उस कारणता का अवच्छेदक भी होना ही चाहिए, अन्यथा कारणता के अनियन्त्रित होने पर निश्चय नहीं हो सकता है। यदि द्रव्य में स्पष्टतः वर्तमान पदार्थत्व को ही उस कारणता का अवच्छेदक मान लिया जाय तो पुनः समस्या हो जायेगी कि किसी भी पदार्थ को कार्य-सामान्य का समवायि-कारण होना चाहिए, जो सम्भव नहीं है। अतः मानना होगा कि द्रव्य में पदार्थत्व से भिन्न भी कोई धर्म वर्तमान अवश्य ही है जो द्रव्य में स्थित कारणता का नियन्त्रण या अवच्छेद करता है। वही धर्म द्रव्यत्व है और पृथिव्यादि अनेक द्रव्य में समवेत, एक तथा परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में वर्तमान रहने के कारण नित्य होने से यह जाति भी है। इसको संक्षेप में इस तरह कहा जा सकता है—कार्य-सामान्य की द्रव्य-निष्ठ समवायि-कारणता के अवच्छेदक के रूप में सिद्ध धर्म ही द्रव्यत्व जाति है। एवञ्च द्रव्यत्व जाति के सिद्ध हो जाने पर 'द्रव्यत्ववत् द्रव्यम्' की उपपत्ति निर्बाध हो जाती है।

द्रव्यत्व जाति की सिद्धि में अन्यान्य प्रमाण के लिए किरणावली,[1] मुक्तावली[2] आदि देखना चाहिए।

समवायि-कारण आदि का विचार सृष्टि-प्रक्रिया के प्रसङ्ग में किया जायगा।

द्रव्य-पदार्थ वैशेषिक-दर्शन में नौ प्रकार का माना गया है—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश (Ether), काल (Time), दिक् (Space), आत्मा तथा मन। अतएव सूत्रकार का कथन है :—

"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो[3] दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।"

१. किर० पृ० १५८–१६० (एशियाटिक सोसाइटी)

२. मुक्ता०, का० ३।

३. वै० सू० १।१।५।

द्रव्यों के निर्देश में सूत्र-कार के क्रम का तात्पर्य आचार्य जिन-वर्धन सूरि ने "सप्तपदार्थी" की टीका में बतलाया है :—

"तत्र सर्व-प्रमाण-ज्येष्ठ-प्रत्यक्ष-ग्रहण-योग्यानाम् पूर्वम्पृथिव्यप्तेजसामुपन्यासः । तत्राप्येकादश-गुणात् तेजसः, चतुर्दश-गुणानाम्पृथिव्यपाम्, तत्रापि सर्वाधारभूतत्वात् पृथिव्याः । तदनु बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य-गुणाधारत्वात् पृथिव्यप्तेजोभिस्तुल्यत्व-ख्यापनार्थम् वायोः । तदनु पञ्चानामपि महा-भूतानां सङ्कलनार्थमाकाशस्य । ततश्च मूर्त्त-मात्र-वृत्त्योः परत्वाऽपरत्वयोरुत्पादकत्वात् काल-दिशोः । अथवा शीतातप-मेघ-वृष्टि-वनस्पति-पुष्प-फलादीनां नाना-विध-मूर्त्त-वस्तूनां कारणत्वात् काल-दिशोः । विभूनां सर्वेषामेकत्र करणार्थमात्मनः । तदनु अवशिष्टस्य मनसः ।[1]

विभाग-सूत्र में पृथिवी, आप्, तेजस् आदि शब्दों में द्वन्द्व-समास नहीं करने का प्रयोजन शङ्कर मिश्र के अनुसार निम्नलिखित है :— "असमास-करणन्तु सर्वेषाम्प्राधान्य-प्रदर्शनाय ।" इसका अभिप्राय जयनारायण की उक्ति में अधिक स्पष्ट होता है :—"असमास-करणन्तु सर्वेषामितर-नैरपेक्ष्येण कार्य-विशेषोत्पादकता-प्रदर्शनार्थम्, स्वसमवेतकार्यजनने सर्वेषां तुल्यताज्ञापनार्थम्वा ।"

'इति' शब्द का अर्थ, वै० द० वृ० के[2] अनुसार, स्वरूप-प्रतिपादन मात्र ही प्रतीत होता है । इस वृत्ति के मत में द्रव्य-विभाग सूत्र का उद्देश्य है विशेष रूप में द्रव्यों का ज्ञान । "इदन्तु सूत्रं द्रव्य-विभाग-परम् । द्रव्यमित्युक्ते पृथिव्यादि-विशेषानवगमात् । विशेषावगमो हि विभाग-फलम् ।"

वस्तुतः विशेषावगम तो आगे किए गये पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के लक्षण से ही सुकर है अतः विभागसूत्र का प्रयोजन न्यूनाधिक संख्या-व्यवच्छेद ही है ऐसा उदयनाचार्य आदि का मत है :—"…विभागस्य न्यूनाधिकसंख्या-व्यवच्छेद-परत्वादेव[3]…"। एवञ्च सूत्रोक्त 'इति' शब्द को अवधारणार्थक मानना चाहिए । विशेष लक्षण से विशेषावगम की तरह न्यूनाधिक-संख्या-व्यवच्छेद भी सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि लक्षण तो व्यवहार के निर्वाह के लिए सजातीय तथा विजातीय तत्त्वों से लक्ष्य की व्यावृत्ति को ही बतला सकता है, इससे अधिक नहीं—"लक्षणस्य व्यवहारमात्र-सारतया समानासमानजातीय-

---

१. स० प० जिन० पृ० ७

२. वै० द० वृ० १।१।४।

३. किर० पृ० १४ (काशी)

व्यवच्छेद-मात्र-साधनत्वेन चान्याऽभाव-प्रतिपादनाऽसामर्थ्यात्, तदर्थमवधारणं कृतम्[1]।"

नौ से अधिक द्रव्य क्यों नहीं माने जाते हैं—इस प्रश्न का उत्तर "पदार्थ-धर्म-संग्रह" में इस प्रकार दिया गया है :—"तद्व्यतिरेकेणान्यस्य संज्ञाऽनभिधानात्[2]।" प्रशस्तपाद के व्याख्याकारों ने इस वाक्य का विवरण निम्नलिखित प्रकार से किया है :—

"सर्वज्ञेन मुनिना पृथिव्यादि-संज्ञा-व्यतिरेकेण संज्ञान्तरानभिधानात्, द्रव्यान्तरासत्त्वमिति। यदिह भावरूपं तत्सर्वं मयोपसंख्यातव्यम् इति हि प्रतिज्ञा मुनेः[3]।"

"महर्षिणा प्रतिज्ञातं हि तेन—यद्भावरूपं तत्सर्वमभिधास्यामः[4]"।

वस्तुतः अधिक द्रव्यों का अस्वीकार इसलिए सूत्रकाराभिमत है कि सूत्रकार ने स्वयम्, सुवर्ण, अन्धकार तथा शब्द आदि के द्रव्यत्व का खण्डन किया है और पृथिवी आदि नौ द्रव्यों का अभ्युपगम भी किया है। अतः नौ द्रव्यों के नाम-निर्देश एवं दर्शनान्तर में द्रव्य के रूप में प्रसिद्ध सुवर्णादि के द्रव्यत्व-प्रतिषेध से अधिक द्रव्य की अस्वीकृति स्पष्ट हो जाती है।

अब सभी द्रव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

द्रव्य-प्रकार-विवरण

(१) पृथिवी

सूत्र-कार ने पृथिवी का लक्षण इस प्रकार किया है :—

रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवती पृथिवी[5]।

इससे यह सिद्ध है कि पृथिवी वही द्रव्य है जिसमें रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुण रहते हैं। वस्तुतः गन्धवती पृथिवी (अर्थात् गन्ध-समवायि-कारणम्) इतना ही लक्षण पर्याप्त है, शेषांश केवल स्पष्टार्थ है। अथवा "रूपं च रसश्च गन्धश्च, स्पर्शश्च इति रूप-रस-गन्धस्पर्शाः" इस प्रकार से द्वन्द्व-समास करने के बाद 'वति' प्रत्यय होने से उसका सम्बन्ध प्रत्येक से जोड़कर 'रूपवती पृथिवी', 'रसवती पृथिवी', 'गन्धवती पृथिवी', 'स्पर्शवती पृथिवी'—इस प्रकार से चार लक्षण सूत्रकार के अभिप्रेत माने जा सकते हैं। अतिव्याप्ति-

१. न्या० क० पृ० २१
२. प० ध० सं० पृ० २०
३. व्योम० पृ० ४७
४. किर० पृ० २२६ (काशी)
५. वै० सू० २।१।१।

कारण के लिए 'रूपवती पृथिवी' का परिष्कार "नाना-विध-रूप-वती पृथिवी" के रूप में करना चाहिए। जल तथा तेजस् में क्रमशः शुक्ल एवम् शुक्ल-भास्वर रूप के ही होने से कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। 'रस-वती पृथिवी' का भी तात्पर्य है—"षड्विध-रसवती (मधुराम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्तवती) पृथिवी"। जल में केवल मधुर रस ही होता है अतः जल में इस लक्षण की अति-व्याप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार से 'स्पर्शवती पृथिवी' का भी "पाकजानुष्णाशीत-स्पर्शवती पृथिवी" के रूप में परिष्कार करना चाहिए। पृथिवी में उपर्युक्त रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से अतिरिक्त संख्या,[1] परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व,[2] द्रवत्व,[3] संस्कार[4] (वेग तथा स्थिति स्थापक) गुण भी सूत्रकार के द्वारा यथावसर निर्दिष्ट हुए हैं।

पृथिवी में सात प्रकार के रूप पाये जाते हैं—शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश (Brown), चित्र।

मधुर, आम्ल (Sour), लवण (Saline), कटु (Pungent), कषाय (Astringent) और तिक्त (Bitter)—ये छः प्रकार के रस पाये जाते हैं।

सुरभि (सुगन्धि) तथा असुरभि—ये दो प्रकार की गन्ध पृथिवी में पायी जाती हैं। यहाँ असुरभि शब्द का अर्थ सुरभि का अभाव नहीं है प्रत्युत प्रतिकूल गन्ध है। जो उपेक्षणीय, अर्थात् अनुकूल अथवा प्रतिकूल, नहीं है, उसका भी अन्तर्भाव असुरभि-वर्ग में ही होता है।[5] यह पृथिवी[6] का विशेष गुण है।

---

१. "संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपि-द्रव्य-(पृथिवी, जल, तेजः) समवायाच्चाक्षुषाणि" वै० सू० ४।१।११।

२. संयोगाऽभावे गुरुत्वात् पतनम्—वै० सू० ५।१।७।

३. अग्नि-संयोगाद्द्रवत्वम्······वै० सू० २।१।६।

४. नोदनादाद्यमिषोः कर्म, तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरञ्च वै० सू० ५।१।१७।

५. असुरभिरिति सुरभि-गन्ध-विरुद्धं प्रतिद्रव्यादि-समवेतं प्रतिकूल-सम्वेदनीयं गन्धान्तरम्, न तु तदभावमात्रम्, विधिरूपेण सातिशयतया च सम्वेदनात्। उपेक्षणीयस्तु गन्धः अनुद्भूत-सुरभ्यसुरभि-प्रभेद एवेति पृथङ्नोच्यते। अथवा सोऽप्यसुरभिरेव सुरभिगन्धादन्यः असुरभिरिति व्युत्पादनात्—न्या० क० पृ० ७७।

६. व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः—वै० सू० २।२।२।

पृथिवी का स्पर्श पाकज (= तेजः-संयोगजन्य) और अनुष्णाशीत होता है।

पृथिवी में नैमित्तिक, अर्थात् [1]तेजः संयोग से उत्पन्न, द्रवत्व होता है।

वेग तथा स्थिति-स्थापक—ये दो ही प्रकार के संस्कार पृथिवी में उपलब्ध होते हैं, तृतीय प्रकार, अर्थात् भावना, तो चेतन पदार्थ (= आत्ममात्र) का गुण है।

पृथिवी के अन्य गुणों में द्रव्यान्तरनिष्ठ उन गुणों से कुछ विशेष नहीं है।

पृथिवी के भेद

पृथिवी नित्य तथा अनित्य भेद से दो प्रकार की है। नित्य का अर्थ है जो त्रिकाल सत् तथा कारणहीन हो। पृथिवी का परमाणु भी सर्वदा सत् है और अतएव कारणहीन है अतः[2] नित्य माना जाता है। परमाणु शब्द की व्युत्पत्ति है—परमत्व से युक्त[3] अणु अर्थात् जिससे छोटा नहीं हो। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि परमाणु निरवयव है, क्योंकि अवयवी से अवयव छोटा अवश्य ही होगा; और यदि परमाणु को अवयवी मानकर उसके अवयव की भी कल्पना करें तो परमत्व विशिष्ट नहीं होने के कारण वह अवयवी परमाणु नहीं कहला सकता। अतः परमाणु को निरवयव अतएव नित्य मानना चाहिए। इसी दृष्टि से [4]न्याय-भाष्यकार ने परमाणु शब्द की व्याख्या की है :—"लोष्टस्य खलु प्रविभज्यमानस्य अवयवस्य अल्पतरमल्पतममुत्तरमुत्तरम्भवति। स चायमल्पतरप्रसङ्गो यस्मान्नाल्पतरमस्ति = यः परमोल्पः, तत्र निवर्तते। यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तम्परमाणुम्प्रचक्ष्महे।" इस अवयव-विभाजन की परम्परा को अनन्त नहीं मान सकते हैं, कारण, यदि अवयव के तर-तम-भाव का अन्त नहीं माना जाय तो एक आम्र-फल और हिमालय-पर्वत-श्रेणी में जो परिमाण-गत महान् भेद है उसका उपपादन नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि अवयव-धारा को अनन्त मानने पर आम्र के अन्त्यावयव कितने हैं—इस प्रश्न का भी उत्तर होगा 'अनन्त' और हिमालय के अन्त्याव-यवों की संख्या क्या है—इस प्रश्न का भी उत्तर यही होगा 'अनन्त',

---

१. ......अग्नि-संयोगाद्‌द्रवत्वम्...... वै० सू० २।१।६।

२. सदकारणवन्नित्यम्—वै० सू० ४।१।१।

३. परमत्व-विशिष्टो ह्यणुः परमाणुः, यतः क्षोदीयो नाऽपरम् अस्तीति यावत्। तस्मादपि चेत् क्षोदीयोऽन्यदस्ति, नैष परमत्व-विशिष्टोऽणुरित्यर्थः—न्या० वा० ता० टी० पृ० ६४८। तुलना कीजिए—न्यायकन्दल —पृ० ७९।

४. न्या० भा० ४।२।१६।

क्योंकि जबतक अन्त्य अवयव का स्वरूप निश्चित नहीं हो जाता तबतक एक अवयवी में सम्बद्ध उन अवयवों की निश्चित-गणना नहीं हो सकती है। एवञ्च यदि दोनों पदार्थ अनन्त अवयवों से निर्मित हैं तो फिर किस युक्ति के आधार पर एक को छोटा और दूसरे को बड़ा कहा जायगा। फलतः दोनों पदार्थों को समान-मान मानना पड़ेगा, जो सर्वथा असम्भव तथा अनुचित है। अतः अन्तिम अवयव का एक निश्चित रूप मानकर अवयव-विभाजन-परम्परा का अन्त मानना चाहिए, और वही अन्त्यावयव परमाणु है। यह अन्तिम अवयव अपकृष्ट-महत्परिमाणयुक्त प्रत्यक्ष-गोचर त्रसरेणु ही नहीं हो सकता, क्योंकि चाक्षुष-प्रत्यक्ष के विषय होने के कारण उसके विषय में यह अनुमान—त्रसरेणुः सावयवः चाक्षुष-प्रत्यक्ष-विषयत्वात् घटादिवत्—निर्बाध है जिससे त्रसरेणु अनेकावयव-निर्मित द्रव्य सिद्ध होता है। अतः उसे अन्त्यावयव नहीं माना जा सकता है। त्रसरेणु का अवयवभूत द्व्यणुक भी सावयव ही सिद्ध होता है, क्योंकि महत्परिमाण-सम्पन्न पदार्थ का अवयव सावयव ही होता है जैसे महत्परिमाण-युक्त घटका अवयव—कपाल—सावयव है। एवञ्च द्व्यणुक भी सावयव होकर अन्त्यावयव नहीं हो सकता। अतः द्व्यणुक के अवयव-भूत पदार्थ को, जिसमें अणुपरिमाण का उत्कृष्ट-स्वरूप उपलब्ध होता है, परमाणु शब्द से प्रसिद्ध मानना [1]चाहिए।

अनित्य पृथिवी वह है जिसका निर्माण परमाणु-द्वय-संयोग आदि से होता है। स्थूल या अनित्य पृथिवी को परमाणु-पुञ्ज से संघटित एक स्वतन्त्र अवयवी मानना चाहिये न कि परमाणु-पुञ्ज-मात्र। वैसा मानने पर अप्रत्यक्ष परमाणु के पुञ्ज के भी अप्रत्यक्ष होने से घटादि पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। अतः अवयव-समूह से अतिरिक्त अवयवी अवश्य मान्य है।

यह अनित्य पृथिवी तीन प्रकार की है—[2]शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। भूलोकस्थ शरीर पार्थिव-शरीर हैं। इन शरीरों को पाञ्चभौतिक नहीं माना जा सकता। यदि प्रत्यक्ष-गोचर पृथिवी, जल तथा तेजस् एवम्, प्रत्यक्षागोचर वायु और आकाश का संयोग शरीर-संघटना मे माना जाय तो शरीर का प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष द्रव्यों का संयोग

---

१. द्रष्टव्य—सेतु पृ० २१८, व्योमवती—पृ० २२४; मुक्तावली—पृथिवीप्रकरण, न्या० क० ७९। उपस्कार—वै० सू० ४।१।२ इत्यादि।

२. तत्पुनः पृथिव्यादि-कार्य-द्रव्यं त्रिविधम्, शरीरेन्द्रिय-विषय-संज्ञकम्। वै० सू० ४।२।१।

[1]प्रत्यक्ष-गोचर नहीं हो सकता है। जल तथा तेज के भी गुण (प्रवाह तथा शुक्ल-भास्वर रूप आदि) के शरीर में अभाव होने से प्रत्यक्ष-गोचर पृथिवी, जल तथा तेजस्, द्रव्यों के संयोग से निष्पन्न भी नहीं माना[2] जा सकता। तात्पर्य यह है कि पृथिवी-लोकस्थ शरीर के निर्माण में प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्ष-संयोग अथवा प्रत्यक्षत्रय-संयोग असमवायि-कारण नहीं है केवल पृथिव्यवयव-समूह-संयोग इस शरीर का असमवायि-कारण होता है। पार्थिव-शरीर से भी जलादि-परमाणु का संयोग तो[3] अनिर्बाध है। यही कारण है कि पार्थिव शरीर में भी जल आदि द्रव्यों के गुणों की यथावसर उपलब्धि होती है। स्वरूपतः शरीर पार्थिव ही है, क्योंकि पृथिवी का विशेष गुण, गन्ध, उसमें अव्यभिचरित रूप से [4]उपलब्ध होता है।

यह पार्थिव शरीर दो प्रकार[5] का है—योनिज तथा अयोनिज। योनिज शरीर (= मनुष्यादि शरीर) तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। अयोनिज शरीर को सत्ता में प्रमाण हैं :—"दुर्वाससः प्रभृतयः मानसाः" इत्यादि वैदिक [6]उपाख्यान, सर्गादि-जात ब्रह्मा आदि व्यक्ति की आगमिक संज्ञा,[7] "मुखतो ब्राह्मणमसृजत पद्भ्यां शूद्रोऽजायत" आदि वेदमन्त्र,[8] इत्यादि। इस अयोनिज शरीर के भी उपादान हैं परमाणु और धर्म के कारण उन परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति होती है।[9]

पार्थिव इन्द्रिय है—घ्राण,[10] क्योंकि पृथिवी के विशेषगुण—गन्ध—का ही वह अभिव्यञ्जक होता है।

पार्थिव-विषय हैं—द्व्यणुक से लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त पदार्थ। विषिणोति

---

१. प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षाणां संयोगस्याऽप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते। वै० सू० ४।२।२।

२. गुणान्तराऽप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम्। वै० सू० ४।२।३।

३. अणु-संयोगस्त्वप्रतिषिद्धः। वै० सू० ४।२।४।

४. पार्थिवं गुणाऽन्तरोपलब्धेः। न्या० सू० ३।१।२७।

५. तत्र शरीरं द्विविधम्—योनिजमयोनिजं च। वै० सू० ४।२।५।

६. समाख्या-भावाच्च। वै० सू० ४।२।८।

७. संज्ञाया आदित्वात्। वै० सू० ४।२।९।

८. वेद-लिङ्गाच्च। वै० सू० ४।२।११।

९. अनियतदिग्देश-पूर्वकत्वात्, धर्म-विशेषाच्च। वै० सू० ४।२।६-७।

१०. घ्राण-रसन-चक्षुः-त्वक्-श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि। न्या० सू० १।१।१२–१३।

बध्नाति इन्द्रियादि इति विषयः। यद्यपि शरीर इन्द्रिय आदि भी यथार्थतः विषय ही हैं तथापि शिष्य-बुद्धि-वैशद्य के लिए शरीर तथा इन्द्रिय का विषय से पृथक् उपन्यास किया गया है।

(२) जल

जल द्रव्य का वर्णन करते हुए महर्षि कणाद ने कहा है—

रूप-रस-स्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥[1]

यहाँ पृथिवी-लक्षण की व्याख्या के समान ही "शुक्ल-रूपवत्यः आपः" "मधुर-मात्र-रसवत्य आपः"; "शीत-स्पर्शवत्य आपः"; "सांसिद्धिक-द्रवत्ववत्य आपः" एवम् "स्नेहवत्य आपः" ऐसा परिष्कार करना चाहिए। वति-प्रत्यय का अर्थ समवायि-कारण है। पृथिव्यादि-संयोग से यद्यपि यत्र-तत्र जल में श्यामादि रूप, मधुरेतर-रस, अनुष्णाशीत-स्पर्श अथवा तेजः-संयोग से उष्णस्पर्श आदि की प्रतीति होती है तथापि वे जल के लिए स्वाभाविक नहीं हैं अपितु औपाधिक[2] हैं। अतः उपर्युक्त लक्षणों में अनुपपत्ति नहीं होती है। अतएव प्रशस्तदेवाचार्य का कथन है :—"शुक्ल-मधुर-शीता एव रूप-रस-[3]स्पर्शाः"। उपर्युक्त रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व एवम् स्नेह से अतिरिक्त जल के गुण निम्नलिखित हैं—संख्या[4], परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व[5], वेगाख्य संस्कार[6] तथा द्रवत्व[7]।

जल के भेद

पृथिवी के समान जल के भी परमाणु तथा स्थूलरूप होते हैं। परमाणु-रूप जल निरवयव होने के कारण पृथिवी-परमाणु के समान नित्य तथा स्थूल जल स्थूल-पृथिवी की तरह अनित्य होता है।

स्थूल जल के भी तीन प्रकार[8] होते हैं—शरीर, इन्द्रिय तथा विषय।

जलीय-शरीर केवल अयोनिज ही होता है योनिज[9] नहीं। जलीय शरीर

---

१. वै० सू० २।१।२।

२. न्या० क० पृ० ९२; सिद्धान्त-मुक्तावली—जल-प्रकरण, इत्यादि।

३. प० धा० सं० पृ० ९२।

४. वै० सू० ४।१।११।

५. वै० सू० ५।१।७।

६. वै० सू० ५।१।१७।

७. वै० सू० २।१।७।

८. वै० सू० ४।२।१।

९. आप्यं तैजसं वायवीयञ्च अयोनिजमेव, शुक्र-शोणितयोर्नियमेन पार्थिवत्वात्, पार्थिवेन च पाथसीयानारम्भात्। उपस्कार ४।२।११।

वरुण लोक में प्रसिद्ध है—ऐसा श्रुतिप्रमाण से [1]समझना चाहिए। यद्यपि शुद्ध जल-परमाणुओं से निर्मित शरीर बुद्बुद-प्राय होगा, अतएव उससे भोग की सम्भावना नहीं है तथापि पार्थिव परमाणुओं के संयोग के जलीय शरीर में भी सम्भव होने से पार्थिव-परमाणु-रूप निमित्त-कारण के प्रभाव से ही जलीय शरीर में बुद्बुदवत्व का प्रतिरोध होता है। अतः जलीय शरीर के द्वारा उपभोग की अनुपपत्ति[2] नहीं होती है।

(३) तेज

तेज की परिभाषा सूत्र-कार ने निम्नलिखित सूत्र में प्रस्तुत की है :—

तेजो रूप-स्पर्शवत्[3]।

जिस द्रव्य में रूप (अर्थात् शुक्ल-भास्वर रूप) और स्पर्श (= उष्ण-स्पर्श) हो वही तेज है। यद्यपि पृथिवी तथा जल में भी रूप की उपलब्धि होती है तथापि पृथिवी में शुक्लादि सप्त-विध रूप और जल में शुक्ल-रूप-मात्र की प्रतीति होती है जब कि तेज में शुक्ल-भास्वर रूप की। कहीं-कहीं तेज में भी रूपान्तर की प्रतीति होती है, परन्तु वह उसका स्वाभाविक रूप नहीं है अपितु [4]औपाधिक। इसी तरह स्पर्श के विषय में भी समझना चाहिए कि स्वभावतः उष्ण-स्पर्श-युक्त तेज में कभी-कभी अनुष्णाशीत स्पर्श भी औपाधिक रूप में प्रतीत होता है। रूप तथा स्पर्श के अतिरिक्त तेज के गुण हैं—संख्या[5], परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व[6] तथा संस्कार[7] (= वेग)। कुछ लोग तेज में गुरुत्व[8] भी मानते हैं।

तेज के प्रकार

पृथिवी की तरह तेज के भी परमाणु तथा स्थूल रूप से दो भेद होते हैं। नित्यता-अनित्यता का सिद्धान्त भी पृथिवी के समान ही समझना चाहिए।

स्थूल तेज के तीन भेद किये गए हैं—शरीर[9], इन्द्रिय तथा विषय।

---

१. न्या० क० पृ० ९४।

२. प० ध० सं० पृ० ९४ तथा न्या० क० पृ० ९४–९५।

३. वै० सू० २।१।३।

४. निराश्रयस्य सर्वत्र शुक्लता-मात्र-प्रतीतेः—न्या० क० पृ० ९८।

५. वै० सू० ४।१।११।

६. वै० सू० २।१।७।

७. वै० सू० ५।१।१७।

८. वै० सू० वृ० २।१।३ (मिथिला विद्यापीठ)

९. वै० सू० ४।२।१।

तैजस शरीर केवल अयोनिज होता है क्योंकि शुक्र-शोणितादि का[1] सम्बन्ध केवल पृथिवी से ही है। इसकी प्रसिद्धि आदित्य-लोक में है। पार्थिवाऽवयव के संयोग-विशेष की सहायता से तेज के अवयव एक विशिष्ट प्रकार के उपभोग-क्षम शरीर का आरम्भक होते हैं। अतएव तैजस-शरीर केवल तेजः-पुञ्ज-प्राय नहीं होता है[2]।

तैजस इन्द्रिय है चक्षु, क्योंकि चक्षु के द्वारा रूपादि-गुणों में से केवल रूप का ही अभिव्यञ्जन हो पाता है अन्य गुणों का[3] नहीं। इसके निर्माण के विषय में कन्दलीकार का विवरण निम्नलिखित है[4] :—

"ये पार्थिवोदकावयवैरप्रतिबद्ध-सामर्थ्याः तेजोऽवयवाः तैरारब्धं चक्षुः। अत इदं विशिष्टोत्पादाद्रूपाभिव्यञ्जकमिन्द्रियं नान्यत्। तादृशं तदुत्पद्यते इत्यत्र अदृष्ट एव कारणम्। (तथाविधादृष्टसिद्धौ च) कार्यमेव प्रमाणम्।"

यह चक्षुरिन्द्रिय अनुद्भूतरूप तथा अनुद्भूतस्पर्श है, अतएव इसका प्रत्यक्ष तथा इससे सम्बद्ध पदार्थ का दाह नहीं होता है। इस प्रसङ्ग में व्योमवतीकार का कथन भी द्रष्टव्य है[5]—

"उपभोगार्था हि सृष्टिर्भावानामिति रूपस्योद्भवे [6]चक्षुषोऽन्धकारेऽपि ग्रहणे इष्ट-सत्त्वानामुपभोगाऽनुत्पत्तिरिति तदुपभोग-प्रापकाऽदृष्ट-वशेनानुद्भूतरूपं चक्षुर्जनितम्प्रजापतिना। तथा उष्ण-स्पर्शोद्भवेपि अनेक-चक्षुः-सन्निपातात् प्रीतिकरे वस्तुनि नर्त्तक्यादौ ग्रीष्म-समये अत्युष्णैः मरीचिभिरिव दाहः स्यादित्यदृष्ट-वशादेव उष्ण-स्पर्शस्याऽप्यनुद्भवः कल्प्यते।

विषय नामक तेज के चार[7] भेद हैं—भौम, दिव्य, उदर्य तथा आकरज।

भौम—इसकी उत्पत्ति के आश्रय के रूप में काष्ठ तथा तृण आदि लिए जाते हैं। इस तेज का स्वभाव[8] है ऊर्ध्व-ज्वलन।

दिव्य—आदित्यादि तेज।

---

१. उपस्कार ४।२।११।

२. प्र० पा० भा० पृ० ९९

३. व्योमवती पृ० २५६

४. न्या० क० पृ० ९९-१००

५. व्योमवती पृ० २५७

६. चक्षुषाऽन्धकारे.........यह पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। उद्धरण में छपा हुआ पाठ प्रस्तुत किया गया है।

७. प्र० पा० भा० पृ० १००

८. जाति-निबन्धनो धर्मः स्वभावः—किरणावली पृ० ७६ (काशी)

उदर्य—उदर में पाचनादि-क्रिया-समर्थ तेज।
आकरज—खान आदि में वर्तमान सुवर्ण आदि।

सुवर्ण का तैजसत्व

सुवर्ण के विषय में श्रुति में कहा गया है :—"अग्नेरपत्यम् प्रथमम् सुवर्णम्।" व्योम-शिवाचार्य का कथन है कि अपत्य शब्द का प्रयोग समान-जातीय कार्य के लिये हीं होता है। एवञ्च अग्नि का अपत्य सुवर्ण अवश्य हीं आग्नेय (= तैजस) है। यद्यपि व्योम-शिवाचार्य ने "पार्थिवं लाक्षादि[1] अग्नि-संयोगाद्भस्मतामापद्यमानं दृष्टम्; सुवर्णादौ च भृशमप्यग्नि-संयोगातिशयेन द्रवत्वमेव" कह कर अनुमान का भी निर्देश किया ही है तथापि इसमें इनका निर्भरत्व नहीं है, क्योंकि इनकी दृष्टि में आगम के सामने अनुमान का महत्व अधिक नहीं है। व्योमवती की उपर्युक्त पंक्ति से निःसृत अनुमान का स्वरूप निम्न-लिखित है :—

"सुवर्णं तैजसम् असति प्रतिबन्धके सत्यप्यत्यन्तानलसंयोगे तदीय-द्रवत्वस्य अनुच्छिद्यमानत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवी।"
तात्पर्य यह है कि शुद्ध सुवर्ण को अग्नि में गरम करने पर भी उसका द्रवत्व नष्ट नहीं होता है, परन्तु पृथिवी तथा जन्य-जल का द्रवत्व तो अत्यन्ताग्नि-संयोग से नष्ट हो जाता है। अतः सुवर्ण के द्रवत्व में पार्थिव-द्रवत्व तथा जलीय-द्रवत्व के वैधर्म्य की सत्ता ही सुवर्ण में भी पार्थिवत्व तथा जलत्व का अभाव प्रतिपादित कर देती है, और साथ हीं सुवर्ण का उपर्युक्त द्रवत्व पृथिवी तथा जल से व्यावृत्त होने के कारण सुवर्ण के तैजसत्व का साधक भी हो जाता है, क्योंकि द्रवत्व केवल पृथिवी, जल तथा तेज में हीं रहनेवाला गुण है। यदि कोई भी द्रवत्व-युक्त पदार्थ पृथिवी तथा जल से भिन्न है तो परिशेषात् उसे तजस हीं होना है। अतः सुवर्ण का तैजसत्व निराबाध है। आयुर्वेद-शास्त्र में सुवर्ण-भस्म बनाने की विधि है, अतः सुवर्ण का द्रवत्व अग्नि-संयोग से नष्ट हो जाता है, परन्तु वहाँ द्रवत्व को नष्ट करनेवाला औषध्यादि प्रतिबन्धक रहता है; अतएव हेतु में 'असति प्रतिबन्धके' कहा गया है। प्रतिबन्धक का शब्दार्थ (प्रकृत प्रसङ्ग में) है अत्यन्तानलसंयोग होने पर भी अनुच्छिद्यमान जन्य द्रवत्व का प्रतिबन्धक। द्रवत्वोच्छेदक अनल-संयोग में अत्यन्त पद पृथिव्यादि-द्रवत्व से वैधर्म्य की प्रतीति के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि पृथिवी तथा जल का द्रवत्व भी साधारण अग्नि-संयोग से नष्ट नहीं होता है।

---

१ व्योम० पृ० २५८।
२ वै० द०

इस विषय में विशेष विवरण के लिए ग्रन्थान्तर[1] देखना चाहिए। परन्तु आधुनिक विज्ञान का निर्णय है कि सुवर्ण का द्रवत्व भो अग्नि से विनष्ट होता है।

मीमांसकों के अनुसार सुवर्ण एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

श्रीहर्ष ने मृत्तिका (=मिट्टी के परिष्कृत रूप) को ही सुवर्ण माना है। अतएव "नैषधीय-चरित" में उन्होंने लिखा है :—

"जाम्बूनदं जगति विश्रुतिमेति मृत्स्ना[2]"।

इतना तो वैशेषिक लोग भी मानते है कि सुवर्ण में पार्थिवावयवों का भी संयोग है; अतएव पीत-रूप, अनुष्णाशीत स्पर्श, रस तथा गुरुत्व आदि गुण का प्रतिभास सुवर्ण में होता है। परन्तु इससे सुवर्ण को पार्थिव नहीं मानते। उपर्युक्त अनुमान तथा अनुमानान्तर से यहीं मानते हैं कि उपभोक्ता जीव के अदृष्ट के कारण सुवर्ण में तैजस शरीर की तरह पार्थिवावयवों का संयोग होता है अतएव तेज का रूप तथा स्पर्श सुवर्ण में अभिभूत रहता है।[3]

जगदीश तर्कालङ्कार भी सुवर्ण को, श्रीहर्ष की तरह, पार्थिव हीं मानने के पक्ष में हैं। उनका कथन निम्न-लिखित है :—

"यद्यपि गुरोः पीत-स्वर्णस्य पार्थिवत्वमेव,[4] तदुपष्टम्भे च तेजोऽन्तरे प्रमाणाऽभावः............तथाऽपि सिद्धान्त-मात्रमनुरुध्य सुवर्णादेः तत्त्वम् (= तैजसत्वम्) अभिहितम् इति ध्येयम्। .... वस्तुतः पीत एव द्रावित-स्वर्णस्याप्युपलब्धिः, स च पार्थिवत्वात् सरस एवेति न माधुर्याद्यनुपपत्तिरिति द्रष्टव्यम्।"

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी सुवर्ण आदि स्वतन्त्र तत्व है तैजस नहीं। प्राचीन नैयायिकों के अनुमान में तर्क का अधिक महत्व है वस्तु-तत्व का नहीं। इसका कुछ सङ्केत भगीरथ ठक्कुर ने भी किया है।[5]

---

१ किरणावली (प्रकाश तथा विवरण-सहित) पृ० २९०—२९८ (एसियाटिक सोसाइटी)। सेतु, पृ० २५३—२५५; न्या० ली० (कण्ठाभरण, प्रकाश विवृति-सहिता) पृ० १५३—१६६; उपस्कार २।१।७।

२ नै० च० ११।८१।

३ न्या० क०, पृ० १०२।

४ सूक्ति, पृ० २४९।

५ यद्यप्यनेनाऽपि तेजस्त्वं नाऽऽयाति तथाऽपि रूपवत्त्वेन वायुत्वे निरस्ते; नैमित्तिक-द्रवत्वेन जलत्व-निरासे, अनुच्छिद्यमान-द्रवत्वेन पृथिवीत्व-निरासे धर्मि-कल्पनात इति न्यायेन दशम-द्रव्यत्व-निरासे परिशेषात् तेजस्त्वमिति भाव :—न्या० ली० प्र० वि०, पृ० १६६।

(४) वायु

सूत्र-कार ने वायु का लक्षण किया है :—"स्पर्शवान् वायुः[1] ।" यद्यपि पूर्व-सूत्रों को ध्यान में रखने पर "रूप-रस-गन्ध-रहितः स्पर्शवान् वायुः" ऐसा अर्थ प्रतीत होता है तथाऽपि लक्षण में केवल रूप-रहितत्व अंश का निवेश आवश्यक है, क्योंकि लक्षण की उद्देश्य-सिद्धि में इतना ही पर्याप्त है। इसका स्पर्श अपाकज अनुष्णाशीत होता है। स्पर्श के अतिरिक्त वायु के गुण निम्नलिखित हैं :—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, तथा वेगाख्य संस्कार।

संख्या आदि सात गुणों का निर्देश तो सूत्र-कारने "संख्याः परिमाणानि[2] पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वाऽपरत्वे कर्म च रूपि-द्रव्य-समवायाच्चाक्षुषाणि" तथा "अरूपिष्वचाक्षुषाणि" सूत्रों के द्वारा किया है। अतः रूप-रहित द्रव्य में भी ये गुण सम्भव है, किन्तु उनका प्रत्यक्ष (चाक्षुष) नहीं होता है। वायु में उपर्युक्त गुणों की सिद्धि में प्रमाण को उदयनाचार्य ने स्पष्ट किया है :—

"प्रमाणन्तु संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवत्तायां[3] वायोः द्रव्यारम्भकत्वम्, संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोगैर्विना द्रव्यारम्भानुपपत्तेः; विभागेन विना संयोग-विनाशानुपपत्तौ आरब्ध-द्रव्यस्य विनाशानुपपत्तेः; संयोगाल्पीयस्त्व-भूयस्त्वाभावे मूर्त्तत्वानुपपत्तेः"। इसी प्रकार "तृणे[4] कर्म वायु-संयोगात्" के द्वारा सूत्र-कार ने ही वायु में वेगाख्य संस्कार की सत्ता बतलाई है, क्योंकि वेगहीन-द्रव्य-संयोग में कर्म-हेतुत्व की उपलब्धि नहीं होती है।

इस वायु के भी नित्य तथा अनित्य दो प्रकार हैं। अनित्य वायु के साधारणतः तीन प्रकार माने जाते हैं—शरीर, इन्द्रिय तथा विषय परन्तु प्रशस्त[5]-पाद ने चार भेद किए हैं :—"तत्र कार्य-लक्षणश्चतुर्विधः—शरीरम्, इन्द्रियम्, विषयः प्राणश्च"। जो लोग प्राण नामक चतुर्थ भेद नहीं मानते हैं उनके अनुसार प्राण भी विषय ही हैं। अत एव विश्वनाथ का कथन है :—

"प्राणादिस्तु महा-वायु-पर्यन्तो विषयो मतः ॥"

'प्राण' के विषय में विभिन्न विचार भारतीय-दर्शन में प्रचलित हैं। जिज्ञासुओं को उन विचारों का अवलोकन—"सामान्य-करण-वृत्तिः प्राणाद्याः वायवः

---

१. वै० सू० २।१।४।

२. वै० सू० ४।१।११-१२।

३. किरणावली, पृ० ८० (काशी)

४. वै० सू० ५।१।१४।

५. प्र० पा० भा०, पृ० ११२।

पञ्च" इस सांख्य[1]-कारिका की "युक्ति-दीपिका" "तत्त्व-कौमुदी" आदि व्याख्याओं में; सांख्य[2]-सूत्र की व्याख्याओं में, "उदान-जयात् जल-पङ्क-कण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च[3]" इस योग-सूत्र के विवरण, विशेषतः "तत्त्व-वैशारदी" तथा "विज्ञान-भिक्षु-वार्त्तिक" मे एवम् "न वायु-क्रिये पृथगुपदेशात्"[4] इस वेदान्त-सूत्र के "शां० भा०" तथा "भामती" आदि में करना चाहिए।

पार्थिवावयवसंयोग-विशेष-सहकृत अत एव उपभोग-समर्थ वायवीय-शरीर शब्द-प्रमाणके आधार पर, वायु-लोक-प्रसिद्ध है। वायवीय इन्द्रिय है—त्वक्। शरीरावय के आवरक चर्म को त्वक् कहा जाता है, तत्स्थानीय होने के कारण इन्द्रिय भी औपचारिक रूप में त्वगिन्द्रिय कहलाती है। वृक्षादि-कम्पन-निमित्त-कारणी-भूत वायु वायवीय-विषय कहलाता है।

वायु की सिद्धि में प्रमाण के रूप में सूत्र-कार का कथन है :—"स्पर्शश्च वायोः, न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्ट-लिङ्गो[5] वायुः" ॥ इन दोनों सूत्रों के आधार पर उदयनाचार्य, श्रीधराचार्य आदि ने वायु को अनुमान-गम्य माना है। परन्तु व्योम-शिवाचार्य आदि दार्शनिकों ने वायु को प्रत्यक्ष भी माना है। विश्वनाथ ने भी "मुक्तावली" में इस मत का समर्थन किया है। इनकी दृष्टि से त्वाच-प्रत्यक्ष में रूप कारण नहीं है अपितु स्पर्श-मात्र।

---

१. सां० का० २९।
२. सां० सू० २।३१।
३. यो० सू० ३।३९।
४. ब्र० सू० २।४।९।
५. वै० सू० २।१।९-१०;
और भी देखिए—"सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूप-संस्काराऽभावाद्वायोरनुपलब्धिः" वै० सू० ४।१।७॥

तृतीय अध्याय

ईश्वर-वाद

पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के कार्य-स्वरूप की उत्पत्ति (तथा प्रलय) में ईश्वर की आवश्यकता है। अतः ईश्वर के विषय में कुछ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है :—

यद्यपि वैशेषिक-सूत्रों में कणाद ने कहीं भी स्पष्ट रूप से ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है तथापि कणाद के व्याख्याकारों ने कुछ सूत्रों में (उदाहरणार्थ, तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् १।१।३; संज्ञा-कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्, प्रत्यक्ष-प्रवृत्तत्वात् संज्ञा-कर्मणः २।१।१८-१९; सामयिकः शब्दार्थ-सम्प्रत्ययः ७।२।२० आदि) ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। अपने "पदार्थ-धर्म-संग्रह" में प्रशस्त-पाद ने भी ईश्वर का निर्देश किया है। कुछ लोगों के अनुसार काणाद-दर्शन में ईश्वर का अभ्युपगम पाशुपत[1]-सम्प्रदाय के प्रभाव से हुआ है। यद्यपि निर्णय करना तो कठिन है कि कणाद ईश्वर-वादी थे या नहीं तथापि सृष्टि-प्रक्रिया आदि की स्पष्ट उपपत्ति के लिए अनुमानादि के आधार पर ईश्वर को मान लेने में प्रतिपत्ति-लाघव भी होता है। उदयनाचार्य ने अपनी "न्याय-कुसुमाञ्जलि" में आद्यन्त इसी विषय का प्रतिपादन किया है। यहाँ उनके द्वारा प्रस्तुत ईश्वर-साधक युक्तियों की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है। ईश्वर-साधक युक्तियों का संग्रह निम्न-लिखित कारिका में किया गया है :—

कार्याऽऽयोजन-धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्या-विशेषाच्च साध्यो विश्व-विदव्ययः ॥[2]

इस श्लोक में प्रतिपादित अनुमान निम्नलिखित हैं :—

(१) "क्षित्यादि-कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्, घटादिवत्"। हमलोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि घट एक कार्य है और उसकी उत्पत्ति में चेतन कुम्भकार कर्त्ता है। इसी प्रकार यह पृथिवी भी घटादिवत् सावयव होने से कार्य (उत्पन्न)

---

१. काणादानाम् ईश्वरोऽस्तीति पाशुपतोपज्ञमेतत्—यु० दी०। विशेष-विवरण के लिए मि० वि० से प्रकाशित "वैशेषिक-दर्शन" की प्रस्तावना देखनी चाहिए।

२. न्या० कु० ५।१।

है—यह मानना ही पड़ेगा। एवञ्च इस पृथिवी (आदि) कार्य का भी एक चेतन कर्त्ता होना चाहिए, अन्यथा कार्योत्पत्ति नहीं हो सकेगी। किसी भी कार्य का कर्त्ता वही हो सकता है जो उस कार्य के समवायि-कारण, अर्थात् उपादान (Material Cause), के विषय में प्रत्यक्ष-ज्ञान का आश्रय, उस कार्य को सम्पन्न करने की इच्छा का आश्रय तथा उस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ प्रयत्न से सम्पन्न होता है (तदुपादान-गोचराऽपरोक्ष-ज्ञान-चिकीर्षा-कृतिमत्त्वम् कर्तृत्वम्)। अब पार्थिव द्व्यणुक को कार्य-शब्द से परिगृहीत कर यदि हम देखते हैं तो यह स्पष्ट है कि द्व्यणुक-समवायि-कारणीभूत परमाणु-विषयक-प्रत्यक्ष-ज्ञानादि का आश्रय कोई साधारण पुरुष नहीं हो सकता है। योगी यद्यपि परमाणु का प्रत्यक्ष कर सकते हैं तथापि योग-लाभ से पूर्व नहीं परन्तु द्व्यणुक तो योगी के योग-लाभ से पूर्व भी वर्त्तमान रहता है; अतः उसका कर्त्ता योगी नहीं हो सकते हैं। 'अनादि-योग-सिद्ध' शब्द तो ईश्वर से भिन्न व्यक्ति के विषय में औपचारिक है, क्योंकि अन्य व्यक्ति के विषय में, इस शब्द के मुख्यार्थ की अनुपपत्ति, मोक्ष की स्थिति पर ध्यान देने से, स्पष्ट हो जाती है। योगियों में द्व्यणुकादि-कर्तृत्वाभाव के विषय में—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम् कर्म कारणमुच्यते।
योगाऽऽरूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥"

इस भगवद्गीता-वाक्य से भी संकेत मिलता है। अतः द्व्यणुक-कर्तृत्व से सम्पन्न पदार्थ ही ईश्वर है। यहाँ द्व्यणुक पद कार्यान्तर का उपलक्षण है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि कार्यत्व हेतु से सामान्य रूप में कर्त्ता की सिद्धि हो सकती है, परन्तु वह कर्त्ता ईश्वर ही है—यह कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि कार्य-वैचित्र्य से कारण-वैचित्र्य भी सिद्ध होता है, जैसे 'कार्यत्वात्' की व्याख्या के प्रसङ्ग में अभी-अभी बतलाया गया है। इस वैचित्र्य की उपपत्ति के लिए ही कई पक्ष हैं। कुछ [1]लोग "द्यावा-भूमी जनयन्देव एकः" इत्यादि आगम से, कुछ लोग केवल-व्यतिरेक्यनुमान[2] से और कुछ लोग पक्ष-धर्मता[3] के आधार पर कर्तृविशेष ईश्वर की सिद्धि मानते हैं। तात्पर्य यह है कि इस विचित्र जगत् का उत्पादन वही कर सकता है जो इसके वैचित्र्य के मूल को ठीक-ठीक जानता हो। साधारण व्यक्तियों में

---

१. व्योम०, पृ० ३०५; न्या० म०, पृ० १८३।

२. न्या० म०, पृ० १८३; न्या० वा० ता० टी०, पृ० ९५६ (कल०)।

३. न्या० म०, पृ० १८३–१८४; न्या० क०, पृ० १३६; न्या० वा० ता० टी०, पृ० ९५६ (कल०)।

उस प्रकार का ज्ञान तो होता ही नहीं, यदि होता भी है तो सादि होने से स्व-पूर्वकालिक जगदुत्पत्ति में प्रयोजक नहीं हो सकता है। अतः किसी सर्वज्ञ कर्त्ता की ही सिद्धि होगी और वही सर्वज्ञ पुरुष ईश्वर है।

पुनः प्रश्न है—यह सर्वानुभवसिद्ध है कि कोई भी कर्त्ता सर्व-प्रथम कार्योपादान के स्वरूप का अवधारण करता है, तब कार्य-सम्पादन की इच्छा करता है, तदनन्तर तदनुकूल प्रयत्न करता है; तत्पश्चात् अपने शरीर को सञ्चालित करता है और इसके बाद कार्य के लिए अपेक्षित उपकरणों के[1] उपयोग से कार्य का उत्पादन करता है; यदि उपर्युक्त स्थिति नहीं होती तो कार्य का उत्पादन भी नहीं होता है। एवञ्च यदि ईश्वर कर्त्ता है तो उसे शरीरी भी होना आवश्यक है, और शरीर आत्म-निष्ठ-अदृष्ट-जन्य होता है; अतः ईश्वर में धर्माधर्म की स्थिति माननी पड़ेगी, फलतः जीवात्मा तथा ईश्वर में साधारण्य आ जाता है। दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर का भी शरीर हो तो वह जन्य ही होगा। एवञ्च उस जन्य शरीर का कर्त्ता भी एक दूसरा शरीर-होगा, पुनः उस द्वितीय जन्य-शरीर का कर्त्ता भी तत्पूर्वकालिक शरीरान्तर होगा—इस प्रकार अनवस्था हो जाएगी। अतः ईश्वर को शरीरी मानना उचित नहीं है, और यदि शरीरी नहीं है तो इस जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता है; यदि कर्त्ता नहीं होगा तो पुनः हेतु के अभाव होने से ईश्वर-साधक अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होगी।

इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि शरीर-युक्तत्व ही कर्तृत्व नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर सुषुप्ति-काल में कर्तृत्व मानना पड़ेगा जो सर्वथा अयुक्त है। अतः कर्तृत्व का अर्थ है तदुपादान-गोचराऽपरोक्ष-ज्ञान-चिकीर्षा-कृतिमत्त्व। इस प्रकार का कर्तृत्व तो अशरीर में भी हो सकता है। अतएव स्वयम् अशरीर आत्मा भी स्व-सम्बद्ध-शरीर को प्रेरित करती[2] ही है। तात्पर्य यह है कि अचेतन-पदार्थ में कृति तथा प्रेरणा का सामानाधिकरण्य नहीं होता है। देवदत्तात्म-निष्ठ कृति से बाणादि में प्रेरणा की उत्पत्ति अनुभव सिद्ध है। अवच्छेदकता सम्बन्ध से जीवात्मा से सम्बद्ध कर्म-जन्य शरीर में प्रेरणा की उपलब्धि होती है; अतः इस प्रेरणा की उपलब्धि से तदनुकूल कृति की सत्ता आत्मा में माननी पड़ेगी ही। एवञ्च स्वरूपतः अशरीर आत्मा में स्व-सम्बद्ध-शरीर-प्रेरणाऽनुकूल-कृति-समवायित्व जिस प्रकार सिद्ध है उसी प्रकार स्वरूपतः अशरीर ईश्वर में भी पर-

---

१. तात्पर्य यह है कि कार्य के उपकरणों में प्रेरणा उत्पन्न करता है जिससे सभी मिलकर कार्य को सम्पन्न कर सकें।

२. व्योम०, पृ० ३०५; न्या० म०, पृ० १८५; न्या० क०, पृ० १३९।

माण्वादि-प्रेरणाऽनुकूल-कृति-समवायित्व मानने में कोई कठिनाई नहीं होती है। जीवात्मा में तथा-विध कृति की निष्पत्ति शरीर-सम्बन्ध रहने पर ही होती है—यह अंश तो ईश्वर में भी समान हीं है, क्योंकि शरीर का अर्थ है साक्षात्प्रयत्नाऽधिष्ठेय; और जैसे जीवात्म-समवेत-प्रयत्नाधिष्ठेय शरीर होता है वैसे ही ईश्वर-समवेत-प्रयत्नाधिष्ठेय परमाणु होते हैं। परन्तु जीवात्मा की कृति तथा इच्छा (आदि) जन्य होती हैं, अतः उनकी उत्पत्ति शरीर-सापेक्ष होती है; परमात्मा की कृति या इच्छा तो नित्य है इसलिए उसकी उत्पत्ति का प्रश्न नहीं है।[1]

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर की इच्छा तथा कृति नित्य हैं तो सर्वदैव सृष्टि अथवा प्रलय होना चाहिए, कदाचित् सृष्टि कदाचित् प्रलय नहीं, क्योंकि ईश्वर की सिसृक्षा (सृष्टि करने की इच्छा) तो नित्य है ! इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यद्यपि आत्म-मनः-संयोगाजन्य होने के कारण ईश्वरेच्छा एवम् तदीय-कृति स्वरूपतः नित्य हैं तथापि अदृष्ट-रूप सहकारो के कारण ईश्वर की इच्छा तथा कृति कदाचित् सृष्टि से और कदाचित् संहार से अनुरक्त[2] होती हैं। अनित्य सहकारी के सम्पादन में सहकार्यन्तर की अपेक्षा की परम्परा में सम्प्राप्त अनवस्था तो बीजाङ्कुरवत् अनादि होने के कारण अनुपादेय[3] है। सृष्टि तथा संहार में धर्माऽधर्म-स्वरूप-अदृष्ट-सहकृत होने पर भी, योग्यता के अनुसार भृत्यों को फल देने वाले राजा की तरह, ईश्वर का ईश्वरत्व (पराधीनत्व) व्याहत[4] नहीं होता है। इस विषय की स्पष्टता भारवि के द्वारा वर्णित दुर्योधन के राज्य-व्यवहार से भी होती है :—

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्व-धर्म इत्येव निवृत्त-कारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्म-विप्लवम् ॥[5]

इसीसे यह भी स्पष्ट है कि भगवान् की सृष्ट्यादि-विषयक-प्रवृत्ति प्राणियों

---

१ न्या० क०, पृ० १४०; न्या० म०, पृ० १८४—१८५।

२ न्या० म०, पृ० १८५, १८६; न्या० क०, पृ० १२७—२८; न्या० वा०, पृ० ९४३ (कलकत्ता); न्या० वा० ता० टी०, पृ० ९४५ (कल०)। ईश्वर-सिद्धि के प्रसङ्ग में न्या० सू० ४।१।२१ पर भाष्य, वार्त्तिक तथा तात्पर्य-टीका आदि भी द्रष्टव्य हैं।

३ व्योम०, पृ० ३०५।

४ न्या० क०, पृ० १३३।

५ किरात० १।१३।

के अदृष्ट के उपभोग[1] तथा विश्राम के लिए होती है और इसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं है। इसमें केवल भगवान् की करुणा ही है। इस विषय में जयन्त भट्ट का कथन बहुत हीं स्पष्ट है :—

"......अनादित्वात्संसारस्य शुभाऽशुभ-संस्काराऽनुविद्धा एवात्मानः...... अपवर्ग-पुर-द्वार-प्रवेशमलभमानाः कथं नाऽनुकम्प्याः ? अनुपभुक्त-फलानां कर्मणां न प्रक्षयः सर्गमन्तरेण, च (इति) तत्फल-भोगाय नरकादि-सृष्टिमारभते दयालुरेव भगवान्, उपभोग-प्रबन्धेन परिश्रान्तानामन्तराऽन्तरा विश्रान्तये जन्तूनाम्, भुवनोपसंहारमपि करोति इति सर्वम् एतत् कृपा-निबन्धनमेव।[2]"

तात्पर्य यह है कि सुख-प्रद-पदार्थ-सर्ग में और दुःखद-पदार्थ-संहार में भगवान् की करुणा और निःस्वार्थता तो सर्व-जन-सिद्ध है। परन्तु दुःख-प्रद पदार्थ के सर्ग और सुख-प्रद पदार्थ के संहार में भी भगवान् की कारुणिकता है ही, क्योंकि अधर्म-फल-भोग-सम्पादन द्वारा दुःख एवं तत्साधक पदार्थों में भी मोक्षोपयोगित्व है। अतएव श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है :—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो ?
भवतो दर्शनं यत्स्यात् अ-पुनर्भव-दर्शनम् ॥

एवञ्च यह स्पष्ट है कि भगवान् की सर्गादि-विषयक-प्रवृत्ति निःस्वार्थ तथा कारुणिक है[3]।

यद्यपि इसी एक अनुमान से ईश्वर की सिद्धि हो जाती है तथापि प्रपञ्चार्थ अन्य अनुमानों की भी संक्षिप्त व्याख्या की जाती है :—

(२) आयोजन शब्द का अर्थ है संयोग। सृष्टि के प्रारम्भ में दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। जब तक संयोग नहीं होगा तब तक असमवायि-कारण के अभाव में द्वयणुक की उत्पत्ति नहीं होगी। अतः संयोग अपेक्षित है। यह संयोग क्रिया के बिना नहीं हो सकता है, अतः द्वयणुक-समवायि-कारणीभूत परमाणु-द्वय में क्रिया अपेक्षित है। यतः परमाणु अचेतन है अतः उसमें क्रिया स्वतः नहीं हो सकती है; उसके लिए किसी चेतन-प्रेरक

---

१. सर्व-प्राणिनाम् निशि विश्रामार्थम् (प्रलयं करोति) प० ध० सं० १२२; प्राणिनाम् भोग-भूतये- वही, पृ० १२७।

२. न्या० म०, पृ० १८६; और भी देखिए न्या० भा० ४।१।२१; न्या० वा०, पृ० ९५० (कल०) न्या० वा० ता० टी०, पृ० ९५० (कल०)

३. यद्यपि उपर्युक्त विवरण अत्यन्त अपर्याप्त है तथाऽपि सभी विषयों का समावेश असम्भव है; और विचार भी निरवधि होता है। अतः यहाँ दिग्दर्शन-मात्र किया गया है।

की आवश्यकता होती है। वही चेतन-प्रेरक पदार्थ ईश्वर है। इस अनुमान को इस प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है :—"सर्गाद्य-कालीन-द्व्यणुकारम्भक-परमाणु-द्वय-संयोग-जनकं कर्म चेतन-प्रयत्न-पूर्वकम् कर्मत्वात् अस्मदादि-शरीर-कर्मवत्"।

(३) धृति-शब्द का अर्थ है धारण। किसी भी पदार्थ का अधः-पतन पतन-प्रतिबन्धक के प्रभाव से ही नहीं होता है। पतन-प्रतिबन्धक तत्वों का निरूपण गुरुत्व के निरूपण के समय किया जायगा। पतन-प्रतिबन्धक तत्वों में एक तत्व है विधारक-प्रयत्न। जैसे कोई पक्षी अपनी चोंच से एक लकड़ी का टुकड़ा उठाकर जब उड़ता है तो आकाश से उस टुकड़े का पतन पक्षी के विधारक-प्रयत्न के कारण ही नहीं होता है। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड के विधारक-प्रयत्न का समवायि-कारण यदि कोई नहीं हो तो सहसा पतन अत एव विध्वंस हो जायगा। अतः इस ब्रह्माण्ड के विधारक तत्व की सत्ता माननी होगी, और परिशेषानुमान की प्रक्रिया से वह तत्व ईश्वर ही होगा। इसका अनुमान-वाक्य ऐसा हो सकता है :—

"ब्रह्माण्डादि पतन-प्रतिबन्धकीभूत-विधारक-प्रयत्न-समवाय्यधिष्ठितम् धृतिमत्वात्, विहङ्गम-धृत-काष्ठ-खण्डवत्"।

(४) 'धृत्यादेः' में आदि पदार्थ है प्रलय। इस जगत् का प्रलय भी कृतिमत्-पदार्थ-कर्तृक ही होगा। तादृश-कृत्याश्रयत्व अन्यत्र सम्भव नहीं है। अतः परिशेषानुमान से पुनः तादृश-कृत्याश्रय के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। अनुमान-प्रयोग निम्न लिखित है :—"ब्रह्माण्डादि कृतिमद्विनाश्यम्, विनाशित्वात्, विनश्यद्घटादिवत्"।

(५) पद-शब्द का अर्थ है व्यवहार (पद्यते = ज्ञायते अनेन इति पदम् व्यवहारः)। घटादि-निर्माण-विधि किसी शिक्षक के द्वारा ही बतलाई जाती है। जिसे निर्माण-विधि की शिक्षा नहीं मिल पाई है वह उसका निर्माण भी नहीं कर सकता। परन्तु उस शिक्षक को भी दूसरे शिक्षक से सीखना पड़ा होगा। इस प्रकार सृष्टि के आदि में जो शिक्षक रहा होगा वही ईश्वर है। ईश्वर के शिक्षक की कल्पना में अनवस्था हो जायगी, और यदि अवस्था की सम्भावना हो तो अनवस्था मान्य नहीं होती है। यहाँ जब युक्ति-युक्त व्यवस्था हो सकती है तो फिर अनवस्था क्यों मानी जाय? अतः आदि शिक्षक के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। अनुमान-वाक्य निम्न-लिखित है :—"घटादि-सम्प्रदाय-व्यवहारः स्वतन्त्र-पुरुष-प्रयोज्यः[1] व्यवहारत्वात् आधुनिक-संगीतादि-व्यवहारवत्।"

---

१. प्रयोज्यः = प्रथम-प्रवर्तितः।

(६) प्रत्यय शब्द का अर्थ है विश्वास, अर्थात् प्रामाण्य । वाक्य में प्रामाण्य वक्तृ-[1]गुणाश्रित होता है । एक उदात्त पुरुष का वाक्य और एक नीच पुरुष का वाक्य समान नहीं हो सकता है—यह व्यवहार-सिद्ध है । एवञ्च उदात्ततम-अभिप्राय-व्यञ्जक वेद-वाक्यों में भी प्रामाण्य (अथवा उत्कर्ष) वक्तृ-गुण-जन्य ही होगा । तादृश-गुण-विशिष्ट व्यक्ति परिशेषानुमान से ईश्वर ही हो सकता है अन्य व्यक्ति नहीं । वेद-वाक्य में प्रामाण्य तो, आस्तिक लोगों की दृष्टि मे निर्विरोध है । अनुमान-वाक्य इस प्रकार है :—"वेद-वाक्य-जन्या प्रमा वक्तृ-गुण-जन्या प्रमात्वात् , प्रत्यक्षादि-प्रमावत्[2]" ।

यद्यपि इस अनुमान की व्याख्या इसके परवर्ती 'श्रुतेः' की व्याख्या के पश्चात् अधिक उचित है तथाऽपि मूल-क्रमानुरोध से पहले ही की गई है ।

(७) श्रुति-शब्द का अर्थ है वेद । वेद भी आयुर्वेद आदि के समान पौरुषेय है । अतः तत्कर्तृ-पुरुष-विशेष के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है । अथवा इसका अर्थ है :—श्रुति-निर्देश के आधार पर ईश्वर की सिद्धि होती है । "एको देवः[3] सर्व-भूतेषु गूढ़ः" "द्यावा-भूमी जनयन् देव[4] एकः" इत्यादि श्रुतिसहस्र ईश्वर की सत्ता का प्रसाधक है । अतः ईश्वर है ।

(८) वेद-निष्ठ वाक्यत्व से भी ईश्वर की सिद्धि होती है । जैसे महा-भारतादि ग्रन्थ को वाक्यात्मक होने से पौरुषेय माना जाता है इसी प्रकार वाक्यात्मक वेद भी पौरुषेय है । इस वेद का कर्त्ता वही हो सकता है जो सर्वज्ञ है, क्योंकि कर्त्ता में असार्वज्ञ होने से वेद में उपलब्ध असन्दिग्ध सर्व-पदार्थ-प्रतिपादकत्व की उपपत्ति नहीं हो सकेगी । अतः वेद-निर्माण-कर्तृ-पुरुष-विशेष के रूप में ईश्वर सिद्ध होता है । अनुमानवाक्य निम्न-लिखित है :—

"वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात् , भारतादिवत् ।।"

(९) परिमाण के निरूपण के समय संख्या-योनि परिमाण की व्याख्या की जायगी । द्व्यणुक का जन्य अणु-परिमाण द्व्यणुक-समवायि-कारणीभूत परमाणुद्वय में समवेत द्वित्व-संख्या से उत्पन्न होता है । द्वित्व-संख्या की उत्पत्ति

---

१. यह परतः-प्रमाण्य के सिद्धान्त का सङ्केत करता है ।

२. शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानने वाले वैशेषिकों की दृष्टि सेयद्यपि यह अनुमान कुछ अनुपयुक्त सा प्रतीत होता है, परन्तु विचार के बाद, इसका उपयोग भी स्पष्ट हो जाता है ।

३. श्वे० उ० ६।११ ।

४. ना० उ० ३।२ ।

अपेक्षा-बुद्धि से होती है। यह अपेक्षा-बुद्धि परमाणु-प्रत्यक्षकारी व्यक्ति से अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति में नही रह सकती है। योगियों में परमाणु-द्रष्टृत्व होने पर भी उनके दर्शन में सादित्व[1] होने के कारण योगि-निष्ठ अपेक्षा-बुद्धि से द्व्यणुक-परिमाण के उत्पादक परमाणु-द्वय-समवेत द्वित्व-संख्या की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः द्व्यणुक-परिमाण-जनक परमाणु-द्वय-समवेत द्वित्व की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित अपेक्षा-बुद्धि के आश्रय के रूप में भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

इन हेतुओं का बृहद्-व्याख्यान तथा व्याख्यान्तर "कुसुमाञ्जलि" में ही द्रष्टव्य है। यहाँ सबों का उपनिबन्ध तो असम्भव है।

ईश्वर के गुण

वैशेषिक-दर्शन से सम्बद्ध प्राचीन ग्रन्थों में ईश्वर के गुण का निर्देश प्रायशः नहीं मिलता है। न्याय-दर्शन के आकर-ग्रन्थों में ईश्वर-समवेत गुणों के विषय में मत-भेद है। न्याय-भाष्य-कार वात्स्यायन ने कहा है :—

"अधर्म-मिथ्या-ज्ञान-प्रमाद-हान्या,[2] धर्म-ज्ञान-समाधि-सम्पदा च विशिष्टम् आत्मान्तरम् ईश्वरः। तस्य च धर्म-समाधि-फलम् अणिमाद्यष्ट-विधमैश्वर्यम्। सङ्कल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्म-वृत्तीन् धर्माऽधर्म-सञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्त्तयति॥ एवञ्च स्व-कृताभ्यागमस्य अलोपेन निर्माण-प्राकाम्यमीश्वरस्य स्व-कृत-कर्म-फलम् वेदितव्यम्।"

यहाँ वात्स्यायन ने धर्म, ज्ञान तथा समाधि (एवम् अष्ट-सिद्धियों) का स्पष्ट उल्लेख किया है। यदि उपर्युक्त संकल्प शब्द को जगन्निर्माणानुकूल-कृति (अर्थात् प्रयत्न)[3] का पर्याय मानें तब तो प्रयत्न भी ईश्वर-गुण के रूप में न्याय-भाष्यकार का अभिमत सिद्ध होता है।

ईश्वर के धर्म के विषय में उनका मत यह है कि ईश्वर-समवेत नित्य-संकल्प, अर्थात् जगन्निर्माणानुकूल-कृति (= जगन्निर्माण द्वारा जीवात्मानुग्रहानुकूल-कृति), से ईश्वर मे धर्म की उत्पत्ति होती ही है। यद्यपि इस अंश की व्याख्या में न्याय-वार्त्तिक तथा तात्पर्य-टीका का उपनिबन्ध कुछ संकीर्ण (Confused) सा लगता है तथाऽपि जयन्त भट्ट के निम्न-लिखित कथन से तथा भाष्याक्षर-स्वारस्य से भी उपर्युक्त स्थिति ही समझ आती है :—

---

१. सृष्ट्यवर-कालिकत्व ही सादित्व यहाँ विवक्षित है।

२. न्या० भा० ४।१।२१।

३. संकल्प इति प्रयत्नः—न्या० म०, पृ० १८५।

"धर्मस्तु[1] भूताऽनुग्रहवतो वस्तु-स्वाभाव्याद्भवन् न वार्यते। तस्य च फलम्[2] परार्थ-निष्पत्तिरेव"॥

भाष्य-कार ने जगन्निर्माणानुकूल कृति (= संकल्प) तथा जगन्निर्माण-शक्ति में भेद माना है, क्योंकि आम-वात से विकल व्यक्ति में भी उत्थाना-नुकूल-कृति होती है परन्तु उत्थान-शक्ति का अभाव होता है। 'निर्माण-प्राकाम्य'-शब्द से निर्माण-शक्ति ही अभिप्रेत है।

एवञ्च भाष्य-कार के अनुसार, ईश्वर में ज्ञान तथा संकल्प तो नित्य हैं, क्योंकि इनके अनित्यत्व का कोई संकेत भाष्य में नहीं मिलता है; परन्तु धर्म सङ्कल्प-जन्य है, और उसी धर्म के फल के रूप में ईश्वर में जगन्निर्माण-शक्ति भी आती है और अणिमादि ऐश्वर्य भी। परन्तु ईश्वर की प्रवृत्ति में परार्थता[3] के कारण अणिमादि में भी परार्थता ही होती है।

इस विषय में, वार्तिक-कार का परिष्कार है कि यदि जगन्निर्माण-शक्ति (= ऐश्वर्य) को अनित्य (धर्म-जन्य) माना जाय तब तो अनित्य अणिमादि के आश्रय में अनेकत्व के समान, अनित्य निर्माण-शक्ति के आश्रय, ईश्वर, में भी अनेकत्व मानना पड़ेगा; एवञ्च परस्पर इच्छा-विसम्वाद के कारण जगन्निर्माण ही असम्भव हो जाएगा। अतः भाष्य-कार का अभिप्राय यह है कि जगन्निर्माण-शक्ति भी नित्य ही है, केवल अणिमादि ऐश्वर्य (जो परार्थ हैं, स्वार्थ नहीं) संकल्प-जन्य-धर्म-जन्य हैं। एवञ्च धर्म-फल के परार्थत्व के कारण ईश्वर-निष्ठ धर्म भी परार्थ ही हो जाता है[4]।

परन्तु वार्त्तिक-कार का कथन है कि ईश्वर-निष्ठ नित्य-ज्ञानादि से ही परानुग्रह के उपपन्न हो जाने से परानुग्रहार्थं संकल्प-जन्य धर्म की कल्पना

---

१. न्या० म०, पृ० १८५।

२. यद्यपि मूल पुस्तक में "परमार्थ-निष्पत्तिरेव" पाठ है, परन्तु न्याय-भाष्य के "संकल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्म-वृत्तीन् धर्माऽधर्म-सञ्चयान्··· प्रवर्त्तयति" इत्यादि वचन के तथा "यो धर्म ईश्वरे नाऽसौ तत्रैश्वर्यं करोति, किन्तु प्रत्यात्म-वृत्तीन् धर्माऽधर्म-सन्निचयान् अनुगृह्णाति" इत्यादि न्याय-वार्त्तिक आदि के कथन के आधार पर मैंने 'परार्थ' शब्द का ही प्रयोग किया है।

३. आप्त-कल्पश्चायम्—यथा पिता अपत्यानाम् तथा पितृ-भूत ईश्वरो भूतानाम्—न्या० भा० ४।१।२१।

४. न्या० वा०, पृ० ९५०, पं० १२–१७ (कलकत्ता)।

अनावश्यक[1] है; और नित्य धर्म की सत्ता में तो कोई प्रमाण[2] ही नहीं है। अतः ईश्वर में धर्म नहीं है। वर्धमानोपाध्याय के अनुसार[3] उदयनाचार्य का भी यही मत है कि ईश्वर में धर्माऽधर्म नहीं होते हैं।

अन्त में वार्त्तिक-कार ने ईश्वर के प्रयत्न (= संकल्प) तथा जगन्निर्माण-शक्ति (निर्माण प्राकाम्य) का भी ईश्वर-निष्ठ नित्य-ज्ञान में ही अन्तर्भाव कर[4] ईश्वर में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग तथा बुद्धि, इन[5] छे गुणों की ही सत्ता मानी है।

परन्तु "कारण-सामर्थ्य-भावी[6] कार्योत्पादो न प्रयोजनाऽपेक्षः" इस न्याय के आधार पर ईश्वर-निष्ठ जगदनुग्रहानुकूल-कृति (= सङ्कल्प) से धर्म की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं हो सकती है—यह जयन्त भट्ट का मत है :—

"धर्मस्तु······वस्तु-स्वाभाव्याद्भवन्न[7] वार्यते।" सत्-सङ्कल्प से धर्म तथा असत्-संकल्प से अधर्म की उत्पत्ति तो धर्म-शास्त्र-सिद्ध ही है।

ईश्वर-समवेत-गुण के विषय में जयन्त भट्ट का अपना मत निम्न-लिखित है :—

"तदेवं नवभ्य[8] आत्म-गुणेभ्यः (अपकृष्टाः) पञ्च ज्ञान-सुखेच्छा-प्रयत्न-धर्माः सन्तीश्वरे,[9] चत्वारस्तु दुःख-द्वेषाधर्म-संस्काराः न सन्ति···।" ईश्वर

---

१. न च ईश्वरे धर्मोऽस्तीति अचोद्यमेतत्—न्या० वा०, पृ० ९५० (कलकत्ता)।

२. ·······न चैवं धर्मादि-नित्यत्वे प्रमाणमस्ति·······न्या० वा०, पृ० ९५१ (कलकत्ता)।

३. धर्माऽभावेन सुखाभावस्य अधर्माभावेन दुःखाभावस्य स्वतः सिद्धत्वात्—कि० प्र०, पृ० ३१३ (ए०सो०)।

४. अन्ये (न्याय-वार्त्तिक-काराः) तु बुद्धिरेव तस्याऽव्याहता क्रिया-शक्ति-रित्येवं वदन्तः इच्छा-प्रयत्नावप्यनङ्गीकुर्वाणाः षड्-गुणाधिकरणोऽयमित्याहुः। न्या० क०, पृ० १४२।

५. तत्र हि नित्या बुद्धिः संख्यादयश्च सामान्य-गुणाः, षड्-गुणः आकाश-वदीश्वरः······संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-बुद्धय एव तस्य गुणाः। न्या० वा०, पृ० ९५१ (कल०)।

६. न्या० क०, पृ० २८६।

७. न्या० म०, पृ० १८५।

८. न्या० म०, पृ० १८५।

९. ये तो केवल विशेष-गुणों का निर्देश है, परन्तु इनसे अतिरिक्त संख्या

में उपर्युक्त गुणों की उपपत्ति स्वयम् ग्रन्थ-कार ने ही बतलाई है, अतः यहाँ उपपादन नहीं किया जा रहा है।

ऐश्वर्याऽनित्यत्व-पक्ष में ईश्वराऽनेकत्व दोष की आपत्ति तो जगन्निर्माण-शक्ति के अनित्यत्व में ही सम्भव है, धर्म के अनित्यत्व में नहीं; क्योंकि परानुग्रहानुगुण धर्म के आश्रय होने मात्र से किसी में ईश्वरत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है।

न्याय-कन्दली-कार ने मतान्तर के अनुसार, ईश्वर को ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न तथा संख्यादि-पञ्चक का आश्रय[1] माना है। विश्वनाथ ने भी[2] इसी मत का अवलम्बन किया है, परन्तु सुख की सत्ता के विषय में उनकी धारणा सन्दिग्ध सी प्रतीत होती है। अत एव आत्म-निरूपण-प्रसङ्ग में "मुक्तावली" में उन्होंने वेदान्त-मत का खण्डन करते हुए लिखा है :—

"आनन्दोऽपि दुःखाऽभावे उपचर्यते, भाराद्यपगमे सुखी सम्वृत्तोऽहमितिवत्, दुःखाभावेन सुखित्व-प्रत्ययात्। अस्तु वा तस्मिन्नानन्दः[3] न त्वसावानन्दः"।

अस्तु। उपर्युक्त विवरण प्राचीन आचार्यों के अनुसार प्रस्तुत किया गया है; परन्तु ईश्वर के विषय में मैं अपने मत का उपसंहार निम्न-लिखित वाक्य से ही करना चाहता हूँ—

"न मन्त्रं नो यन्त्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो !
न चाऽऽह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुति-कथाः ॥
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनम्।
परं जाने देव ! त्वदनुसरणं क्लेश-हरणम् ॥"

कारण-स्वरूप-विमर्श

पुरस्तात्प्रतिपाद्यमान भूत-सृष्टि-प्रक्रिया से पूर्व कारण-स्वरूपावगम भी आवश्यक है। कारण का लक्षण निम्न-लिखित रूप में किया जाता है :— "अन्यथा-सिद्धि-शून्यत्वे सति कार्य नियत-पूर्व-वृत्तित्वम् कारणत्वम्।" कार्योत्पत्ति के पूर्व नियमतः अपेक्षित तत्त्वों के अतिरिक्त पदार्थ[4] अन्यथा-सिद्ध हैं।

आदि पाँच सामान्य-गुण भी ईश्वर में निर्विवाद ही हैं। अतः जयन्त भट्ट के अनुसार ईश्वर में दस गुणों की सत्ता सिद्ध होती है।

१. न्या० क०, पृ० १४२।

२. न्या० सू० वृ० ४।१।२१; कारि० १।३४।

३. मुक्ता० का० १।४९।

४. अन्यथा-सिद्ध के प्रपञ्च के विषय में प्रकाशिका तथा मकरन्द से परिष्कृत

जैसे घट की उत्पत्ति में रासभ, कपालत्व आदि पदार्थ अन्यथा-सिद्ध हैं, क्योंकि घटोत्पत्ति के पूर्व नियमतः अपेक्षित कपाल, दण्ड, चक्र आदि पदार्थों से रासभ आदि पदार्थ अतिरिक्त हैं ।

इस कारण के तीन[1] प्रकार होते हैं :—समवायि-कारण, असमवायि-कारण एवम् निमित्त-कारण ।

(क) समवायि-कारण

जिस द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से कार्य की उत्पत्ति होती है वही द्रव्य समवायि-कारण है । कपाल-द्वय में घट की उत्पत्ति समवाय सम्बन्ध से होती है, अतः कपाल-द्वय घट का समवायि-कारण है । इसीलिए 'कपालयोः घटः समवेतः" ऐसी प्रतीति होती है । यहाँ यह अवधेय है कि साधारण-व्यवहार में हमलोग 'घट में दो कपाल हैं' (घटे कपालौ) ऐसा कहा करते हैं; परन्तु न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय या यों कहिए कि तर्क के आधार पर 'कपालयोः घटः' यही प्रतीति होती है, क्योंकि कार्य से कारण की सत्ता पहले होती है; अतः पूर्ववर्त्ती कारण ही परवर्त्ती कार्य का आधार होगा, न कि परवर्त्ती कार्य पूर्ववर्त्ती कारण का । यही समवायि-कारण न्याय-वैशेषिक तथा प्रभाकर-मीमांसा को छोड़कर दर्शनान्तर में 'उपादान-कारण' कहलाता है । वस्तुतः सरलता से समवायि-कारण के स्वरूप को समझने के लिए उपादान शब्द अधिक उपयुक्त है । अतः हम कह सकते हैं कि किसी भी कार्य का जो उपादान (Material cause) है वही समवायि-कारण है । कपाल घट का उपादान है, तन्तु पट का उपादान है अतः घट का कपाल और पट का तन्तु समवायि-कारण है । न्याय-वैशेषिक दर्शन में उपादान कारण को समवायि-कारण कहने का आधार कार्य तथा उसके उपादान के बीच न्याय-वैशेषिताऽभिमत समवाय-सम्बन्ध ही है । कार्य तथा उपादान में जो समवाय होता हैं उसका अनुयोगी उपादान ही होता है अतः "कार्यस्य समवायः अस्मिन् अस्ति इति समवायी' इस व्युत्पत्ति से उपादान के लिए समवायि-कारण शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

समवायि-कारण द्रव्य ही हो सकता है, यह यद्यपि अनुभव सिद्ध है, तथापि सन्देह-निवारण के लिए स्वयम् सूत्र-कार ने भी इस विषय का उल्लेख किया है :—"(समवायि-)[2] कारणमिति द्रव्ये कार्य-समवायात् ।"

कु० प्र० (१५८–१६६), सेतु (पृ० ९२–७७) तथा कारिकावली (१।१९–२२) आदि द्रष्टव्य हैं ।

१. यह कारण-त्रैविध्य भाव-कार्य के विषय में है; अभाव-कार्य में तो निमित्त-कारण-मात्र होता है ।

२. वै० सू० १०।२।१॥

(ख) असमवायि-कारण

समवायि-कारण में प्रत्यासन्न (प्रत्यासत्ति-युक्त) एवम् कार्योत्पादन में अवधृत-सामर्थ्य कारण असमवायि-कारण होता है। समवायि-कारण में असमवायि-कारण की प्रत्यासत्ति दो प्रकार की होती है—साक्षात्-प्रत्यासत्ति और परम्परा-प्रत्यासत्ति।

(अ) साक्षात्प्रत्यासत्ति

साक्षात्प्रत्यासत्ति का अर्थ है कि कार्य के साक्षात्-कारण (समवायि-कारण) में असमवायि-कारण के रूप में अभिमत पदार्थ की प्रत्यासत्ति, अर्थात् समवाय-सम्बन्ध। वस्तुतः साक्षात्-प्रत्यासत्ति वहाँ होती है जहाँ कार्य तथा असमवायि-कारण के सम्बन्ध में साक्षात्त्व है। उदाहरणार्थ, घट-कार्य के कारण (समवायि-कारण), कपाल-द्वय, में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला संयोग (कपाल-द्वय-संयोग) घट की उत्पत्ति में अवधृत-सामर्थ्य होने से (घटका) असमवायि-कारण है। इसी सम्बन्ध को कार्यैकार्थ-प्रत्यासत्ति (कार्येण सह असमवायि-कारणत्वेन अभिमतस्य पदार्थस्य एकत्र = कार्य-समवायि-कारणे, प्रत्यासत्तिः = समवायः) एवम् कार्यैकार्थ-समवाय भी कहा जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस प्रत्यासत्ति से असमवायि-कारण होने वाले पदार्थ तथा उसके कार्य (जैसे, कपाल-द्वय-संयोग एवम् घट) का समवायि-कारण एक ही तत्त्व (कपाल) होता है। इसी प्रत्यासत्ति का दूसरा उदाहरण है :—इच्छा आदि की उत्पत्ति में इच्छा-समवायि-कारण, आत्मा, में समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान आत्म-मनः-संयोग की असमवायि-कारणता। अब यहाँ एक प्रश्न है कि यदि इच्छा-समवायि-कारण आत्मा में समवेत आत्म-मनः-संयोग इच्छा का असमवायि-कारण होता है तब तो उस आत्मा में समवेत ज्ञान आदि को भी इच्छा आदि का असमवायि-कारण होना चाहिए, क्योंकि कार्यैकार्थ-प्रत्यासत्ति जैसे आत्म-मनः-संयोग की है उसी तरह ज्ञान आदि की भी है। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि समवायि-कारण में प्रत्यासत्ति-मात्र ही असमवायि-कारणत्व का नियामक नहीं है अपि तु उस प्रत्यासत्ति के साथ-साथ अवधृत-सामर्थ्यत्व भी अपेक्षित होता है। ज्ञानादि पदार्थ इच्छादि आत्म-विशेषगुण की उत्पत्ति में अवधृत-सामर्थ्य नहीं हैं, अतः ज्ञानादि को इच्छादि के प्रति असमवायि-कारण नहीं अपि तु यथा-सम्भव निमित्त-कारण ही मानना चाहिये। यह सिद्धान्त व्योम-शिवाचार्य[1] तथा श्रीधराचार्य[2] का है।

---

१ व्योम०, पृ० ४३८।

२ न्या० कं०, पृ० २४५।

उद्यनाचार्य का मत स्पष्ट नहीं है। उन्होंने केवल इतना ही कहा है :—"यथा[1] च प्रत्यासत्यविशेषेऽपि नैषामसमवायि-कारणत्वम् तथा वक्ष्यते।" परन्तु अग्रिम-ग्रन्थ के उपलब्धांश में कहीं इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है। बुद्धि-पदार्थ से आगे का किरणावली का अंश तो विलुप्त ही है, अतः उनका क्या मत था इसका निर्णय कुछ कठिन कार्य है। वर्धमानोपाध्याय के अनुसार आचार्य का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि मनो-मात्र-ग्राह्यत्व हेतु से सिद्ध-विशेष-गुण-भाव बुद्ध्यादि गुणों में भी, श्रोत्र- मात्र-ग्राह्यत्व हेतु से सिद्ध-विशेष-गुण-भाव शब्द के समान ही ("तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम्" इस न्याय से), मूर्त्त-संयोगासमवायि-कारणक-वृत्ति पदार्थों में रहने वाली गुणत्व-व्याप्य-जाति से युक्त होने के अभ्युपगम की अनिवार्यता है। एवञ्च अवश्य-मन्तव्य आत्म-मनः-संयोगात्मक असमवायि-कारण से ही कार्योत्पत्ति की उपपत्ति हो जाने से ज्ञानादि को असमवायि-कारण मानना अनावश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि आत्म-विशेष-गुण में असमवायि-कारणत्व का व्यवहार शिष्ट-सम्प्रदाय-विरुद्ध भी है[2]। इन दोनों में द्वितीय युक्ति अधिक उपपन्न है, क्योंकि आत्म-मनः-संयोग में ही असमवायि-कारणता एवम् ज्ञानादि में यथा-सम्भव निमित्त-कारणता मानने में कोई विनिगमक नहीं है। अतः प्रथम-युक्ति में अधिक उपादेयता नहीं प्रतीत होती है। यही कारण है कि भट्ट वादीन्द्र[3] तथा दीधितिकार[4] ने भी शिष्ट-परम्परा के आधार पर ही आत्म-विशेष-गुण में असमवायि-कारणता का प्रतिषेध किया है। प्रायशः उपर्युक्त हेतु से ही वर्धमानोपाध्याय ने भी दो [5]बार शिष्ट-परम्परा, का इस प्रसङ्ग में, उल्लेख किया है। अतः शिष्ट-परम्परा में असमवायि-कारण के रूप में अनभिमत आत्म-विशेष-गुण के व्यावर्त्तन के लिए गौरव-युक्त होने पर भी असमवायि-कारण के लक्षण में आत्म-विशेष-गुण-भिन्नत्व[6] का निवेश करना चाहिए। [7]आत्म-

---

१ किर०, पृ० ४१५–१६ (एशियाटिक सोसाइटी)

२ कि० प्र०, पृ० ४१६।

३ रस-सार, पृ० १४।

४ कि० प्र० दी०, पृ० ३५, ३६।

५ कि० प्र०, पृ० ४१५,४१६।

६ कि० प्र० दी०, पृ० ३६; रस-सार, पृ० १४; मुक्तावली(कारि० १।१८)।

७ उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि व्याख्याकारों की दृष्टि में उदयनाचार्य का मत यही है कि शिष्ट-परम्पराऽनभ्युपगत होने के कारण हीं आत्म-विशेष-गुणों को असमवायि-कारण नहीं माना जाता है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है

विशेष-गुण-भिन्नत्व का अर्थ है अनात्मा (= घटादि) में समवेत (= नील-रूपादि) में असमवेत (समवेत = नीलत्वादि, असमवेत = ज्ञानत्वादि) धर्म के समवायी (ज्ञान आदि आत्म-विशेष-गुण) से भिन्न[1]।

उपर्युक्त विवरण के सारांश के रूप में हमारे समक्ष दो मत आते हैं :—

(च) अवघृत-सामर्थ्य नहीं होने से आत्म-विशेष-गुण को इच्छादि के प्रति असमवायि-कारण नहीं माना जाता है; और

(छ) प्रामाणिक लोगों के अनभिमत होने के परिणाम में आत्म-विशेष-गुण को असमवायि-कारण नहीं माना जाता है।

प्रथम-पक्ष व्योम-शिवाचार्य तथा श्रीधराचार्य का है और द्वितीय पक्ष, व्याख्या-कारों के कथन के आधार पर, उदयनाचार्य का है। इन दोनों पक्षों में प्रथम पक्ष में अनुपपत्ति यह है कि अवधृत-सामर्थ्यत्व का निर्वचन अनुगत नहीं हो पाता है। दो प्रकार से अवधृत-सामर्थ्यत्व का निर्वचन किया जा सकता है :—

(१) तत्समवायि-कारण-जन्य-यत्किञ्चित्-कार्योत्पादकत्वम्, अथवा—

(२) तत्समवायि-कारण-जन्य-यावत्कार्योत्पादकत्वम्।

यदि प्रथम निर्वचन को माना जाय तब आत्म-विशेष-गुण, ज्ञानादि, में असमवायि-कारणत्व का प्रतिषेध कथमपि नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्म-जन्य यत्किञ्चित्-कार्य (= इच्छा, द्वेष आदि) का उत्पादकत्व ज्ञानादि में रहता ही है। यदि द्वितीय-निर्वचन का अनुसरण किया जाय, जैसा व्योम-शिवाचार्य[2] तथा श्रीधराचार्य का अभिप्राय भी प्रतीत होता है, तब तो कपाल-द्वय-संयोग में भी घट-निरूपित असमवायि-कारणता नहीं रह सकेगी, क्योंकि घट-समवायि-कारण कपाल से जन्य यावत्-कार्यान्तर्गत कपाल-

---

कि उदयनाचार्य का यह अभिप्राय नहीं रहा होगा, क्योंकि यदि ऐसा अभिप्राय होता तो वे (उदयनाचार्य) "यथा च प्रत्यासत्यविशेषेऽपि नैषामसमवायि-कारणत्वम् तथा वक्ष्यते" (किर०, पृ० ४१५–४१६) इस तरह का निर्देश नहीं किये होते अपि तु "प्रत्यासत्यविशेषेऽपि शिष्ट-परम्पराऽनभिमतत्वेन नैषाम्···" ऐसा ही कहे होते। 'तथा वक्ष्यते' से प्रतीत होता है कि इस विषय में उनका विचार कुछ अधिक तथा तर्क-पूर्ण रहा होगा। परन्तु किरणावली की पूर्णतः अनुपलब्धि के कारण वर्धमानोपाध्याय की टीका को हीं शरण मान कर उपर्युक्त विवरण किया गया है।

१. कि० प्र० दी०, पृ० ३४।

२. ···बुद्ध्यादेः···प्रतिनियत-कार्योत्पत्तावेव सामर्थ्यावधारणात्—व्योम०, पृ० ४३८।

रूप की उत्पादकता कपाल-संयोग में नहीं है। अतः अवधृत-सामर्थ्यत्व के निर्वचन में अनुपपत्ति होने से प्रथम-पक्ष, अर्थात् अवधृत-सामर्थ्यत्व के आधार पर आत्म-विशेष-गुणों में असमवायि-कारणत्व का परित्याग, उचित नहीं प्रतीत होता है। अतः द्वितीय-पक्ष, अर्थात् प्रामाणिक-व्यवहार में असमवायि-कारण के रूप में अनभ्युपगत होने के कारण आत्म-विशेष-गुण में असमवायि-कारणता का अनभ्युपगम, ही अनुसरणीय है। एवञ्च असमवायि-कारण के लक्षण में आत्म-विशेष-गुण-भिन्नत्व का अनु-प्रवेश अवश्य कर्त्तव्य है।

(आ) परम्परा-प्रत्यासत्ति

परम्परा-प्रत्यासत्ति का अर्थ है कार्य तथा असमवायि-कारण में साक्षात्-सम्बन्ध का अभाव। कारण तथा कार्य में परस्पर-सम्बन्ध अत्यावश्यक है, अन्यथा कार्य-कारण-भाव ही नहीं बनेगा। अतः कार्य तथा असमवायि-कारण का भी सम्बन्ध अपेक्षित है। साक्षात्-सम्बन्ध-स्थल में तो एक ही पदार्थ (= कपाल) में कार्य (= घट) तथा असमवायि-कारणत्वेन अभिमत पदार्थ (= कपाल-संयोग) का परस्पर सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है। यहाँ कार्य तथा असमवायि-कारण को परस्पर-सम्बद्ध होने के लिए किसी तत्वान्तर की अपेक्षा नहीं होती है। अत एव इसे साक्षात्-प्रत्यासत्ति कही जाती है। परन्तु परम्परा-प्रत्यासत्ति-स्थल में तो कार्य तथा असमवायि-कारण के परस्पर-सम्बन्ध के लिए तत्वान्तर की अपेक्षा होती है। जैसे घट-समवेत नील-रूप का असमवायि-कारण कपाल-समवेत नील-रूप होता है। यहाँ कार्य है घट का नील-रूप तथा कारण है कपाल का नील-रूप। ये दोनों किसी भी एक पदार्थ में सीधे परस्पर-सम्बद्ध नहीं हो पाते हैं, क्योंकि कार्य, नील-रूप, घट-समवेत है और उसका कारण है कपाल-समवेत। अतः यहाँ कार्य से उसके कारण को सम्बद्ध होने के लिए कार्य-समवायि-कारणीभूत घट के साहाय्य की अपेक्षा करनी पड़ती है। सारांश यह है कि साक्षात्-प्रत्यासत्ति के स्थल में कार्य से अपने समवायि-कारण में ही उस कार्य का असमवायि-कारण उससे सम्बद्ध हो जाता है जब कि परम्परा-प्रत्यासत्ति-स्थल में असमवायि-कारण अपने कार्य से अपने समवायि-कारण में सम्बद्ध होने में असफल होकर (यह असफलता इस लिए होती है कि असमवायि-कारण के समवायि-कारण में उसका कार्य समवेत नहीं रहता है) अपने समवायि-कारण में समवेत कार्य-समवायि-कारण के द्वारा अपने कार्य से सम्बद्ध हो पाता है। यद्यपि यह सम्बन्ध गुरु-तर है तथापि आवश्यकता पड़ने पर तो गुरुतर उपाय का भी अवलम्बन करना ही पड़ता है। अतः परम्परा-प्रत्यासत्ति भी यथावसर मान्य होती है।

वैशेषिक-सम्प्रदाय में साक्षात्प्रत्यासत्ति को 'लघ्वी प्रत्यासत्ति' तथा परम्परा-प्रत्यासत्ति को 'महती प्रत्यासत्ति' भी कहा जाता है[1]। इसका कारण ज्ञान-गत[2] लघुत्व तथा गुरुत्व ही प्रतीत होता है।

असमवायि-कारण के विशेष विचार के लिए 'मुक्तावली' भी अवलोकनीय है।

इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि गुण तथा[3] कर्म ही असमवायि-कारण होते हैं[4]। द्रव्य तथा कर्म[5] का असमवायि-कारण संयोग ही होता है। गुण का असमवायि-कारण कभी समान-जातीय गुण (जैसे पट-रूप का तन्तु-रूप), कदाचित् असमान-जातीय गुण (जैसे, द्व्यणुक-परिमाण का परमाणु-गत द्वित्व-संख्या) और कभी कर्म (जैसे, संयोग, विभाग तथा वेग का) होता है।

(ग) निमित्त-कारण

समवायि-कारण तथा असमवायि-कारण से भिन्न कारण को निमित्त-कारण कहा जाता है। जैसे घट के प्रति दण्ड आदि निमित्त-कारण हैं। परन्तु ईश्वरेच्छा, दिक्, काल तथा अदृष्ट आदि तो कार्य-मात्र के प्रति निमित्त-कारण माने जाते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक कारण में एक धर्म रहता है जिसका नाम कारणता है। इस कारणता को नियन्त्रित करने वाला जो धर्म होता है उसे कारणताऽवच्छेदक कहा जाता है। जैसे कपाल घट का कारण है। इस कपाल में कारणता है। यहाँ कारणता को नियन्त्रित करने वाला धर्म है कपालत्व। अतः कपालत्व यहाँ कारणताऽवच्छेदक कहलाता है। इसको स्पष्ट करने के लिए हमे पहले कपाल में रहने वाले धर्मों का विमर्श कर लेना चाहिए। कपाल एक पदार्थ है, अतः उसमें पदार्थत्व है; वह एक द्रव्य है, अतः उसमें द्रव्यत्व है; वह एक पृथिवी का प्रकार है, अतः उसमें पृथिवीत्व है; और स्वयम् कपाल है इसलिए

---

१. असमवायि-कारणत्वञ्च ....कार्यैकार्थ-समवायात् कारणैकार्थ-समवायाद्वा। तत्र आद्या लघ्वी द्वितीया महती इति वैशेपिक-परिभाषा—उपस्कार—वै० सू० १०।२।३।

२. उपस्कार—वै० सू० १।१।८।

३. कारि० १।२३।

४. समवायेन कार्यं प्रति समवायादिना गुण-क्रिययोरेव कारणत्व-दर्शनात्—न्या० च०, का० १।२३।

५. यह विषय वैशेषिक-शास्त्रीय कर्मोत्पत्ति-प्रक्रिया के अवलोकन से स्पष्ट होता है।

उसमें कपालत्व भी है। इस प्रकार, एक ही कपाल में हम चार धर्म—पदार्थत्व, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व तथा[1] कपालत्व—की स्थिति देख रहे हैं। अब यदि घट के लिए कपाल को एक पदार्थ के रूप में कारण माना जाय, तब तो यह मानना होगा कि पदार्थ से घट की उत्पत्ति होती है। एवञ्च किसी भी पदार्थ से घट की उत्पत्ति होनी चाहिए; परन्तु उत्पत्ति होती तो नहीं है। अतः पदार्थत्व को कारणताऽवच्छेदक नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार, द्रव्यत्व को कारणताऽवच्छेदक मानने पर सभी द्रव्यों से और पृथिवीत्व को कारणताऽवच्छेदक मानने पर सभी पार्थिव पदार्थों से घट की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जो अयुक्त है। अतः मानना पड़ता है कि कपाल पदार्थ, द्रव्य, अथवा पृथिवी होने के कारण नहीं अपि तु "कपाल होने के कारण" घट का कारण है। "कपाल होने के कारण" (या "कपाल के रूप में") को ही "कपालत्वेन रूपेण" कहा जाता है, और नव्य-न्याय की भाषा में इसे ही 'कपालत्वाऽवच्छिन्न' शब्द से अभिव्यक्त किया जाता है। इसी रीति से अन्यत्र भी कारणताऽवच्छेदक का निर्णय करना चाहिए।

अन्त में, कारण के प्रसङ्ग में यह समझना चाहिए कि कारणता दो प्रकारकी होती है—फलोपधायकता एवम् स्वरूप-योग्यता। कार्योत्पत्ति में जिस कारण-व्यक्ति का उपयोग होता है उसमें फलोपधायकता-स्वरूप कारणता रहती है और जिसका उपयोग नहीं किया जाता है परन्तु कार्योत्पादन-सामर्थ्य उस कारण में रहता है उसमें स्वरूप-योग्यता-स्वरूप कारणता रहती है। जैसे लेखनी लेखन क्रिया के प्रति कारण है। अब कल्पना कीजिए कि राम के पास दो लेखनियाँ हैं, जिन्हें हम 'क' लेखनी तथा 'ख' लेखनी कह सकते हैं। राम को एक पत्र लिखना है। राम ने अपनी 'क' लेखनी से पत्र लिखा। इस लेखन-क्रिया में 'क' लेखनी का उपयोग किया गया, 'ख' लेखनी का नहीं, यद्यपि 'ख' लेखनी से भी पत्र लिखा जा सकता था। अतः हम राम की 'क' लेखनी में, पत्र-लेखन-स्वरूप कार्य की दृष्टि से, फलोपधायकता-स्वरूप कारणता और 'ख' लेखनी में स्वरूप-योग्यता-रूप कारणता मान सकते हैं।

एक अन्य रीति से भी कारणता के दो भेद हैं :—साधारण-कारणता तथा

---

१. यहाँ यह स्पष्ट है कि इन चार धर्मों में पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर का क्षेत्र छोटा पड़ता है। यदि छोटे धर्म (प्रकृत में लघुतम धर्म, कपालत्व) से उपपत्ति हो जाय तो बड़े धर्म को अवच्छेदक नहीं मानना चाहिए। इसी विषय में यह नियम है :—"सम्भवति लघौ धर्मे गुरौ तदभावः," अथवा "विशेष धर्मेण व्यभिचाराऽज्ञाने सामान्य-धर्मस्य अन्यथा-सिद्धत्वम्"।

असाधारण-कारणता । जो सभी कार्यों के लिए कारण होते हैं उनमें रहने वाली कारणता को साधारण-कारणता कहा जाता है । इसी को हम नव्य-न्याय की शब्दावली में "कार्यत्वाऽवच्छिन्न-कार्यता-निरूपिता कारणता" कहते हैं । इसके आश्रय होते हैं—दिक्[1], काल, अदृष्ट, ईश्वरेच्छा तथा प्रतिबन्धकाभाव[2] आदि । असाधारण-कारणता का अर्थ है कार्य-विशेष के प्रति जो कारण-विशेष होते हैं उनमें रहने वाली कारणता । इसी को "कार्यत्व-व्याप्य-धर्मावच्छिन्न-कार्यता-निरूपिता कारणता" कहा जाता है । जैसे घट के कारण कपाल में रहने वाली कारणता तथा पट के कारण तन्तु में रहने वाली कारणता आदि । यह कारणता भी दो प्रकार की होती है समुदित-पर्याप्त तथा प्रत्येक पर्याप्त । घटादि कार्य के दण्डादि कारण में रहनेवाली कारणता है समुदित-पर्याप्त । इसी कारणता के विषय में "दण्डादि-न्यायेन कारणता" का व्यवहार है । प्रत्येक-पर्याप्त कारणता वह्नि के कारण तृण-संयोग आदि में रहती है ।[3] इसी विषय में "तृणाऽरणि-मणि-न्यायेन कारणता" का व्यवहार होता है ।

अब, कारण-स्वरूप-निरूपण के बाद, हमें सृष्टि-प्रक्रिया का अवलोकन करना चाहिए ।

सृष्टि-प्रक्रिया

परमेश्वर की सृष्टि-विषयक इच्छा से अनुगत, फलोपधानोन्मुख-अदृष्ट सापेक्ष आत्म-परमाणु-संयोग से उत्पन्न वायु-परमाणु-समवेत क्रिया से जन्य परमाणु-द्वय-संयोग से वायवीय द्व्यणुकों की निष्पत्ति होती है । पुनः तीन तीन सक्रिय द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है । यह त्र्यणुक दो द्व्यणुकों से ही उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि त्र्यणुक में प्रत्यक्ष-विषयत्व-सिद्ध महत्परिमाण की उपपत्ति के लिए कारण-बहुत्व[4] की आवश्यकता है । बहुत्व

---

१. इसका उपपादन "दिक्कालयोः पञ्च-गुणवत्त्वम् सर्वोत्पत्तिमतां निमित्त-कारणत्वञ्च" (प्र० पा० भा०) की व्याख्याओं में देखना चाहिए ।

२. इसके विवरण के लिए "भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः" (न्या० कु० १।१०) का मनन करना चाहिए ।

३. इसका उपपादन स्पष्ट रूप में "प्रवाहो नादिमानेष न विजात्येकशक्तिमान् । तत्त्वे यत्नवता भाव्यमन्वय-व्यतिरेकयोः" (न्या० कु० १।६) की व्याख्या में किया गया है । जिज्ञासुओं को वहीं इसका अवलोकन करना चाहिए ।

४. परिमाण के प्रसङ्ग में यह बतलाया जायगा कि कारण-गत-महत्त्व या कारण-बहुत्व से कार्य में महत्त्व की उत्पत्ति होती है । प्रकृत में पूर्व-कल्प के असम्भव होने से उत्तर-कल्प का अनुसरण किया गया है ।

का निर्वाह तीन द्व्यणुकों की स्वीकृति से ही हो जाता है, अतः अधिक की कल्पना नहीं की जाती है। यहाँ यह प्रश्न नहीं किया जा सकता है कि चार परमाणु ही द्व्यणुकारम्भ-क्रम से एक त्र्यणुक का उत्पादन करें, और इस प्रकार, त्र्यणुक में कारण-बहुत्व की उपपत्ति हो जाने से दो ही द्व्यणुकों से त्र्यणुक का उद्भव मानना चाहिए, क्योंकि आरभ्यारम्भक-वाद उचित नहीं है, यह किरणावली में बतलाया गया है।

उपर्युक्त रीति से ही चतुरणुक (चार त्र्यणुकों के संयोग से निष्पन्न पदार्थ) एवम् पञ्चाणुक प्रभृति की उत्पत्ति-परम्परा से महा-वायु की उत्पत्ति होती है। यह महावायु मूर्त्तान्तरानुत्पत्ति के कारण अप्रतिबद्ध होकर अत्यन्त कम्पमान होता रहता है।

महा-वायु की उत्पत्ति के पश्चात्, उपर्युक्त क्रम से ही उसी महा-वायु में स्थूल पृथिवी तथा स्थूल तेज[1] की उत्पत्ति होती है[2]।

उपर्युक्त रीति से चार महा-भूतों की उत्पत्ति के बाद परमेश्वर के अभिध्यान (ब्रह्माण्डोत्पत्ति-विषयक इच्छा अथवा ज्ञान) से ही पार्थिव-परमाणु से उपष्टब्ध तैजस-परमाणुओं से हिरण्मय[3]-पिण्ड (ब्रह्माण्ड) की उत्पत्ति होती है। उसी हिरण्मय ब्रह्माण्ड में तदन्तर्गत भूः आदि लोकों के पितामह, आदि-शरीरी ब्रह्मा, का उत्पादन कर वे परमेश्वर उन्हें (ब्रह्मा को) प्रजा-सर्ग में नियुक्त कर देते हैं। महेश्वर-सहकृत ब्रह्मा[4] जीवात्माओं के कर्म-फल को समझ कर दक्ष आदि प्रजापतियों के क्रम से अपने मुखादि से ब्राह्मणादि का उत्पादन करते हैं[5]।

इस सृष्टि की अवधि ब्रह्मा का वर्ष-शत है। ब्रह्मा के वर्ष-शत (१०० वर्षों) का अर्थ निम्न-लिखित स्मृतियों में बतलाया गया है :—

"मानुषेणैक-वर्षेण देवानां दिनमुच्यते।
तेषां शत-त्रयं षष्ठि-युक्तं वर्षस्तु दैवतः॥
दैव-वर्ष-सहस्राणि द्वादशैव चतुर्युगम्।
चतुर्युग-सहस्रन्तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते॥

---

१. यद्यपि पयः-पावकयोः स्वाभाविको विरोधः तथाऽपि अदृष्ट-वशेन आधाराऽऽधेय-भावो नानुपपन्नः—न्या० क०, पृ० १२९

२. अयं च क्रमः श्रुति-सिद्धः—सूक्ति, पृ० २८१

३. ब्रह्माण्डोत्पत्तौ पार्थिव-परमाणूनामुपष्टम्भकत्व-कथनेन तस्य सुवर्णमयत्वमुक्तम्भवति—सेतु, पृ० २८८।

४. किर०, पृ० ३१८ (ए० सो०); सूक्ति, पृ. २८२।

५. विशेष विवरण के लिए देखिए—'पदार्थ-धर्म-संग्रह' तथा उसके व्याख्यान।

रात्रिश्चैतावती तस्य ताभ्यां पक्षादि-कल्पना ॥"

इस प्रकार दिन-रात की स्थिति को समझ कर ब्रह्मा के ३६५ दिनों का एक वर्ष होता है। और इस प्रकार के एक सौ वर्षों तक सृष्टि की स्थिति रहती है। तदनन्तर खण्ड-प्रलय होता है। इस खण्ड-प्रलय का भी कारण ईश्वरेच्छा ही है—यह विषय ईश्वर-निरूपण-प्रसङ्ग में बतलाया जा चुका है। महा-प्रलय के बाद तो सृष्टि होती ही नहीं है। अतः यहाँ प्रलय का सम्बन्ध[1] खण्ड-प्रलय से ही है। आगे प्रलय का निरूपण किया जा रहा है :—

प्रलय अथवा सृष्टि-संहार

संहार की प्रक्रिया के विवरण से पहले प्रलय का प्रसाधन अपेक्षित है, क्योंकि प्रलय के असिद्ध होने पर संहार का विवरण असम्भव हो जायगा। अतः प्रलय-सिद्धि का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

प्रलय-विरोधी मीमांसकों का मत

वेद के अनन्य भक्त मीमांसक ध्वन्यात्मक-शब्द-राशि को नित्य मानकर वेद की नित्यता को स्थापित करने में लगे हुए हैं। यदि इस जगत् का आदि तथा अन्त हो तब तो जगदन्तर्गत ध्वन्यात्मक-शब्द-राशि-स्वरूप वेद का भी आदि एवम् अन्त मानना ही होगा, फलतः वेद-प्रामाण्योपपादन के लिए प्रमाण-भूत ईश्वर की कल्पना, स्वतः-प्रामाण्य-वाद-परित्याग आदि बहुत-सी अनुपपत्तियाँ मीमांसक-मत में आ जाती हैं। अतः मीमांसक लोग प्रलय का विरोध करते हैं। उनके तर्क निम्न-लिखित हैं :—

(१) हम लोग देखते आ रहे हैं कि प्रत्येक अहो-रात्र के पहले एक अन्य अहो-रात्र अवश्य रहता है। जैसे एकादशी-तिथि का अहो-रात्र दशमी तिथि के अहो-रात्र के पश्चात् आता, इसी तरह दशमी का अहो-रात्र नवम्यहोरात्र-पूर्वक है। एवञ्च यह व्याप्ति बन जाती है—यत्र यत्र अहो-रात्रत्वम् तत्र तत्र अहो-रात्र-पूर्वकत्वम्।" अब जो लोग प्रलय मानेंगे उनके यहाँ प्रलयावधि के पश्चात् सर्ग के प्रथम अहो-रात्र में यह व्याप्ति समन्वित नहीं होगी। परन्तु उपर्युक्त व्याप्ति में सर्वानुभव-सिद्धत्व होने के कारण व्याप्ति की प्रामाणिकता का अपलाप नहीं हो सकता। फलतः यह व्याप्ति प्रथम अहो-रात्र की सिद्धि का प्रतिरोध करती है, अर्थात् सभी अहो-रात्रों में अहो-रात्र-पूर्वकत्व का व्यवस्थापन कर सर्गादि के प्रतिरोध के द्वारा सर्गान्त का प्रतिरोध करती है। इस पूर्व-पक्ष

---

१. सकल-कार्य-द्रव्यानाधार-कार्याधिकरण-समयः खण्ड-प्रलयः। सकल-भाव-कार्य-लयः महा-प्रलयः—न्या० को० (प्रलय १म्|र्थ)

सा सारांश यह है—"विप्रतिपन्नम् (सर्गादित्वेन प्रलय-वादिभिः स्वीकृतम्) अहो-रात्रम् अहो-रात्र-पूर्वकम् अहो-रात्रत्वात् प्रतिदिनमनुभूयमानाहो-रात्रवत् ।"

(२) जीवन का प्रत्येक क्षण प्रायशः कर्म-व्यापृत ही रहता है। ये कर्म धर्माऽधर्म के द्वारा फलोत्पादक होते है। सभी कर्मों के फल का भोग भी एक ही साथ नहीं होता है अपि तु क्रमशः । जैसे जीवन का प्रत्येक क्षण कर्म-व्यापृत रहता है उसी प्रकार प्रत्येक क्षण में पूर्व-पूर्व-कृत कर्म का फल भी मिलता रहता है। ऐसी स्थिति में एक जीवात्मा के सभी कर्मों के प्रभाव का निरोध भी एक काल में सम्भव नहीं है—यह स्पष्ट है। अब यदि प्रलय माना जाय तब तो सभी जीवात्माओं के स्थूल-शरीर का, जो प्रारब्ध-कर्म का फल है एवम् जिसके द्वारा कर्म-फल का उपभोग होता है, नाश मानना पड़ेगा, अर्थात् प्रलय-काल में सभी जीवात्माओं के अनन्त अदृष्टों की वृत्ति (फल-प्रदत्व) का निरोध मानना पड़ेगा, जो कथमपि सम्भव नहीं है, क्योंकि जब पूर्वोक्त रीति से एक जीवात्मा के भी सभी अदृष्ट एक साथ निरुद्ध-वृत्तिक नहीं हो सकते हैं तब फिर अनन्त जीवात्माओं के अनन्त अदृष्ट एक-काल में निरुद्ध-वृत्तिक हो जायेंगे—यह बात उपहासास्पद है। अतः एक ही समय कर्म-मात्र के निरुद्ध-वृत्तिकत्व के असम्भव होने से कर्म-मात्र के एक-कालिक वृत्ति-निरोध पर निर्भर प्रलय सिद्ध नहीं हो सकता है। इस पक्ष का संक्षिप्त रूप है :—"विवादाध्यासितानि कर्माणि न युगपन्निरुद्ध-वृत्तीनि, विषम-विपाक-समयत्वात् , सम्प्रतिपन्न-कर्मवत् ।"

(३) तीसरी अनुपपत्ति (प्रलय मानने में) यह भी है कि ब्राह्मण से उत्पन्न को ब्राह्मण, क्षत्रिय से उत्पन्न को क्षत्रिय, इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था होती है। यदि प्रलय माना जाय तब तो सर्गादि में सर्व-प्रथमोत्पन्न व्यक्ति में ब्राह्मणादि-जन्यत्व के अभाव होने से वर्ण-व्यवहार का विलोप हो जायेगा। एवञ्च, ब्राह्मणादि-व्यवहार की उपपत्ति में ब्राह्मण-जन्यत्व की अवश्यापेक्षा से प्रलय की सिद्धि विघटित हो जाती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि "यत्र यत्र ब्राह्मणत्वम् तत्र तत्र ब्राह्मण-जन्यत्वम्" इस सर्वानुभव-सिद्ध व्याप्ति से विरोध होने के कारण प्रलय मानना उचित नहीं है।

(४) चतुर्थ अनुपपत्ति यह हैं कि व्युत्पन्न प्रयोजक तथा व्युत्पन्न प्रयोज्य के व्यवहार को देखकर शब्दार्थ-सम्बन्ध का अवधारण तटस्थ व्यक्ति करता है—यह सर्वानुभव-सिद्ध विषय है। जैसे—देवदत्त है व्युत्पन्न प्रयोजक, यज्ञदत्त है व्युत्पन्न प्रयोज्य और विष्णुदत्त है तटस्थ व्यक्ति। देवदत्त यज्ञदत्त से कहता है—'गाम् आनय।' इस वाक्य के श्रवण के पश्चात् यज्ञदत्त गो-शाला जाता है और वहाँ से एक सास्नादिमत्पदार्थ को लाकर देवदत्त के

सामने प्रस्तुत कर देता है। अब विष्णुदत्त, जो गो-शब्दार्थ तथा 'आनय' पदार्थ को नहीं जानता है, यह सोचता है कि यज्ञदत्त की प्रवृत्ति सास्नादिमान् प्राणी के लिए जो हुई है वह (प्रवृत्ति) देवदत्त के 'गामानय' इस वाक्य के सुनने के पश्चात् ही हुई है, अतः इसी वाक्य का अर्थ है 'सास्नादिमत्पदार्थ को लाना'। परन्तु अभी विष्णुदत्त को पूरे वाक्य का उपर्युक्त अर्थ ज्ञात हुआ है; किस पद का अर्थ 'सास्नादिमत् पदार्थ' है और किस पद का 'लाना' अर्थ है—इस प्रकार का विशेष-ज्ञान नहीं हुआ है। कुछ क्षणों के पश्चात् उस गाय को उपद्रव करते देखकर देवदत्त पुनः यज्ञदत्त से कहता है—'गाम् बधान'। यज्ञदत्त उस गाय को बांध देता है। अब विष्णुदत्त पुनः पूर्ववत् सोचता है कि यतः सास्नादिमत्पदार्थ के बांधने में यज्ञदत्त की प्रवृत्ति देवदत्त के वाक्य को सुनने पर ही हुई है, अतः 'सास्नादिमत्पदार्थ का बांधना' यह अर्थ 'गाम् बधान' इसी वाक्य का है। अन्त में, विष्णुदत्त गाम्, आनय, बधान, इन तीनों पदों के अर्थ को समझ लेता है। उसका प्रकार यह है—दोनों वाक्यों के सुनने बाद विष्णुदत्त के समक्ष चार तत्त्व उपस्थित होते हैं, गो, आनयन-क्रिया तथा गो एवम् उसका बन्धन। अब विष्णुदत्त यह देखता है कि दोनों वाक्यों के अर्थों में सास्नादिमत्पदार्थ की उपस्थिति समान है परन्तु क्रिया भिन्न-भिन्न है। अतः दोनों वाक्यों में जो समान अंश है उसी का अर्थ दोनों वाक्यार्थों में समान रूप में उपस्थित सास्नादिमत्पदार्थ है। दोनों वाक्यों में 'गाम्' इतना अंश समान है, अतः इसी का अर्थ है (कर्मत्व-विशिष्ट) सास्नादिमत्-पदार्थ। प्रथम-वाक्य में 'गाम्' से अतिरिक्त 'आनय' पद था, अतः उसका अर्थ है आनयनानुकूल कृति, एवम् द्वितीय वाक्य में 'गाम्' से अतिरिक्त 'बधान' पद था अतः उसी का अर्थ बन्धनानुकूल कृति है। इस प्रकार व्युत्पन्न प्रयोजक तथा व्युत्पन्न प्रयोज्य के व्यवहार को देखकर शब्द में 'समय' (अयं शब्दः अस्मिन्नर्थे शक्तः) का ज्ञान विष्णुदत्त को होता है। देवदत्त तथा यज्ञदत्त को भी इसी प्रकार ज्ञान हुआ होगा। अतः सिद्ध है कि सभी व्यक्तियों को 'समय-ज्ञान व्युत्पन्न व्यक्तियों के व्यवहार से ही होता है। इसकी उपपत्ति के लिए इस जगत् को अनादि मानना चाहिए। यदि प्रलय मानकर सादि माना जाय तब तो सृष्टि के प्रारम्भ में व्युत्पन्न व्यक्ति के अभाव होने से "न ह्यज्ञाऽव्यापितो विज्ञः" के अनुसार पूरी सृष्टि में किसी के द्वारा शब्दार्थ-समय-ग्रहण नहीं हो सकेगा, क्योंकि समय-ग्रहण प्रयोजक-व्यवहार के निर्वाहक व्युत्पन्न व्यक्ति की अनुपलब्धि सर्वदा अनुवर्तमान रहेगी। परन्तु, सम्प्रति, लोगों में शब्दार्थ-सम्बन्ध की उपलब्धि प्रमाण-सिद्ध है, अतः तन्मूल-भूत-व्यवहार के

निर्वाहक व्युत्पन्न व्यक्तियों की बीजाङ्कुर-तुल्य कल्पना इस जगत् के प्रवाह में अनाद्यनन्तत्व का प्रख्यापन करती हुई प्रलय के सिद्धान्त को समाप्त कर देती है।

(५) पञ्चम अनुपपत्ति यह है कि मनुष्य अनुकरण-शील होता है। अत एव गीता में भी कहा गया है :—

"यद् यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥"

इससे यह स्पष्ट है कि यदि एक व्यक्ति घट का निर्माण करता है तो पहले उसने किसी से घट-निर्माण-कला को सीख लिया होगा। यदि देवदत्त घट बनाता है तो उसे घट-निर्माण-विधि की शिक्षा के लिए चैत्र के यहाँ जाना ही पड़ा होगा। इसी प्रकार, चैत्र ने भी कहीं सीखा ही होगा। जिससे चैत्र ने सीखा होगा, वह भी कही शिक्षा पाकर ही घट बनाने की शिक्षा देता होगा। इस प्रकार शिक्षक तथा शिष्य की अनवच्छिन्न परम्परा है—यह सिद्ध है। अब यदि प्रलय माना जाय तब तो सर्गादि में उत्पन्न प्रथम पुरुष को शिक्षा देने वाला उससे पूर्व में उत्पन्न कोई भी निपुण पुरुष नहीं मिलेगा, फलतः शिक्षक-परम्परा के अभाव हो जाने से शिष्य-परम्परा का अभाव होगा और इस तरह घटादि-कार्य-परम्परा को भी विच्छिन्न हो जाना चाहिए था। परन्तु घटादि-कार्य-परम्परा प्रचलित है, अतः शिक्षक-परम्परा को भी अनुवर्त्तमान (अविच्छिन्न-प्रवाह) मानना ही होगा। एवञ्च प्रलय की सिद्धि नहीं होती है।

उपर्युक्त विवरण का सारांश यह है :—

(१) यत्र यत्र अहो-रात्रत्वम् तत्र तत्र अन्याहो-रात्र-पूर्वकत्वम्;

(२) यत्र यत्र विषम-विपाक-समयत्वम् तत्र तत्र न युगपन्निरुद्ध-वृत्तिकत्वम्;

(३) यत्र यत्र ब्राह्मणत्वम् तत्र तत्र ब्राह्मण-जन्यत्वम्;

(४) यत्र यत्र शाब्द-व्यवहारत्वम् तत्र तत्र व्युत्पन्न-व्यवहार-पूर्वकत्वम्;

(५) यत्र यत्र घटादि-निर्माणत्वम् तत्र तत्र निर्देशक-पूर्वकत्वम्।

ये पाँच व्याप्तियाँ सर्वजनानुभव-सम्वेद्य हैं। अतः इनकी प्रामाणिकता में परतः-प्रामाण्य-वादी नैयायिक-वैशेषिक को भी विप्रतिपन्न नहीं होना चाहिए। ये व्याप्तियाँ स्पष्ट रूप में प्रलय तथा सर्गादि के प्रतिबन्धक हैं, जैसा पहले बतलाया जा चुका है। अतः प्रलय नाम का कोई तत्त्व नही है। यही प्रलय-विरोधी मीमांसकों के पूर्व-पक्ष का आशय है।

प्रलल के समर्थक न्याय-वैशेषिक-सम्प्रदाय का, उपर्युक्त पूर्व-पक्ष के विरोध

में, कथन है कि कोई भी उपर्युक्त युक्ति प्रलय का विरोध नहीं कर सकती है। उत्तर-पक्ष का अभिप्राय निम्न-लिखित है :—

(१) प्रथम युक्ति अ-प्रयोजक है, क्योंकि यदि उसका तात्पर्य है "यत्र यत्र अहो-रात्रत्वम् तत्र तत्र अन्याऽहोरात्राव्यवहित-पूर्वकत्वम्" तब यह व्याप्ति सृष्टि-कालीनत्व उपाधि से ग्रस्त हो जाती है। हमलोगों को जहाँ भी अन्याऽहोरात्राव्यवहित-पूर्वकत्व (= अन्याहोरात्राऽव्यवहितोत्तर-जातत्व) की प्रतीति होती है सर्वत्र सृष्टि-कालीनत्व धर्म की भी प्रतीति होती है। इसलिए इसमें साध्य-व्यापकत्व भी है—"यत्र यत्र अहो-रात्राऽव्यवहित-पूर्वकत्वम् तत्र तत्र सृष्टि-कालीनत्वम्", और साधनाऽव्यापकत्व भी—"यत्र यत्र अहो-रात्रत्वम् तत्र तत्र सृष्टि-कालीनत्वं न, विप्रतिपन्ने सृष्ट्वादि-भूताऽहो-रात्रे सृष्टि-कालीनत्वाभा-वात्।" एवञ्च "साध्य-व्यापकत्वे सति साधनाऽव्या-पकत्वमुपाधित्वम्" के अनुसार उपर्युक्त अनुमान—विप्रतिपन्नम् अहो-रात्रम् अहो-रात्राऽव्यवहित-पूर्वकम् अहो-रात्रत्वात्—में अव्यवहित सृष्टि-कालीनत्व उपाधि हो जाती है। यह उपाधि यद्यपि विप्रतिपन्न अहो-रात्र में ही साधनाऽ-व्यापक होने के कारण निश्चित नहीं है तथापि शङ्कित तो अवश्य ही है। एवञ्च इस शङ्कित उपाधि से युक्त व्याप्ति के आधार पर—

"यावत्त्याऽव्यतिरेकित्वं शतांशेनाऽपि शङ्क्यते।
विपक्षस्य कुतस्तावत् हेतोर्गमनिका-बलम्।"

के उद्घोषक मीमांसक प्रलय का प्रतिरोध कैसे कर सकते हैं ?

द्वितीय युक्ति भी अप्रयोजक है, क्योंकि जब सुषुप्ति-काल में अनेक जीवात्माओं के अदृष्ट की वृत्ति का निरोध हो जाता है तो ईश्वरेच्छा के कारण सभी जीवात्माओं के अदृष्ट का भी निरोध होगा—यह सिद्ध ही है। इस विषय में जयन्त भट्ट का मत निम्न-लिखित है—

"ननु च युगपदेव सकल-जगत्प्रलय-करणमनुपपन्नम्, अविनाशिनां कर्म-णाम् फलोपभोग-प्रतिबन्धाऽसम्भवादिति चोदितम् ? न युक्तमेतत्; ईश्वरेच्छा-प्रतिबद्धानाङ्कर्मणां स्तिमित-शक्तीनाम् अवस्थानात्। तदिच्छा-प्रेरितानि कर्माणि फलम् आदधति तदिच्छा-प्रतिबद्धानि च तत्रोदासते। कस्मादेवमिति चेत् ? अचेतनानां चेतनाऽनधिष्ठितानां[1] स्व (तः) कार्य-करणानुपलब्धेः।"

तृतीय युक्ति भी प्रलय-प्रतिरोध-समर्थ नहीं है, क्योंकि यहाँ भी उपाधि है। अनुमान का स्वरूप पूर्व-पक्षी के अनुसार निम्न-लिखित हो सकता है—

"विप्रतिपन्नाः (सृष्टि-प्रारम्भ-कालीनाः) ब्राह्मणाः ब्राह्मणसन्तान-जन्मानः ब्राह्मणत्वात्, सम्प्रतिपन्न-ब्राह्मणवत्।"

१. न्या० म०, पृ० १८६ (भाग—१)

इस अनुमान में योनिजत्व उपाधि है। इसमें साध्य-व्यापकत्व—"यत्र यत्र ब्राह्मण-सन्तान-जन्यत्वम् तत्र तत्र योनिजत्वम्" तथा साधनाऽव्यापकत्वभी है—"यत्र यत्र ब्राह्मणत्वम् तत्र तत्र योनिजत्वं न, विप्रतिपन्न-ब्राह्मणे (= सर्गादिकालोत्पन्न-ब्राह्मणे) योनिजत्वाऽभावात्"। दूसरी बात यह भी है कि जैसे प्रथमतः गोमय (Cow-dung) से तथा पश्चात् वृश्चिक (Scorpion) से वृश्चिक की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार प्रथमतः ब्राह्मणादि की भी उत्पत्ति ईश्वरेच्छा-प्रयुक्त अदृष्ट-विशेषानुगृहीत भूत से ही होती है और पश्चात् ब्राह्मण से। ब्राह्मणत्वादि-व्यवहार का प्रयोजक ब्राह्मण-जन्यत्व नहीं है अपितु अदृष्ट-विशेषानुगृहीत-भूत-जन्यत्व ही है। भूत-जन्यत्व तो ब्राह्मणादि-शरीर में वर्तमान ही है।

चतुर्थ तथा पञ्चम युक्तियों से भी प्रलय की असिद्धि नहीं होती है, क्योंकि इन्द्रजाल करनेवाला जिस प्रकार कठ-पुतली को अपने मायाऽनुगृहीत-सूत्र के द्वारा सञ्चालित कर उस पुतली के द्वारा घटानयनादि कार्य के सम्पादन द्वारा देखनेवाले बालकों को व्युत्पन्न बना देता है उसी प्रकार विचित्र माया से सम्पन्न परमेश्वर भी सृष्टि के आरम्भ में स्वयमेव प्रयोज्य-प्रयोजक आदि के स्वरूप में प्रस्तुत होकर अपने मानस-पुत्रों को व्युत्पन्न बना देते हैं। अथवा श्रीधराचार्य का ही मत मानकर समाधान किया जा सकता है। उनका कथन निम्न-लिखित है—

"योनिज-शरीरो हि महता गर्भ-वासादि-दुःखेन विप्लुत-संस्कारो जन्मान्तरा-ऽनुभूतस्य सर्वस्य न स्मरति। ऋषयः प्रजापतयो मनवस्तु मानसाः अ-योनि-ज-शरीर-विशिष्टाऽदृष्ट-सम्बन्धिनो दृष्ट-संस्काराः कल्पान्तराऽनुभूतं सर्वमेव शब्दार्थ-व्यवहारम्[1] सुप्त-प्रतिबुद्धवत् प्रतिसन्दधते, प्रतिसन्दधानाश्च परस्परम् बहवो व्यवहरन्ति। तेषाम् व्यवहारात् तत्काल-वर्त्तिनाम् प्राणिनाम् व्युत्पत्तिः, तद्व्यवहाराच्चान्येषामिति उपपद्यते व्यवहारे परम्परया शब्दार्थ-व्युत्पत्तिः।

अतः प्रलय की सिद्धि में बाधक कुछ भी नहीं है। इसीलिए उदयनाचार्य का कथन है—

"वर्षादिवत् भवोपाधिः [2]वृत्ति-रोधः सुषुप्तिवत्।

---

१. न्या० क०, पृ० १३३, तुलना कीजिए—आदि-विदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तरानुभूत-श्रुति-स्मरण-सम्भवः, सुप्त-प्रबुद्धस्येव पूर्वेद्युरवगता-नामर्थानाम् अपरेद्युः—सां० त० कौ०, का० ५

२. न्या० कु० २।२। इसी कारिका की व्याख्या पहले की गई है। परन्तु उतनी व्याख्या से ही पूरी उपपत्ति नहीं होती है। अतः मूल-ग्रन्थ का अवलोकन अवश्य करना चाहिये। यहाँ तो केवल दिग्दर्शन कराया गया है।

उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णाः मायावत् समयादयः ॥"

मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत प्रलय-बाधक तर्कों के निरास के बाद प्रलय-साधक अनुमान का भी उपन्यास स्वयम् उदयनाचार्य ने ही किया है :—

"जन्म-संस्कार-विद्यादेः शक्तेः स्वाध्याय-कर्मणोः ।
ह्रास-दर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्[1] ॥"

इस सृष्टि में उपलभ्यमान सभी पदार्थों का क्रमिक ह्रास देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शनैः-शनैः इस सृष्टि का ह्रास होते-होते विनाश होगा ही। इसी स्थिति के कुछ निदर्शन हैं :—

(१) जन्म-ह्रास—पहले इच्छामात्र से, तदनन्तर पुत्रार्थ-मैथुन से, सम्प्रति कामार्थ-मैथुन से प्रजा की उत्पत्ति होती है, जिससे स्पष्ट है कि जन्म के क्रम में उत्तरोत्तर (अपमार्ग के अनुसरण के कारण) ह्रास होता जा रहा है।

(२) संस्कार-ह्रास—पहले गर्भाधान के पूर्व ही यज्ञाऽवशेष चरु में संस्कार किया जाता था जिससे भावी गर्भ से उत्पन्न होनेवाले शिशु में गुणाऽऽधान हो जाता था। पश्चात्, जब इस प्रक्रिया से काम नहीं चलने लगा तब गर्भ के संस्कार से उत्पत्स्यमान शिशु को संस्कृत करने की प्रथा आई। जब इसमें भी गुणाऽऽधान-सामर्थ्य का अभाव हो गया तब उत्पत्ति के बाद शिशु का संस्कार प्रारब्ध हुआ। इस प्रकार संस्कार में भी दैनन्दिन ह्रास होता जा रहा है।

(३) विद्या-ह्रास—इसका निरूपण महा-भाष्य-कार ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है :—

"पुरा-कल्पे एतदासीत्—संस्कारोत्तर-कालम् ब्राह्मणाः व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यः तत्तत्स्थान-करण-नादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दाः उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति—वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः अनर्थकम्[2] व्याकरणम्।"

सर्व-तत्त्व-दर्शी मनु ने भी इसी ह्रास को देखकर कहा है :—

"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदम्[3] वाऽपि यथा-क्रमम्" इत्यादि। इसी प्रकारः—

"षट्-त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।[4]
तदर्धिकं पादिकं वाऽपि ग्रहणान्तिकमेव वा ॥"

---

१. न्या० कु० २।३।

२. म० भा० (पस्पशाह्निक)।

३. म० सं० ३।२।

४. वही, ३।१। और भी देखिए—या० स्मृ० १।३२।

इत्यादि वचनों से भी विद्यादि का ह्रास सिद्ध होता है। अतः सिद्ध है कि सृष्टि के सभी कार्य-पदार्थों[1] का विनाश अवश्यमेव होगा, और वही तो प्रलय है। अतः प्रलय का सत्त्व अप्रतिबाध्य है।

सृष्टि-प्रलय-प्रकार

ब्राह्म-वर्ष-मान से सौ वर्षों के बीतने के बाद ब्रह्मा के मोक्ष-काल के प्रस्तुत होने पर जीवात्माओं को जन्म-मरण-जन्य दुःख-चक्र से कुछ समय तक मुक्त करने के लिए परमेश्वर की सञ्जिहीर्षा होती है, और उससे सभी जीवात्माओं के अदृष्ट की वृत्ति का निरोध हो जाता है। तदनन्तर, महेश्वरेच्छा और जीवात्मा तथा परमाणु के संयोग से अवयवि-पदार्थों के अन्त्यावयव परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति होती है, क्रिया से परमाणुद्वय-विभाग होता है, विभाग से पूर्व-संयोग नाश होता है, तदनन्तर द्व्यणुक का विनाश होता है। इसी क्रम से सभी त्र्यणुकादि का नाश होते-होते अन्त्यावयवी का भी नाश हो जाता है। सर्वत्र प्रलय-काल में कार्य-नाश में यही क्रम होता है। यह खण्ड-प्रलय तथा सर्ग की परम्परा का प्रवाह चलता है इसलिए अन्य किसी प्रकार की शङ्का या अनुपपत्ति का प्रदर्शन अनावश्यक है।

जहाँ तक महा-प्रलय का प्रश्न है, इसमें मत-भेद है। कुछ लोगों का कथन है कि महा-प्रलय होगा, परन्तु तदनन्तर सृष्टि[2] नहीं होगी। श्रीवल्लभाचार्य भी [3]महा-प्रलय को नहीं मानते हैं। परन्तु वाचस्पति मिश्र ने निम्नलिखित पंक्ति में एक समस्या उपस्थित कर दी है :—

"महा-प्रलये [4]त्वीश्वरेण वेदान् प्रणीय सृष्टयादौ सम्प्रदायः प्रवर्त्यते एव।"

यद्यपि यहाँ महा-प्रलय शब्द का खण्ड-प्रलय अर्थ प्रतीत होता है, तथापि इस विप्रतिपन्न विषय में महा-प्रलय शब्द का प्रयोग—वाचस्पति मिश्र जैसे दार्शनिक के द्वारा—कुछ बुद्धि-विभ्रम को अवश्य उत्पन्न कर देता है। अधिक विचार विद्वानों पर निर्भर है।

---

१. खण्ड-प्रलय की दृष्टि से यह कहा गया है, महा-प्रलय की दृष्टि से नहीं।

२. न्या० को० (महा-प्रलय)।

३. न्या० ली०, पृ० १२०—२३८ तक, 'प्रकाश' आदि के साथ, प्रलय-सिद्धि के लिए अवश्य देखनी चाहिए।

४. न्या० वा० ता० टी०, पृ० ४३४ (न्या० सू० २।१।६८)।

चतुर्थ अध्याय

अब इस अध्याय में नित्य-द्रव्यों का निरूपण करना है। परमाणुओं से अतिरिक्त नित्य द्रव्य हैं:—आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन।

(५) आकाश

आकाश का लक्षण है :—"शब्द-गुणकम् द्रव्यमाकाशम्"। यह संज्ञा पारिभाषिक है। आकाश की सिद्धि में सूत्र-कार के निम्न-लिखित सूत्र हैं :—

"कारण-गुण-पूर्वकः कार्य-गुणो दृष्टः;
कार्यान्तराऽप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः;
परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्म-गुणो न मनो-गुणः;
परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥"[1]

इन सूत्रों की व्याख्या से ही यह सिद्ध हो जाता है कि शब्दाख्य विशेष-गुण पृथिव्यादि आठ द्रव्यों का गुण नहीं हो सकता है :—

आत्मा का गुण आत्म-समवेत होता है, शब्द तो आत्म-समवेत नहीं है, अतः आत्मा का गुण इसे नहीं माना जा सकता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, काल, दिक् तथा मन के जितने भी गुण हैं वे श्रावण-प्रत्यक्ष-गोचर नहीं होते, परन्तु शब्द श्रावण-प्रत्यक्ष-विषय है; अतः उपर्युक्त वैधर्म्य के कारण विशेष-गुण शब्द पृथिव्यादि-द्रव्याष्टक का गुण होही नहीं सकता है। किन्तु "शब्दः विशेष-गुणः सामान्यवत्वे सति अस्मदाद्येक-बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्वात् रूपादिवत्" आदि अनुमान से सिद्ध-विशेष-गुण-भाव शब्द अपने आश्रय-द्रव्य का अनुमापक होता है, और अनुमित आश्रय 'आकाश' कहलाता है।

इसी आशय का बृहत परिष्कार 'प्रशस्तपाद-भाष्य' आदि में किया गया है।

इसके अनुमापक शब्द में गुणत्वेन अनुमापकता है, और गुणत्वेन रूपेण शब्द एक है अतः गुणी आकाश भी एक है। अतएव सूत्र-कार ने भी 'विभववान्[2] महानाकाशः' कहकर आकाश में विभुत्व तथा तात्पर्यतः एकत्व का प्रतिपादन किया है। शब्द, एकत्व तथा परम-महत्परिमाण से अतिरिक्त, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग भी आकाश में रहते हैं। एकत्व के

---

१. वै० सू० २।१।२४–२७।
२. वै० सू० ७।१।२२।

कारण एक-पृथक्त्व की, विभुत्व के कारण (सर्व-मूर्त्त-संयोगित्व अतएव) संयोग की और संयोग के समनियत विभाग की सिद्धि होती है। अत एव सूत्र-कार ने भी "संयोगात्[1] विभागात् शब्दाच्च शब्द-निष्पत्तिः" कहकर संयोग-विभाग की सत्ता आकाश में बतलाई है। (इस आकाश में) एकत्व के कारण सजातीय-समवायिकारणाऽभाव-प्रयुक्त असमवायि-कारण के भी अभाव होने से यह नित्य द्रव्य है। विजातीय उपादान से द्रव्योत्पत्ति तो अप्रामाणिक है। आकाश ही कर्ण-शष्कुली से अवच्छिन्न होकर श्रोत्र भी कहलाता है। इसी श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का समवाय-सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि यह श्रोत्रेन्द्रिय आकाश-स्वरूप होने से नित्य ही है तथापि बधिरत्व की उपपत्ति शब्दोपलब्धि-सहकारी अदृष्ट के अभाव से होती है। उपाधि-भेद से एक ही आकाश भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है (वस्तुतः एक ही है)।

(६) काल

काल का लक्षण काल के अनुमापक हेतुओं के विवरण से ही स्पष्ट हो जाता है। सूत्र-कार ने कालानुमापक हेतुओं का विवरण निम्न-लिखित रूप में किया है :—

'अपरस्मिन् परं[2] युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काल-लिङ्गानि"।

इसको इस प्रकार समझना चाहिए :—एक देवदत्त नाम का व्यक्ति अपने घर में वर्त्तमान है। उसके घर से २५ गज की दूरी पर एक स्थान है जहाँ एक यज्ञदत्त नाम का व्यक्ति खड़ा है। यज्ञदत्त की अवस्था १५ वर्ष की है। दूसरी ओर, देवदत्त के घर से १० गज की दूरी पर वर्त्तमान एक वेदी पर एक विष्णुदत्त नाम का २५ वर्ष का व्यक्ति बैठा है। अब यहाँ स्पष्ट है कि दिशा-सम्बन्धी परत्व तथा अपरत्व को ध्यान में रखकर यही कहा जाएगा कि देवदत्त की अपेक्षा यज्ञदत्त 'पर' (= दूरवर्त्ती) है और विष्णुदत्त 'अपर' (= सन्निकटस्थ) है। परन्तु यदि काल की दृष्टि से परत्व (= वृद्धत्व) तथा अपरत्व (= युवत्व) के विषय में प्रश्न हो तो निश्चित ही यज्ञदत्त, जो दिशा की दृष्टि से 'पर' है, 'अपर' होगा, क्योंकि उसकी उम्र केवल १५ वर्ष की है; और विष्णुदत्त 'पर' कहलायगा, कारण उसकी उम्र २५ वर्ष की है। इसी बात को सूत्र-कार ने 'अपरस्मिन् परम्' शब्द से बतलाया है। यहाँ 'अपरस्मिन्' का अर्थ है दिशा की दृष्टि से अपर व्यक्ति के विषय में, और 'परम्' का तात्पर्य है काल की दृष्टि से परत्व का व्यवहार। यही विषय अन्यत्र "दिग्विपरीत-परत्वा-

---

१. वै० सू० २।१।३१।

२. वै० सू० २।२।६।

ऽपरत्वानुमेयः कालः" शब्द से कहा गया है। युगपत् आदि प्रतीतियाँ भी कालानुमापक हैं। इनका विशेष विवरण आकर-ग्रन्थों में देखना चाहिए। अब काल का लक्षण भी इसी के आधार पर बन जाता है :—

"दिग्विपरीत-परत्वाऽपरत्वादि-प्रतीति-निमित्तं द्रव्यं कालः"।

इस काल में एकत्व संख्या ही है, क्योंकि काल में द्वित्वादि संख्या का साधक कोई प्रमाण नहीं मिलता है। अद्य, श्वः, परश्वः, इत्यादि प्रतीतियाँ तो उपाधि के कारण होती हैं।[1]

युगपदादि-प्रत्यय के सर्वत्र वर्तमान या सम्भाव्य होने से एकत्व-संख्या-विशिष्ट काल का विभुत्व अत एव परम-महत्परिमाणवत्त्व, अत एव संयोगवत्त्व एवं संयोग-नियत-विभाग-सम्पन्नत्व भी सिद्ध ही है। अतः काल में संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग और एकत्वानुविधायी पृथक्त्व—ये पाँच गुण माने जाते हैं।

काल तथा दिक् के सर्व-कार्य-साधारण-निमित्तत्व का विवरण "सर्वोत्पत्तिमतां निमित्त-कारणत्वं च" इस प्रशस्तपाद की उक्ति की व्याख्याओं में देखना चाहिए। आकाश के समान काल का भी नित्यत्व समझना चाहिए।

(७) दिक्

यह भी एक अप्रत्यक्ष द्रव्य है। इसकी सिद्धि में सूत्र-कार का कथन है :—

"इत इदम् (दूरं सन्निकटम् वा) इति यतः[2] तद्दिश्यं लिङ्गम्।"

इसकी व्याख्या काल के प्रसङ्ग में हो चुकी है। अत एव यह कहा जाता है कि "काल-विपरीत-परत्वाऽपरत्वानुमेया दिक्।" यह दिक् भी आकाश, काल आदि के समान एक तथा नित्य है। इसमें एकत्व संख्या, परम-महत्परिमाण, एक-पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग—ये पाँच सामान्य-गुण रहते हैं। इन सबों की उपपत्ति भी काल के समान ही करनी चाहिए।

स्वरूपतः एक होने पर भी दिक्, आदित्य-संयोग आदि उपाधियों के भेद से, विभिन्न प्रकार की प्राची[3], प्रतीची आदि संज्ञाओं से व्यवहृत होता है। इसके औपाधिक भेद नौ होते हैं :—

"दिक्—ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्या, नैर्ऋती,[4] वारुणी, वायव्या, कौबेरी, ईशानी, नागी, ब्राह्मी, रौद्री इत्येकादश-विधा।"

---

१ प्र० पा० भा०, पृ० १६०; सप्त पदार्थी, सू० ४० आदि।

२. वै० सू० २।२।१०।

३. वै० सू० २।२।१४।

४. सप्त-पदार्थी, सू० ३९।

'रौद्री' सभी दिशाओं का मध्य-भाग है। प्रशस्तपाद[1] ने 'रौद्री' की गणना नहीं की है।

(८) आत्मा

आत्मा के दो रूप हैं—परमात्मा तथा क्षेत्रज्ञ (= जीवात्मा)। पृथिवी आदि के कर्त्ता के रूप में परमात्मा का अनुमान पहले बतलाया जा चुका है। परमात्मा को सर्वज्ञ, सर्व-शक्ति-सम्पन्न माना जाता है। यही उसका परमत्व है। यह एक हीं माना जाता है, क्योंकि अनेक ईश्वर को मानने पर अनेक की इच्छा में आनुरूप्य के असम्भव-प्राय होने से कभी भी किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। यदि इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए उन सबों को सर्व-शक्ति-सम्पन्नत्व आदि धर्म से युक्त नही माना जाय तब तो परमत्व ही नष्ट हो जाता है। यदि सब परमात्माओं को सर्वज्ञ आदि मानकर भी यह कहा जाय कि सभी एककी इच्छा के अनुगामी हैं तो फिर अनेक ईश्वर की कल्पना में क्या लाभ है ? अतः विभु, सर्वज्ञ, सर्व-शक्ति-सम्पन्न परमात्मा को एक ही माना जाता है।

जीवात्मा की सिद्धि में सर्व-प्रथम तो 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' आदि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त, अनुमान भी प्रमाण है, जिसमें उपयुक्त हेतुओं का निर्देश महर्षि कणाद ने निम्न-लिखित सूत्र में किया है :—

"प्राणापान-निमेषोन्मेष-जीवन-मनो-गतीन्द्रियान्तर-विकाराः सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्च आत्मनः लिङ्गानि"[2]। यह अनुमान दृढता के लिए किया जाता है, ऐसा सूत्र-कार ने स्वयं कहा है :—

"दृष्ट आत्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् [3]प्रत्ययः"। स्वात्म-निष्ठ-प्रवृत्यादि के द्वारा परात्मा का भी अनुमान होता है :—

"प्रवृत्ति-निवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे [4]परत्र लिङ्गम् ॥"

शरीरात्मवाद तथा उसका निराकरण

चार्वाक-दर्शनवालों का कथन है कि आत्मा अहम्प्रत्यय-वेद्य तो अवश्य ही है, परन्तु वह अहम्-पदार्थ शरीर ही है, अन्य नहीं। अतएव 'अहं स्थूलः', 'अहं बधिरः' आदि प्रयोग भी प्रसिद्ध हैं। इस शरीरात्मा का निर्माण पृथिवी, जल, तेज तथा वायु से होता है। आकाश नाम का तो कोई तत्त्व है ही नहीं,

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० १६७।
२. वै० सू० ३।२।४; तुलना कीजिए—न्या० सू० १।१।१०।
३. वै० सू० ३।२।११
४. वै० सू० ३।१।१९।

क्योंकि प्रत्यक्ष से अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है और प्रत्यक्ष से तो आकाश की सिद्धि नहीं होती है। इस भूत-चतुष्टय का संघात तथा उसमें चैतन्य की उत्पत्ति आकस्मिक है। अतः शरीरात्मा में चैतन्य, कृति आदि की भी उपपत्ति हो जाती है। यह शरीरात्मा अनित्य है—यह भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है। चैतन्यादि-गुण भी सार्वकालिक नहीं हैं। अतएव मृत-शरीर में चैतन्य की प्रतीति नहीं होती है।

इसके विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि शरीर में अवस्था-भेद से भेद की प्रतीति तो आपामर-प्रसिद्ध है। एवञ्च यदि शरीर को आत्मा माना जाय तो बाल्य-काल में अनुभूत पदार्थ का कालान्तर में (अवस्था-भेदेन भिन्न) शरीर के द्वारा स्मरण नहीं हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति अनुभव करता है वही स्मरण भी कर सकता है—यह मानना अत्यावश्यक है। अन्यथा एक व्यक्ति के अध्ययन करने पर सारी दुनिया के लोग स्मरण कर लेंगे, फिर सब को विद्यालय आदि जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। परन्तु यह तो सर्वथा असम्भव है। अतः अनुभव तथा स्मरण में सामाना-धिकरण्य अनिवार्य है। एवञ्च बाल्यावस्था के शरीर के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण युवाऽवस्था के शरीर के द्वारा नहीं होना चाहिए; परन्तु स्मरण होता है। अतः (इस वैधर्म्य के कारण) शरीर को आत्मा नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार, आत्मा को अनित्य भी नहीं माना जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रवृत्ति-मात्र के प्रति 'इष्ट-साधनता-ज्ञान' (इस कार्य से मेरे अभिमत पदार्थ की सिद्धि होगी—इस प्रकार का ज्ञान) कारण है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि नव-जात शिशु की जो सर्व-प्रथम मातृ-स्तन्य-पान में प्रवृत्ति होती है वहाँ भी "स्तन्य-पानं मदिष्ट-साधनम्" इस तरह का ज्ञान, स्तन्य-पान से पहले, शिशु को होना चाहिए। यदि शरीर को, जो प्रत्यक्षतः अनित्य है, आत्मा माना जाय तो उस शिशु को उपर्युक्त इष्ट-साधनता-ज्ञान कैसे और कब हुआ, यह प्रश्न असमाधेय हो जाता है, क्योंकि उसका शरीर तो अभी-अभी मातृ-गर्भ से बाहर आया है; उसे अभी उपर्युक्त इष्ट-साधनता-ज्ञान (प्रथम स्तन्य-पान-प्रवृत्ति में) होगा कैसे? परन्तु प्रवृत्ति तो सर्व-वेद्य है। अतः प्रवृत्ति-रूप कार्य से उसके कारण—पूर्व-जन्म-गत इष्ट-साधनताऽनुभव—का अदृष्ट-वशात् इस जन्म में स्मरण मानना होगा। एवञ्च ज्ञानाश्रय की सत्ता पूर्व-जन्म में सिद्ध हो जाती है और इस तरह पूर्व-पूर्वतर जन्म की सिद्धि से आत्मा का नित्यत्व तथा शरीर-भिन्नत्व एवम् इन्द्रियादि-

भिन्नत्व[1] भी सिद्ध हो जाता है। शरीर के लिए कदाचित् अहम्पद का प्रयोग तो औपचारिक है। इसी अभिप्राय से सूत्र-कार का कथन है :—

"देवदत्तो गच्छति,[2] यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचारात् शरीरे प्रत्ययः ॥"

मन-आत्म-वाद तथा उसका निराकरण

कुछ चार्वाक दार्शनिक मन को आत्मा मानते हैं। परन्तु यदि इस मन को शरीर-पर्यन्त स्थायी मानें तब मृत-शरीर में भी चैतन्य-प्रतीति होनी चाहिए। यदि प्राण-वायु-सम्बन्ध-पर्यन्त स्थायी मानें तब भी स्तन्य-पान में प्रथम-प्रवृत्ति की कोई उपपत्ति नहीं मिल पाती। यदि आत्मत्वेन अभिमत मन को चार्वाक-मत में भी नित्य माना जाय तब ज्ञानादि (जो मन-आत्म-पक्ष में मन के ही गुण होंगे उन) का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि मन के कर्त्ता हो जाने से करण का सर्वथा अभाव हो जाता है और करण के बिना तो प्रत्यक्ष की उत्पत्ति ही नहीं होती है। परन्तु स्व-ज्ञानादि का प्रत्यक्ष सर्व-सिद्ध है। अतः मन को आत्मा नहीं माना जा सकता है। विश्वनाथ ने तो "मनोऽपि न तथा,[3] ज्ञानाद्यनध्यक्षन्तदा भवेत्" की व्याख्या में "मनसोऽणुत्वात् प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वात् मनसि ज्ञान-सुखादि-सत्त्वे तत्प्रत्यक्षाऽनुपपत्तिरित्यर्थः" लिखा है।

क्षणिक-विज्ञानात्म-वाद तथा उसका निराकरण

यह तो व्यवहार-सिद्ध है कि जिस पदार्थ का कुछ भी ज्ञान मनुष्य को नहीं रहता है उस पदार्थ के बारे में मनुष्य कभी सोचता भी नहीं है। जब अमेरिका का पता नहीं था तो कोई भी व्यक्ति अमेरिका की सत्ता नहीं मानता था और न उसके बारे में कभी कुछ सोचता ही था। पर आज लोगों के मुख में अमेरिका ही अमेरिका है। इसी आधार पर योगाचार का कथन है कि वस्तुतः बाह्य पदार्थ तो कुछ है ही नहीं, यह केवल विज्ञान का ही आकार है। इस विज्ञान के दो भेद हैं :—'प्रवृत्ति-विज्ञान' तथा 'आलय-विज्ञान'। 'प्रवृत्ति-विज्ञान' सांसारिक पदार्थ का आकार धारण करता है—'अयं घटः', 'अयं पटः' इत्यादि। 'आलय-विज्ञान' ही आत्मा अर्थात् 'अहम्' के रूप में प्रतिभासित होता है। यह ज्ञान स्वतः-प्रकाश है। अत एव इसे चेतन भी कहा जा सकता है। यह विज्ञान भी सत् होने के कारण क्षणिक है। सत् शब्द का अर्थ है—"अर्थ-क्रिया-कारित्वं सत्त्वम्'।' यह अर्थ-क्रिया-कारित्व क्रम तथा यौगपद्य (एक-कालिकत्व) से

---

१. वै० सू० ३।१।२।

२. वै० सू० ३।२।१२।

३. कारिकावली १।५९ पर मुक्तावली।

व्याप्त है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ अर्थ-क्रिया-कारित्व है वहाँ क्रम अथवा यौगपद्य की सत्ता अनिवार्य है। सभी अर्थ-क्रियाओं का सम्पादन क्रमशः अथवा एक ही काल में होना चाहिए। अतः जहाँ व्यापकी-भूत क्रम अथवा यौगपद्य का अभाव होगा वहाँ 'व्यापक-निवृत्तौ व्याप्य-निवृत्तिः स्वाभाविकी' के अनुसार व्याप्य धर्म, अर्थ-क्रिया-कारित्व-रूप सत्व, की भी निवृत्ति अवश्यमेव माननी होगी। "सत्ता-सामान्य-योगित्वं सत्त्वम्" तो सत्ता लक्षण हो ही नहीं सकता है, क्योंकि सत्ताख्य जाति की प्रामाणिकता नहीं है; केवल 'अपोह', अर्थात् तद्भिन्न-भिन्नत्व, से ही अनुगत-प्रतीति के उपपन्न हो जाने से अनावश्यक जाति की अपेक्षा नहीं रहती है।

यह अर्थ-क्रिया-करित्व-स्वरूप सत्व, पदार्थ के स्थैर्य-पक्ष में, उपपन्न नहीं हो सकता है। यदि, उदाहरणार्थ, घट को स्थिर मान लिया जाय और यह भी मान लिया जाय कि उस घट के सत्ता-काल में उसके द्वारा ५ बार जलाहरण-क्रिया सम्पन्न होगी, तब तो यह सिद्ध होता है कि वह घट प्रथम-जलाहरण के काल में प्रथम जलाहरण-क्रिया का साधक है और शेष जलाहरण का असाधक है। अतः स्थिर-पक्ष में एक ही घट में एक ही समय जलाहरण-साधनत्व तथा जलाहरणाऽसाध-नत्व रूप दो परस्पर-विरुद्ध धर्मों का समावेश मानना पड़ेगा जो सर्वथा तमः-प्रकाशवत् असम्भव है। यदि घट को क्षणिक स्वीकृत कर लिया जाता है तब तो एक घट एक ही जलाहरण-क्रिया में समर्थ है, दूसरी जलाहरण-क्रिया तो दूसरे घट के द्वारा होगी, एकता-ज्ञान सादृश्य-मूलक है—इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध धर्मों के एकत्र समावेश की दुःस्थिति नहीं आती है। अतः घट को स्थिर मानने पर उसमें क्रमशः अर्थ-क्रिया-कारित्व की उपपत्ति नहीं होती है। यदि (उपर्युक्त परस्पर-विरुद्ध-धर्म-द्वय-समावेशापत्ति के भय से) युगपत् पाँचों जलाहरण-क्रियाओं की सिद्धि मान लें तब भी घट के कर्तव्य के एक ही क्षण में सम्पन्न हो जाने से उसका स्थायित्व निरर्थक हो जाता है। अतः युगपत् अर्थ-क्रिया-कारित्व-पक्ष में भी घट का स्थैर्य अनावश्यक है। एवञ्च क्रमशः अर्थ-क्रिया-कारित्व मानने पर स्थैर्य-वाद में एक हीं घट में परस्पर-विरुद्ध-धर्म-द्वय-समावेश की समस्या से और युगपदर्थक्रिया-कारित्व-पक्ष में स्थिर घट के स्थैर्य के निरर्थक होने से सत् घट को क्षणिक मानना ही युक्ति-युक्त है। यही प्रकार विज्ञान के विषय में भी समझना चाहिए।

इस आलय-विज्ञान की निराकार-परम्परा सुषुप्ति-काल में भी चलती रहती है। पञ्च-पादिका में निर्दिष्ट बौद्ध-मत के अनुसार तो सुषुप्ति-काल में विज्ञान-परम्परा नहीं रहती है। सिद्धान्त-बिन्दु की व्याख्या में ब्रह्मानन्द[1]

---

१ सि० बि० न्या० रत्ना०, पृ० १०९।

सरस्वती ने पञ्च-पादिका का उद्धरण किया है :—"सुषुप्तौ विज्ञान-लेशस्याप्यभावात् अकस्मादेव जागरे अहमिति धी-दर्शनात्" । पूर्व-पूर्व-विज्ञान-जनित संस्कार का उत्तरोत्तर विज्ञान में संक्रमण होने से स्मरण आदि में भी कोई अनुपपत्ति नहीं होती है । अतः क्षणिक आलय-विज्ञान की परम्परा को हीं आत्मा माननी चाहिए ।

इस मत का निष्कर्ष यही है कि यदि घट स्थिर है और उसमें जलाहरण-सामर्थ्य है तो उस घट के द्वारा प्रत्येक-क्षण में जलाहरण होना चाहिए । परन्तु ऐसी स्थिति नहीं है । अतः मानना चाहिए कि जिस क्षण में उससे जलाहरण होता है उसी क्षण में वह सत् है । अन्य क्षण में दृश्यमान घट तो उससे भिन्न है परन्तु सादृश्य के आधार पर "सोऽयं घटः" इस प्रकार की प्रत्भिज्ञा होती है । उपर्युक्त सिद्धान्त को ही बौद्ध-सम्प्रदाय में 'कुर्वद्रूपत्व-सिद्धान्त' कहा जाता है ।

इसके विरुद्ध न्याय-वैशेषिक-सम्प्रदाय का प्रश्न है कि बौद्ध-मत में जलाहरण घट का स्वभाविक धर्म है या औपाधिक । यदि घट का यह स्वाभाविक धर्म है तो क्षणिक-वाद के अनुसार, प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न घट से भी जलाहरण होते ही रहना चाहिए, क्योंकि जलाहरण तो घट का स्वभाव है । यदि इसे औपाधिक धर्म माना जाय तब तो क्षण-भङ्ग ही समाप्त है । यदि बौद्ध मान ले कि क्षणिक घटों में प्रत्येक का जलाहरण-साधनत्व स्वभाव नहीं है अपि तु तत्तद्घट का ही यह स्वभाविक धर्म है तब तो यह स्पष्ट है कि बौद्धों के अनुसार जिस घट से जलाहरण होता है उसमें जलाहरण-क्रिया-सम्पादकत्व(=कुर्वद्रूपत्व) है और जिस के द्वारा जलाहरण नहीं हो रहा है, उसमें जलाहरण-क्रिया-सम्पादकत्व नहीं है । इसी को 'वैजात्य' कहा जाता है । यहाँ यह स्पष्ट है कि क्षण-भङ्ग की सिद्धि के लिए सभी घटों में परस्पर वैजात्य की कल्पना करनी ही पड़ती है । किन्तु इस वैजात्य की कल्पना कर लेने पर अनुमान-मात्र समाप्त हो जायेगा, क्योंकि इस पक्ष में धूम-कुर्वद्रूपत्व-विशिष्ट वह्नि-विशेष तथा धूम-विशेष में ही कार्य-कारण-भाव मानना पड़ेगा, वह्नि-सामान्य और धूम-सामान्य में नहीं । एवञ्च व्यभिचार-शङ्का-निवर्त्तक अनुकूल तर्क के अभाव में व्याप्ति-ग्रहण नहीं हो सकेगा, फिर व्याप्ति-मूलक अनुमिति की बात तो दूर ही रह जाती है । न्याय-वैशेषिक-मत में तो वैजात्य के अनाश्रयण होने के कारण वह्नि-सामान्य तथा धूम-सामान्य में सामान्य-लक्षणा-प्रत्यासत्ति से व्याप्ति-ग्रहण होता है, अतः उपर्युक्त अनुपपत्ति नहीं होती है । घटादि में जलाहरण-सम्पादकत्व के कदाचित् भाव और कदाचित् अभाव का समाधान तो सहकारि-कारण के भाव तथा अभाव से ही हो जाता है । अतः वैजात्य की कल्पना से क्या लाभ है ?

जब उपर्युक्त युक्ति के आधार पर बौद्ध-मत में व्याप्ति-ग्रहणाऽसम्भव-प्रयुक्त अनुमिति-मात्र का अभाव सिद्ध हो जाता है तब "घटः क्षणिकः सत्वात्" इस अनुमिति के आधार पर क्षणिकत्व की सिद्धि कैसे होगी ?

इसके अनन्तर, बौद्ध दार्शनिक यह मान सकते हैं कि अनुमान से यदि क्षणिकत्व की सिद्धि नहीं होती है तो कोई बात नहीं, हम लोग (बौद्ध) प्रत्यक्ष से ही क्षणिकत्व की सिद्धि कर लेगें। इसका कारण यह है कि वर्त्तमान पदार्थ का ही प्रत्यक्ष होता है। वर्त्तमानता तों एक ही क्षण तक रहती है, क्योंकि उससे आगे तथा पीछे के क्षण अतीत तथा अनागत कहलाते हैं, वर्तमान नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही क्षण-भङ्ग का साधक है।

इसके विरोध में वैशेषिकों का कथन है कि बौद्ध लोग केवल निर्विकल्पक को प्रमाण मानते हैं और जाति के अप्रामाणिक होने से उस जाति के अवगाहक सविकल्पक-प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं मानते हैं। परन्तु निर्विकल्पक-ज्ञान तो स्वरूपतः अतीन्द्रिय होता है; इसलिए निर्विकल्पक-ज्ञान की सिद्धि सविकल्पक से ही होगी (चाहे वह सविकल्पक प्रमाण भले ही बौद्ध-मत में न हो)। एवञ्च क्षणिकत्व-विषयक सविकल्पक के अभाव होनेपर यह कैसे समझा जाएगा कि क्षणिकत्व-विषयक निर्विकल्पक हुआ है। यदि सविकल्पक के अभाव में भी क्षणिकत्व-विषयक निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष की सत्ता मानेंगे तब तो पदार्थ में जिस किसी भी धर्म की सिद्धि में बाधा नहीं हो सकती है, फलतः बौद्धों का मत सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः 'क्षण-भङ्ग-वाद' अश्रद्धेय है और 'सोयं घटः' आदि प्रत्यभिज्ञा के आधार पर 'स्थैर्य-वाद' ही युक्ति-सङ्गत है। अतएव उदयनाचार्य का कथन है :—

"न वैजात्यं विना तत् स्यात् न तस्मिन्ननुमा भवेत्।
विना तेन न तत्सिद्धिः नाध्यक्षं निश्चयम्विना[1]॥"

जाति के विषय में बौद्धों के 'अपोह-वाद' का विवरण तथा निराकरण 'सामान्य' के प्रकरण में किया जायगा। अतः "सत्ता-सामान्य-योगित्वम् सत्वम्" इस लक्षण का बौद्धोक्त खण्डन भी अनुचित है।

इसी प्रकार, क्षणिक-विज्ञान की परम्परा को आत्मा मानने पर अनुभव-जन्य संस्कार (= वासना) की कल्पना में आनन्त्यादि दोष भी समझना चाहिए।

---

१. न्या० कु० ३।१६; क्षण-भङ्ग के निराकरण के लिए देखिए :—न्या० क०, पृ०, १९५-१९९; सेतु, पृ०, ३७८–३८८; व्योमवती, पृ०, ३९६–३९७; किरणावली, पृ०, १४१–१४७; मुक्ता० का० ११४९; न्या० म० (द्वि० भा०), पृ० १५–३६; न्या० सू० ३।२।१०—१७ तथा इनके ऊपर भाष्य, वार्त्तिक तथा तात्पर्य-टीका आदि।

अतः क्षणिक-विज्ञानात्मवाद का एक अंश, क्षणिकत्व, समाप्त हो जाता है। अवशिष्ट विज्ञानात्म वाद का खण्डन तो वेदान्त-मत के खण्डन से ही गतार्थ हो जाएगा। अतएव उसके लिए पृथक् प्रयास यहाँ नहीं किया जाता है। नीचे वेदान्त-मत का भी खण्डन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

नित्य-विज्ञानात्म-वाद तथा उसका खण्डन

अद्वैत वेदान्त के अनुसार, जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अत एव श्रुति का कथन है—'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि। यह ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' आदि श्रुति-सहस्र में प्रतिपादित है। अतः जीव ज्ञान-स्वरूप ही है; और यह ज्ञान भी नित्य, निरतिशय, स्व-प्रकाश तथा अखण्ड है। जीव तथा ब्रह्म में अभेद होने पर भी अविद्या और आविद्यक उपाधियों के कारण जीव ब्रह्म से भिन्न सा प्रतीत होता है। जीव के आविद्यक भेद के उपपादन में 'प्रतिबिम्ब-वाद', 'आभास-वाद', 'दृष्टि-सृष्टि-वाद' तथा 'अवच्छेद-वाद' आदि प्रक्रियायें प्रचलित हैं। अतः स्वरूपतः जीव नित्य-विज्ञान ही है। यह नित्य-विज्ञान स्वतः-प्रकाश भी है। तात्पर्य इतना हीं है कि एक ब्रह्म परमार्थसत् है, जीव ब्रह्म से वस्तुतः अभिन्न ही है, भेद-भाव तथा जीवात्मा के आनन्त्य आदि अविद्या-जन्य हैं। तत्त्व-ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर जीव अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है; यही जीव की मुक्ति कहलाती है।

इस मत के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक-सम्प्रदाय का कथन है कि ज्ञान को स्वतः-प्रकाश नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ज्ञान विषय-निरूपित होने पर ही प्रकाशित होता है अन्यथा नहीं। यदि विषय-निरपेक्ष ज्ञान को ही स्वतः-प्रकाश मानें तब तो संसार-काल में भी उस ज्ञान का प्रकाश होना ही चाहिए, और इस प्रकार संसार-काल में ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म के प्रकाशन से संसार की सम्भावना ही नहीं रह जाती है। संसार-काल में अविद्या के द्वारा ब्रह्म से अभिन्न ज्ञान आवृत रहता है; इसीलिए उसका प्रकाशन नहीं होता है, और यही संसार की उपपत्ति है—ऐसी कल्पना तो विचित्र प्रतीत होती है। यदि नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्व-प्रकाश विज्ञान का भी अविद्या से आवरण हो ही जाता है तो फिर इस स्व-प्रकाशत्व का क्या अर्थ हो सकता है? यदि कथमपि स्व-प्रकाश ज्ञान (= ब्रह्म) का आवरण अविद्या के द्वारा मान भी लिया जाय तब भी यह समस्या है कि सांसारिक (= आविद्यक) पदार्थों का प्रकाश कैसे होगा, क्योंकि वेदान्त-मतानुसार तो यह निर्णय है—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इत्यादि। आलोक के बिना घटादि पदार्थ का प्रकाश नहीं होता है—यह तो सभी मानेंगे। अत एव घटादि-प्रकाशन के लिए नया-

यिक-मत में आदित्य आदि प्रकाशक तत्व की अपेक्षा होती है। वेदान्त-मत के अनुसार तो प्रकाशक तत्व है एक-मात्र ब्रह्म। यदि अविद्या से वह भी आवृत ही है तो फिर घटादि का प्रकाशन कथमपि सम्भव नहीं है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि अविद्या से ब्रह्म के अनावरण-पक्ष में ज्ञान (= ब्रह्म) से अज्ञान के नाश हो जाने पर किसी का भी संसार नहीं हो सकता है। अविद्या से ब्रह्म के आवरण-पक्ष में जगदान्ध्य-प्रसङ्ग हो जाता है। आंशिक आवरण तथा आंशिक अनावरण की कल्पना तो निरंश विज्ञान-ब्रह्म के विषय में हो ही नहीं सकती है। अतः विज्ञान को स्व-प्रकाश नहीं माना जा सकता, किन्तु विषयाधीन-प्रकाश ही मानना चाहिए।

अब यह स्पष्ट है कि यदि सविषयक ज्ञान को आत्मा माना जाय तो सुषुप्ति-काल में विषय-सम्बन्ध के अभाव होने से आत्मा का अभाव या विषयानुभूति माननी पड़ेगी, जिनमें एक भी पक्ष आनुभविक नहीं है। घटादि बाह्य-पदार्थ का, जो सर्वानुभव-सिद्ध हैं, अप्रामाणिक अविद्या के द्वारा सत्त्वापलाप अथवा तात्त्विकत्वापलाप भी उचित नहीं प्रतीत होता है। अतः निर्विषय-विज्ञानात्मवाद अग्राह्य है। इस मत के खण्डन के विशेष विवरण के लिए आकर[1]-ग्रन्थ देखना चाहिए।

आत्म-विषयक सांख्य-मत तथा उसका निराकरण

सांख्य-सिद्धान्त का पूर्ण-विवरण तो सांख्य-ग्रन्थों में ही देखना चाहिए। यहाँ इतना ही बतलाना पर्याप्त है कि सांख्य के अनुसार बुद्धि, जो जड़ प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण जड़ है, चेतन-पुरुष के सम्पर्क से स्फुरित-चैतन्य बन कर कार्य-कर्त्री है और पुरुष वस्तुतः कर्त्ता नहीं है अपि तु बुद्धि-गत स्व-प्रतिबिम्ब से अपने को भिन्न नहीं समझने से अपने को सुख-दुःख आदि का भोक्ता तथा कर्त्ता समझता है। पुरुष के इस स्वभाव का वर्णन सांख्य-कारिका में

"तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य[2]।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृ-भावश्च॥"

आदि के द्वारा किया गया है। सांख्य-मत में धर्माधर्म को भी बुद्धि का ही धर्म माना गया है। अतः एव सांख्य-कारिका में कहा गया है:—

"अध्यवसायो बुद्धिः धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।[3]
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥"

---

१. द्रष्टव्य—न्या० क० (पृ० २३५–२३६) मुक्ता० आदि।

२ सा० का० १९।

३. वही, २३।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि यदि अदृष्ट बुद्धि-निष्ठ है तो फिर भोग पुरुष को क्यों होता है, क्योंकि कार्य-कारण में सामानाधिकरण्य होना चाहिए। यदि प्रकृति-पुरुष-सम्बन्ध को अनादि मान कर उपर्युक्त प्रश्न का समाधान भी कर दिया जाय तब भी यह समस्या तो है ही कि 'चेतनोहं करोमि' इत्यादि आपामरानुभव-सिद्ध कृति-चैतन्य-सामानाधिकरण्य का अपलाप कैसे हो सकता है। यदि कृतिमत्त्व बुद्धि में है तो चैतन्य भी वहीं होगा; एवं च पुरुष को अचेतन होना चाहिए। यदि चैतन्य पुरुष में ही है तो कर्तृत्व भी वहीं होना चाहिए, बुद्धि में नहीं। अतः कृति तथा चैतन्य के अप्रामाणिक वैयधिकरण्य पर निर्भर सांख्य-मत अनुपादेय है।

दूसरी अनुपपत्ति सांख्य-मत में यह है कि पुरुष-बन्ध- प्रयोजिका बुद्धि यदि नित्य है तब तो पुरुष सर्वदैव बुद्ध्युपहित ही रहेगा, फिर उसकी मुक्ति की तो सम्भावना भी नहीं रह जाती। अथ चेत् बुद्धि अनित्य है तब तो बुद्धि की उत्पत्ति से पूर्व मुक्त पुरुष के लिए बुद्ध्युत्पत्ति के बाद भी संसार की स्थिति नहीं आ सकती है। अलम्पृक्त पुरुष का भी, बुद्धि की उत्पत्ति के पश्चात्, बुद्धि से सम्पर्क मानने पर तो तत्त्व-ज्ञान के बाद बुद्ध्य-सम्पर्क-स्वरूप मुक्ति के पश्चात् भी पुनः पुरुष के बुद्धि-सम्पर्क की सम्भावना को कौन दूर कर सकता है ? फलतः कैवल्य को भी अनित्य मानना पड़ेगा। अतः इस अनुपपत्ति से सांख्य-मत की अप्रामाणिकता स्फुट है। इसीलिए उदयनाचार्य ने कहा है:—

"कर्तृ-धर्मा नियन्तारः चेतिता च स एव नः।[1]
अन्यथाऽनपवर्गः स्यात् असंसारोऽथवा ध्रुवः॥"

इस पर सांख्य की ओर से एक प्रश्न किया जा सकता है कि यदि पुरुष को ही कर्त्ता भी मान लिया जाय तब गीता में जो कहा गया है कि—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार-विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते॥"

इसकी क्या गति होगी ? अर्थात् न्याय-वैशेषिक मत इस गीता-वाक्य से विरुद्ध हो जाता है, फलतः इसे (न्या० वै० मत को) ही अप्रामाणिक मानना उचित है न कि सांख्य-मत को।

इसके उत्तर में न्याय-वैशेषिक की ओर से कहा जा सकता है कि उपर्युक्त गीता-वचन में कर्तृ-शब्द कारण-विशेष (Agent) के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है अपि तु कारण-सामान्यार्थक है। अन्यथा इस कथन का अठारहवें अध्याय में जीवात्मा को कर्त्ता (Agent) के रूप में निर्दिष्ट करनेवाले "अधिष्ठानं

---

१. न्या० कु० १।१४।

तथा[1] कर्त्ता" इत्यादि वचन से विरोध हो जायेगा। अतः "अहङ्कार-विमूढात्मा कर्त्ताऽहम्" में प्रयुक्त कर्तृ-शब्द को कारण-सामान्यार्थक ही मानना चाहिए।[2] इस दृष्टि से "प्रकृतेः क्रियमाणानि" आदि वचन की व्याख्या निम्न-लिखित रूप में करनी चाहिए :—

"प्रकृतेः = कारण-कूटस्य; सर्वशः = सर्वाणि, गुणैः = सत्त्वादिभिः न्याय्य-वैपरीत्यादिभिर्वा सम्पन्नानि; कर्माणि क्रियमाणानि सन्ति। तत्रैवं सति यः कश्चन जीवात्मा स्वमेव कार्यं प्रति कर्तृत्वेन=कारण-कूटत्वेन, मन्यते स अहङ्कार-विमूढः एव न प्रज्ञावान्[3] इति"।

कारण-कूट तथा उपर्युक्त व्याख्या के समर्थन में गीता के निम्न-लिखित श्लोकों को देखना चाहिए :—

"अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च तथा चेष्टाः दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीर-वाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः।
पश्यत्यकृत-बुद्धित्वान्न स पश्यति[4] दुर्मतिः॥" इत्यादि।

एवञ्च वैशेषिकादि-सम्मत आत्मा ही प्रामाणिक, अतएव उपादेय, सिद्ध हो जाती है।

न्याय-वैशेषिक-सम्मत जीवात्मा

न्याय-वैशेषिक के अनुसार, जीवात्मा कर्त्ता, भोक्ता तथा विभु है। आत्मा में चौदह गुण रहते हैं—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावनाख्य-संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग। इन गुणों की आत्मा में सत्ता के विषय में निम्न-लिखित प्रमाण हैं :—

बुद्धि से लेकर प्रयत्न-पर्यन्त गुण "सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्च आत्मनो"[5]

---

१. गीता १८।१४।

२. इसी अर्थ में, गीता के "तत्रैवं सति कर्त्तारम्" (१८।१६) आदि श्लोक में भी कर्तृ-शब्द प्रयुक्त हुआ है।

३. न्याय-सिद्धान्त-कारिकावली (कारि० १४९) की व्याख्या में विश्वनाथ ने जो इस श्लोक की व्याख्या प्रस्तुत की है वह मुझे बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होती है। विशेष-विचार विद्वानों पर निर्भर है।

४. गीता १८।१४–१६।

५. वै० सू० ३।२।४।

लिङ्गानि" इस सूत्र के द्वारा ही सिद्ध हैं, क्योंकि हेतु में पक्ष-धर्मत्व के बिना अनुमापकता ही नहीं हो सकती है। "[1]आत्मान्तर-गुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्" इस सूत्र से धर्माधर्म की सिद्धि होती है, क्योंकि आत्मान्तर-निष्ठ गुण में आत्मान्तर-निष्ठ सुख-दुःखादि के प्रति कारणत्व का प्रतिषेध तभी उपपन्न हो सकता है। "आत्म-मनसोः संयोग-विशेषात् संस्काराच्च[2] स्मृतिः" इस सूत्र के द्वारा आत्मा में स्मृति-कारणी-भूत भावनाख्य-संस्कार की भी सिद्धि होती है। आत्मा में संख्या की सिद्धि में प्रमाण है "व्यवस्थातो[3] नाना" यह सूत्र, जिसमें आत्मा का बहुत्व व्यवस्थापित किया गया है। अद्वैत-वाद के मानने पर तो निर्गुण एक आत्मा में एकत्व-संख्या भी नहीं रह सकती है। अतएव सूत्र-कार ने अद्वैतात्म-वाद के निराकरण के लिए लिखा है:—"व्यवस्थातो नाना"। व्यवस्था शब्द का, संक्षेप में, विवरण निम्न-लिखित श्लोक में मिल जाता है :—

"कश्चिद्दरिद्रः कश्चिदाढ्यः कश्चिदन्य-विधः पुनः।[4]
अनयैवात्म-नानात्वं सिद्ध्यत्यत्र व्यवस्थया॥"

इसी प्रकार की व्यवस्था सांख्य-कारिका में भी "जनन-मरण-करणानां[5] प्रतिनियमात्" इत्यादि कारिका के द्वारा प्रतिपादित की गई है। व्यवस्था के स्वरूप तथा द्वैतात्म-वाद के विशेष विवरण के लिए अन्यान्य[6] ग्रन्थ देखना चाहिए। और भी, "द्वा सपर्णा सयुजा सखाया" आदि श्रुति-वाक्य के आधार पर भी सूत्र-कार ने आत्म-नानात्व का साधन किया है :—"शास्त्र-[7] सामर्थ्याच्च"। संख्या के सिद्ध हो जाने पर संख्यानुविधायी पृथक्त्व भी सिद्ध ही है।

यह जीवात्मा विभु होने के कारण परम-महत्परिमाण से सम्पन्न है। आत्मा को विभु, अर्थात् सर्व-व्यापक, मानने में युक्ति निम्न-लिखित है :—बनारस का रहने वाला देवदत्त जब दिल्ली पहुँचता है तो तुरत उसे चाय, पान, मिठाई आदि बनी-बनाई चीजें उपभोग के लिए मिल जाती हैं। उपभोग तो अदृष्ट-जन्य ही होता है। अब प्रश्न है कि यदि देवदत्त का अदृष्ट पहले से ही दिल्ली में वर्त्तमान नहीं था तो फिर उसके उपभोग के लिए सारी चीजें

१. वै० सू० ६।१।५।

२. वै० सू० ९।२।६।

३. वै० सू० ३।२।२०।

४. तत्त्वावलि, पृ० १५३।

५. सां० का० १८

६. उदाहरणार्थः—किर०, पृ० १५०–१४१; (ए० सो०) न्या० क०, पृ० २१०–२१३; व्योमवती, पृ० ४०८–४१०।

७. वै० सू० ३।२।२१।

तैयार कैसे थीं, क्योंकि कारण के बिना तो कार्य नहीं होता है। अतः देवदत्त के अदृष्ट को दिल्ली में भी वर्त्तमान मानना ही होगा। वह अदृष्ट अपने समवायि-कारण—आत्मा—की दिल्ली में वर्त्तमानता के बिना स्वयम् दिल्ली में कथमपि नहीं रह सकता है। एवञ्च दिल्ली में देवदत्त के शरीर की उपस्थिति से पहले से ही उसका अदृष्ट है, इसी से सिद्ध है कि उस अदृष्ट का समवायि-कारण आत्मा भी वहाँ अवश्य ही वर्त्तमान है। यही तो व्यापकत्व या विभुत्व है[1]। जब व्यापकत्व है तो परम-महत्परिमाणवत्त्व तो स्पष्ट ही है। अदृष्ट भोग्य-पदार्थ-निष्ठ नहीं हो सकता है अपि तु उसे आत्म-निष्ठ ही मानना चाहिए—इस विषय के विवरण के लिए न्याय-कुसुमाञ्जलि की—

"संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः[2]।
स्व-गुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः॥"

आदि कारिकाओं को देखना चाहिए।

आत्माणुत्व-वाद तथा देह-परिमाण-वाद का खण्डन

रामानुज तथा मध्व आदि वैष्णव-दार्शनिक—

"बालाऽग्र-शत-भागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽनन्त्याय कल्पते"

आदि श्रुति-प्रमाण के आधारपर जीवात्मा को अणु-परिमाण मानते हैं। परन्तु यदि आत्मा को अणु-परिमाण माना जाय तो कई आपत्तियाँ है :—

(१) अणु-परिमाण मानने पर आत्मा के गुणों का प्रत्यक्ष, जो सर्वानुभव-सिद्ध है, असम्भव हो जायगा;

(२) ऋद्धि-सम्पन्न योगी अनेक शरीरों में एक ही बार प्रवेश कर अपने भोग का शीघ्र-क्षय करते हैं—इस शास्त्रीय-प्रसिद्धि की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार, स्थानान्तर में सत्वर-भोग की अनुपपत्ति तथा अन्यान्य दोष को भी स्वयं समझना चाहिए। उपर्युक्त श्रुति तो जीवात्मा के परिच्छेदा-तीन होने के कारण ही अणुत्व का प्रतिपादन करती है। अतः इसे औपचारिक ही समझना चाहिए।

इसी प्रकार, जैन का देह-परिमाण-वाद भी उपेक्षणीय है क्योंकि देह-परि-माण मानने पर आत्मा को सावयव, अत एव अनित्य, मानना होगा। अनित्य मानने पर पूर्व-जन्म-कृत कर्म के फल का अनुपभोग और अकृत कर्म के फल का अभ्युपगम मानना पड़ेगा। अन्यान्य भी आपत्तियाँ देह-परिमाण-वाद में विचारणीय हैं।

---

१. अन्य युक्ति के लिए देखिए :—न्या० क०, पृ० २१३–१४।
२. न्या० कु० १।११।

अतः आत्म-विभुत्व-पक्ष ही श्रद्धेय है। आत्मा में मनः-संयोग-रूप असमवायि-कारण से सुखादि की उत्पत्ति होती है, अतः संयोग की भी आत्म-निष्ठता सिद्ध हो जाती है, और इस संयोग के भी नश्वर होने से विभाग की भी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार, आत्मा के चौदह गुण, जिनमें बुद्धि से लेकर संस्कार तक नौ विशेष-गुण हैं और शेष सामान्य-गुण, सप्रमाण हैं। प्रयत्न (= कृति) से युक्त होने से कृतिमत्त्व (= कर्तृत्व) भी सिद्ध ही है। धर्म-अधर्म के आश्रय होने से भोक्तृत्व भी सिद्ध है। इससे अधिक विवरण आकर-ग्रन्थों में द्रष्टव्य है।

(९) मन

इसकी परिभाषा प्रशस्त-पाद ने की है:—"मनस्त्व-योगात्[1] मनः"। मनस् नैयायिक-वैशेषिक-सम्प्रदाय के अनुसार, अणु है अतएव इसका सत्त्व प्रत्यक्ष-प्रमाण-गम्य नहीं हो सकता है। इसीलिए सूत्र-कार ने अनुमान-प्रमाण के निर्देश के लिए सूत्र लिखा है:—

"आत्मेन्द्रियार्थ-सन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च[2] मनसो लिङ्गम्"।

इस सूत्र का आशय यह है:—देवदत्त नाम का एक व्यक्ति खड़ा है। उसके सामने एक घट भी है और उसके मुख में मिठाई भी। इसी तरह, अन्यान्य इन्द्रियों के ग्राह्य विषय भी उसकी तत्तत् इन्द्रियों से संयुक्त हैं। उसकी आत्मा तो, जैसा आत्म-प्रकरण में सिद्ध किया जा चुका है, व्यापक होने से सर्वदा सर्व-पदार्थ-सम्बद्ध है ही। एवञ्च जब देवदत्त की व्यापक आत्मा उसकी सभी इन्द्रियों से संयुक्त है और सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय से भी सम्बद्ध हैं, ऐसी अवस्था में देवदत्त को सर्व-विध ज्ञान एक ही काल में होना चाहिए; परन्तु होता नहीं है, केवल एक ही ज्ञान एक काल में उत्पन्न होता है : अतः मानना होगा कि आत्मेन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-मात्र ही ज्ञान के प्रति कारण नहीं है अपि तु कुछ और भी तत्त्व है जिसके सत्त्व में ज्ञान होता है और असत्त्व में ज्ञान नहीं होता है। यही तत्त्व 'मन' कहलाता है। अत एव समान-तन्त्र में भी कहा गया है :—

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्[3] ॥"

इस सूत्र का भी उपर्युक्त ही आशय है। अतएव उद्योतकराचार्य ने भी लिखा है :—

१, प्र० पा० भा०, पृ० २१६।

२. वै० सू० ३।२।१।

३. न्या० सू० १।१।१६।

"यस्मादिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षे सत्यपि युगपज्ज्ञानानि[1] न सम्भवन्ति, अतो गम्यते—अस्ति तदिन्द्रिय-संयोग-सहकारि निमित्तान्तरम् अव्यापि, यस्य सन्निधानाऽसन्निधानाऽनुविधानात् ज्ञानस्य उत्पत्त्यनुत्पत्ती भवतः इति। कुतः? कारण-वैकल्ये कार्य-प्रतिबन्धादिति सूत्रार्थः।"

इसके अतिरिक्त अनुमापक हेतुओं के परिज्ञान के लिए अन्यान्य[2]-ग्रन्थ देखना चाहिए।

मन के गुण हैं—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेगाख्य संस्कार।

यह मन प्रति-शरीर भिन्न-भिन्न है, अन्यथा ज्ञान-सांकर्य होने लगेगा। तथापि एक शरीर में एक ही मन रहता है। अत एव सूत्र-कार का कथन है—

"प्रयत्नायौगपद्यात्[3] ज्ञानाऽयौगपद्याच्चैकम्"॥

प्रयत्नायौगपद्य तथा ज्ञानाऽयौगपद्य में अनुभव ही प्रमाण है। कभी-कभी ज्ञान-यौगपद्य आदि का प्रतिभास तो प्रयत्न तथा अदृष्ट के कारण से सम्पन्न मनोनिष्ठ शीघ्र-गतिमत्ता के कारण ही होता है। अत एव जयन्त भट्ट का कथन है :— "ननु च[4]

सुगन्धि शीतलां दीर्घामश्नन्तः पूप-शष्कुलीम्।
कपिल-ब्राह्मणाः सन्ति युगपत्पञ्च-बुद्धयः॥

अपि च·····················भवन्तीति? न, आशूत्पत्तेः, सूच्यग्र-भिद्यमान-कोकनद-दल-कदम्बवत् अति-सूक्ष्मत्वात् कालस्य क्रमः तत्र न विभाव्यते, भवितव्यं तु तेन"।

इसी ज्ञानायौगपद्य के कारण मन का अणुत्व भी सिद्ध है। यदि यह व्यापक हो अथवा मध्यम-परिणाम हो तब तो ज्ञानायौगपद्य की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। अतः इसे अणु-परिमाण मानना चाहिए। इसी अभिप्राय से सूत्र-कारने कहा है :—

"विभववान् महानाकाशः तथा चात्मा, तदभावादणु[5] मनः"।

यद्यपि विभुत्व के अभाव-मात्र से अणुत्व की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा

---

१. न्या० वा० ३।१।१६।

२. प्र० पा० भा०, पृ० ११६; न्या० म०, पृ० ६८ (भा० २); न्या० वा०, पृ० ८०-८१; उपस्कार ३।२।१ इत्यादि।

३. वै० सू० ३।२।३।

४. न्या० म० (भा० २), पृ० ६८।

५. वै० सू० ७।१।२२, २३।

मानने पर तो विभुत्वाभाववान् घट-पटादि भी अणु सिद्ध हो जायेगा, तथापि सूत्र-कार का अभिप्राय है कि नित्य-द्रव्य[1] यदि विभुत्व-रहित हो तो उसमें अणुत्व ही हो सकता है, मध्यम-परिमाण मानने पर तो नित्यत्व[2] ही समाप्त हो जायगा।

संख्या-युक्त होने के कारण मन पृथक्त्व-युक्त भी है। संयोग तथा विभाग की सिद्धि तो "अपसर्पणमुपसर्पणमशित-पीत-संयोगाः कायान्तर-संयोगाश्चेति अदृष्ट-कारितानि" सूत्र[3] से स्पष्ट है। क्रियावत्त्व अथवा विभवाभावत्व के कारण मन का मूर्त्तत्व भी सिद्ध है और मूर्त्तत्व के कारण परत्वाऽपरत्व तथा वेग की भी सिद्धि हो जाती[4] है।

यह मन चेतन नही है, क्योंकि मन ज्ञान का करण है। जो करण होता है वह कर्त्ता नहीं हो सकता है। अतः मन को अज्ञ होना चाहिए। तथापि यह प्रश्न हो सकता है कि मन ज्ञान का कर्त्ता नहीं हो परन्तु वह अचेतन है—इसकी सिद्धि करणत्व से कैसे हो सकती है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि एक शरीर में दो चेतन—आत्मा तथा मन—का समावेश होगा तब तो शरीर आत्मा एवम् मन दोनों का ही उपभोगायतन होगा, और इस तरह दोनों चेतन में असामञ्जस्य के शत-प्रति-शत सम्भावित होने से कभी भी व्यवहार नहीं हो सकेगा। अतः मन को अचेतन ही मानना चाहिए। अत एव न्याय-मञ्जरी-कार का कथन है :—

"अचेतनं च तत् करणत्वादितरेषाम्, एकत्र शरीरे चेतन-द्वय-समावेशाद्व्यवहारः स्यात्[5]"॥

इसी अभिप्राय से प्रशस्तपाद ने भी कहा है :—

"साधारण-विग्रहवत्त्व-प्रसङ्गात् अज्ञत्वम्"[6]

इस प्रकार, नौ द्रव्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनसे

---

१. व्योमवती०, पृ० ४२६।

२. निरवयवं च तत् अवयव-कल्पनायां प्रमाणाभावात्—न्या० म० (भा०२), पृ० ६८।

३. वै० सू० ५।२।१७।

४. मूर्त्तस्य तैः सह स्वभावतः सम्बन्धात् तेन ते अनुमातव्याः—किरणावली, पृ० १५६।

५. न्या० म० (भा० २), पृ० ६८। और भी देखिए :—किरणावली, पृ० १५६–५७; न्या क०, पृ० २२५।

६. प्र० पा० भा०, पृ० २२५।

अतिरिक्त द्रव्य की स्थिति नहीं है। कुछ लोग अन्धकार को भी स्वतन्त्र द्रव्य मनते हैं परन्तु उनका मत ठीक नहीं है।

अन्धकार के द्रव्यत्व का खण्डन

भाट्ट मीमांसक के अनुसार अन्धकार भी द्रव्य है, क्योंकि उसमें भी क्रिया तथा गुण हैं। अत एव यह प्रतीति होती है—"नीलं तमः चलति"। अनुमान से भी अन्धकार में क्रियावत्व की सिद्धि होती है :—"अन्धकारः गतिमान् देशान्तर-प्राप्तिमत्वात् ; यो यो देशान्तर-प्राप्तिमान् स स गतिमान्, यथा स्व-गृहात् यज्ञदत्त-गृहं प्रतिपद्यमानः देवदत्तः, तथा चायम्, तस्मात् तथा= गतिमान्"। गुणवत्व की सिद्धि में आगम भी प्रमाण है :—

"आतपः कटुको रूक्षः छाया मधुर-शीतला" इत्यादि।

अतः मीमांसकों का अनुमान है :—"अन्धकारः द्रव्यम् गुणवत्वात् क्रियाऽऽश्र-यत्वाच्च, पृथिव्यादिवत्"।

इसका अन्तर्भाव प्रसिद्ध पदार्थों में तो हो हीं नहीं सकता है। पदार्थ के दो भेद हैं :—भाव तथा अभाव। अभाव पदार्थ में निषेध-मुख से प्रतीय-मानत्व है जब कि अन्धकार में विधिमुखेन-प्रतीयमानत्व है। अतः अभाव-पदार्थ में इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। भाव पदार्थों के अन्तर्गत नौ द्रव्यों में भी अन्त-र्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि निमीलिताक्ष को अन्धकार है या नहीं है इस तरह के ज्ञान के अभाव के कारण सिद्ध-निःस्पर्श-वत्व अन्धकार का स्पर्शवान् द्रव्य-चतुष्टय (पृथिवी, जल, वायु) में समन्वय नहीं हो सकता है। निःस्पर्शवान् द्रव्य (आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन) तो नित्य हैं और अन्धकार अनित्य है। अतः निःस्पर्शवान् द्रव्य में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। "नीलं तमः चलति" इत्यादि प्रमाणों के आधार पर अन्धकार में गुणवत्व तथा क्रियावत्व के सिद्ध हो जाने पर गुणादि पदार्थों में अन्तर्भाव भी असम्भव है, क्योंकि न्याय-वैशेषिक मत के अनुसार गुणादि पदार्थ के विषय में कहा जाता है :—"गुणादीनां[1] पञ्चानामपि निर्गुणत्व-निष्क्रियत्वे"। अतः अन्धकार को गुणवत्व तथा क्रियावत्व के कारण अतिरिक्त द्रव्य मानना चाहिए—यही भाट्ट मीमांसक का अभिप्राय है।

इस पूर्व-पक्ष का उपसंहार न्याय-लीलावती के निम्न-लिखित श्लोक में किया गया है :—

"नाऽभावोऽभाव-वैधर्म्यात्, नाऽऽरोपो बाध-हानितः[2]।
द्रव्यादि-षट्क-वैधर्म्यात् ज्ञेयं मेयान्तरं तमः॥"

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० ४३।

२. न्या० ली०, पृ० २०।

[नाऽऽरोपो बाध-हानितः = आलोकाभावदशायां तमसश्चाक्षुषत्वं तमसो द्रव्यत्वे बाधकम् अभ्युपयन्ति वैशेषिकाः, द्रव्याणां घटादीनाम् आलोक-सहकृतानामेव प्रत्यक्षात् इति। परन्तु नैतत् बाधकम्; प्रत्यक्षमालोकसहकृतमेवेति नियमे प्रमाणाभावात् इति मीमांसकाकूतम्।]

इसके समाधान में सूत्र-कार का कथन है :—"द्रव्य-गुण-कर्म-निष्पत्ति-वैधर्म्याद्भाऽभावस्तमः"। यद्यपि कुछ संस्करणों में 'वैधर्म्यादभावस्तमः' ऐसा ही सूत्र-स्वरूप है, उदाहरण के लिए, उपस्कार-संस्करण तथा मिथिला-विद्या-पीठ-संस्करण को लिया जा सकता है परन्तु सर्वत्र[1] "भाऽभावः तमः" ऐसा हीं पाठ प्रचलित है। अतः वही पाठ यहाँ उद्धृत हुआ है। उपस्कार तथा मिथिला-वृत्ति[2] की उक्ति से भी यही स्पष्ट होता हैं कि उन लोगों के मत में भी सूत्र में 'भाऽभावः तमः' ही पाठ है।

अतः अन्धकार को तेज का अभाव मानना चाहिए, अतिरिक्त द्रव्य नहीं। 'तमः चलति' इस प्रतीति का कारण है—जब तेजः-प्रतिबन्धक पदार्थ के द्वारा तेज का सान्निध्य प्रतिरुद्ध हो जाता है तब 'तमः अस्ति' यह प्रतीति होती है। अतः यह भी सिद्ध है कि तेजः-प्रतिबन्धक-द्रव्य की क्रिया का ही तेजोऽभाव में आरोप है न कि वस्तुतः अन्धकार में भाव-पदार्थत्व या गतिमत्त्व है। "अन्धकारः गतिमान् देशान्तर-प्राप्तिमत्त्वात्"—इस अनुमान में तो हेतु का पक्ष-धर्मत्व ही असिद्ध है, क्योंकि देशान्तर-प्राप्ति का अर्थ है संयोग और अन्धकार में संयोग की सत्ता तभी सिद्ध होगी जब अन्धकार में पहले द्रव्यत्व की सिद्धि हो जाय। एवञ्च हेतु (= देशान्तर प्राप्तिमत्त्व) के पक्ष-धर्मत्व की सिद्धि द्रव्यत्व-सिद्ध्यधीन होगी और हेतु के पक्ष-धर्मत्व-सिद्धि के अधीन अन्धकार में द्रव्यत्व की सिद्धि होगी। अतः अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। देशान्तर-प्राप्ति का अर्थ देशान्तर-समवाय तो हो ही नहीं सकता है, क्योंकि एकत्र-समवेत पदार्थ का अन्यत्र समवाय नहीं होता है; अन्धकार तो कभी घर में रहता (= समवेत) और कभी बाहर में, फिर उस अन्धकार में देशान्तर-समवेतत्व की सम्भावना कैसे होगी? अतः अन्धकार को तेजोऽभाव रूप ही मानना चाहिए।

यहाँ छात्रों के उपयोग के लिए न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय में अन्धकार के स्वरूप के विषय में प्रचलित मतों का संक्षिप्त उद्धरण दिया जा रहा है। उनका विवरण तत्तद्ग्रन्थों में देखना चाहिए :—

---

१. उदाहरणार्थ, न्या० क०, पृ९ २६; किरणावली, पृ०, १८; न्या० वा०, पृ०, ३४३; न्याय-रत्नाकर, पृ० ७४०।

२. तस्माद्भासः तेजसः अभावः तमः·········प्रयोगस्तु भाऽभावस्तम·—मि० वि० वृ०, पृ० ५६।

(१) "किम्पुनः छाया[1]·········सर्पता खलु द्रव्येण यो यः तेजो-भागः आव्रियते तस्य तस्यासन्निधिरेव अविच्छिन्नो गृह्यते इति। आवरणन्तु प्राप्ति प्रतिषेधः"।

(२ क) "आवरके द्रव्ये सर्पति तेजसोऽसन्निधि-विशिष्टम् द्रव्यं यदुपलभ्यते तत्तु [2]छायेत्युच्यते"।

(२ ख) "निराकृत-तेजः-सम्बन्धीनि द्रव्य-गुण-कर्माणि तमः-शब्देन अभिधीयन्ते, तस्मान्न सूत्र-व्याघातः।"

(३) "तस्माद्भाऽभाव एवच्छाया न तु सतीति [3]सिद्धम्"।

(४) "भासामभावरूपत्वाच्छायायाः"[4]।

(४) "अन्धकारोऽपि [5]भासामभाव एव";

"आरोपित-नील-रूपोऽभावोऽन्धकारः"।

(६) "तस्मात्प्रकाशस्याऽभाव-मात्रं[6] तमः",

"तेजसोऽभाव-मात्रं तमः"।

(७) "तस्माद्रूप-विशेषोऽयमत्यन्तं तेजोऽभावे सति[7] सर्वतः समारोपितः तमः इति प्रतीयते"।

(८) तस्मादावरक-द्रव्ये गच्छति यत्र यत्र तेजसोऽसन्निधिः तत्र तत्र छाया-ग्रहणादन्य-देशता-निबन्धनो गति-भ्रमः······तस्माद्यत्र गुण-क्रियाऽऽरोपः तदन्धकार[8] इति"।

(९) 'तस्माद्भासः = तेजसः, अभावस्तमः'[9]।

(१० क) "नीलं रूपमिति प्रतीतिश्च तमो-विषयिणी[10] यद्यपसारित-बाधा तदा नील-रूपमेव तमः, न द्रव्यादि-वैधर्म्यम्। अथ सम्भवद्बाधा तदा (आलोकाऽभावे नील-रूपस्य) आरोप एव, स्वप्नावभात-नीलिमवत्। अथ रूपाश्रयत्व-बुद्धिस्तमसि, तदा बाधाऽबाधाभ्यां न पदार्थान्तरत्वम्"।

---

१. न्या० भा० १।२।८।

२. (क) न्या० वा०, पृ० १७५। (२. ख) पृ० ३४३।

३. न्या० वा० ता० टी०, पृ० ३४५।

४. व्योमवती, पृ० ४६।

५. सप्त-पदार्थी, सू० ९७, २७४।

६. वै० सू० च० वृ०, पृ० ४३।

७. न्या० क०, पृ० २४।

८. किरणावली, पृ० १९–२०।

९. मि० वि० वृ०, पृ० ५६।

१०. न्या० ली०, पृ० ३६–३७; ३।

(१० ख) "किन्त्वालोक-मात्राऽभाव[1] एव" ।

(११) "उद्भूत-रूपवद्यावत्तेजः संसर्गाभावः तमः"[2] ।

(१२) "यादृशाऽऽलोकाऽभावे नील-रूपारोपः[3] स एव तमः" ।

(१३) "अन्धकारस्तु तेजो-विशेष-सामान्याऽभावः"[4] ।

(१४) पृथिव्यादिभिन्नं तमो न द्रव्यम् किन्तु[5] महाप्रभात्वावच्छिन्नात्यन्ताऽभावः" ।

यहाँ दिग्दर्शन के लिए कुछ प्राचीन ग्रन्थों से उद्धरण दिए गये हैं। अन्यान्य दार्शनिको के मत-विशेष तथा अन्धकार-स्वरूप-निरूपण के विषय में प्रशस्तपाद की सेतु व्याख्या (पृ. ३६–४३) अवश्य-द्रष्टव्य है ।

---

१. न्या० ली०, पृ० ४५० ।

२. उपस्कार ५।२।२० ।

३. स० प० टी० (शेषानन्त), पृ० १४३ ।

४. दीधिति, सामान्य-लक्षणा-प्रकरण ।

५. सूक्ति, पृ० १४ ।

पञ्चम अध्याय

गुण (Quality)

द्रव्य तथा कर्म से भिन्न जातिमान् पदार्थ गुण है। अथवा गुण-शून्य द्रव्य-समवेत तथा कर्म-भिन्न पदार्थ को गुण कहा जाता है। गुण के २४ प्रकार हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण (Dimention), पृथक्त्व (Separateness), संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, (Iiqidity), शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, अदृष्ट और संस्कार। अदृष्ट शब्द से धर्म तथा अधर्म का ग्रहण होता है। अतः २४ हो जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न है कि यदि अदृष्ट शब्द से धर्म तथा अधर्म का परिगणन कर संख्या-पूर्त्ति की जाती है तो संस्कार-पद से भी वेग, भावना तथा स्थिति-स्थापक का परिगणन होना चाहिए और इस प्रकार २६ गुण मानना चाहिए न कि चौबीस। इसके उत्तर में प्राचीनों[1] का कथन है कि संस्कारत्व[2] जाति के द्वारा संस्कार का एक रूप में परिगणन किया गया है, अदृष्टत्व तो जाति नहीं है, अतः धर्म तथा अधर्म का अदृष्टत्वेन निर्देश की असम्भावना होने से पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है। अदृष्टत्व को जाति नहीं मानने में क्या प्रमाण है, इस प्रश्न के उत्तर में उदयनाचार्य का कथन है कि परस्पर-विरुद्ध[3] विहित तथा निषिद्ध कर्म अदृष्ट के कारण होते हैं और इसी तरह परस्पर-विरुद्ध सुख तथा दुःख इसके परिणाम होते हैं, अतः अननुगत होने के कारण अदृष्टत्व-जाति नहीं मानी जाती है। इन्होंने गुणत्व-साक्षाद्व्याप्य-जातिमत्त्व-रूप से ही विभाजन को ध्यान में रखकर चौबीस गुण माने हैं।

परन्तु नवीन[4] लोग अदृष्टत्व को भी जाति मानने के पक्ष में हैं। इन लोगों की दृष्टि में गुणत्व-साक्षाद्व्याप्य-जातिमत्त्व-रूप से ही गुण-विभाजन में

---

१. न्या० कं०, पृ० २८, व्योमवती, पृ० ५०; किरणावली, पृ० ११६। (ए० सो०); कि० प्र०, पृ. ११८।

२. न्या० कं०, पृ० २८।

३. किरणावली, पृ० ११७ (ए० सो०)।

४. कि० प्र० वि०, पृ० ११९, सेतु, पृ० ४८–४९, सूक्ति, पृ० ४७–४९, द्र० कि० टी०, पृ० ६३५।

कोई प्रमाण नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तब तो निष्प्रमाणक संस्कारत्व-जाति के आधार पर भी गुण-विभाजन के असम्भावित होने से वेगत्व, भावनात्व तथा स्थिति-स्थापकत्व रूप से भी विभाजन के अपेक्षित हो जाने पर २६ गुण[१] मानने होंगे। अदृष्टत्व जाति के रहने पर भी गुण को २४ क्यों माना गया है इसके विषय में जगदीश तर्कालङ्कार का कथन निम्न-लिखित है :—

"तत्रानुगतस्याऽदृष्टत्वस्य मिथ्या-ज्ञान-वासनादि-जन्यताऽवच्छेदकतया सिद्धस्य सत्त्वेऽपि अदृष्ट-पदं धर्मत्वाऽधर्मत्वाभ्यामेव विभिन्न-रूपाभ्यां धर्माऽधर्मता-समर्पकम्"[२]।

परन्तु भट्ट वादीन्द्र का मत समन्वयात्मक होने के कारण अधिक रुचिकर है। उनकी उक्ति निम्न-लिखित है :—

"यदि तु धर्माऽधर्मयोरप्येको धर्मः, तमुपजीव्य वा अदृष्टत्वाऽनुमानं सम्भाव्यते, ततो न काचन क्षतिः, धर्माऽधर्मत्व-भेद-विवक्षायां गुण-चतुर्विंशतित्व-निर्वाहात्। अ-दृष्टत्वेनैकत्वविवक्षायान्तु गुण-त्रयोविंशतित्वं सामान्य-विशेष-गुणत्वाभ्यां गुण-द्वित्वमेव (द्वित्वमिवेति युक्तः पाठः प्रतिभाति) न सिद्धान्त[३]-क्षतिमावहतीति।"

अस्तु ! गुण में चौबीस संख्या का प्रयोग तो औपचारिक है। उपचार के विवरण के लिए किरणावली, व्योमवती आदि द्रष्टव्य हैं।

यद्यपि अपने सूत्र (१।१।६) में सूत्र-कार ने कण्ठतः १७ गुणों का ही निर्देश किया है तथापि अन्त में अनुक्त-गुण-समुच्चायाक 'च' शब्द के प्रयोग के द्वारा गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट, अर्थात् धर्म एवम् अधर्म, तथा शब्द का भी ग्रहण होता है। अतः २४ गुण हो जाते हैं—ऐसा प्रशस्तपाद का मत है :—"च-शब्द-समुच्चिताश्च गुरुत्व-द्रवत्वस्नेह-संस्कराऽदृष्ट-शब्दाः सप्तैव इत्येवं चतुर्विंशति-गुणाः[४]"। इसकी व्याख्या करते हुए न्याय-कन्दलीकार ने कहा है :—"च-शब्देन अत्रानुक्ताः गुणत्वेन लोके प्रसिद्धाः गुरुत्वादयः सप्त समुच्चिताः[५]"। उदयनाचार्य की व्याख्या इस प्रकार है :—"अभ्युपगम-सिद्धान्तन्यायेन अन्येपि सप्त सिद्ध-गुण-भावाः, तत्र तत्र तेषां व्युत्पादनात्[६]"। इसका

१. सूक्ति, पृ० ४८।
२. वही, पृ० ४७।
३. द्र० कि० टी०, पृ० ६३५।
४. प० भा० सं०, पृ० २७।
५. न्या० क०, पृ० २७।
६. किरणावली, पृ० २०।

विवरण करते हुए वर्धमानोपाध्यायने अपने किरणावली-प्रकाश में लिखा है :—"साक्षादसूत्रितत्वेऽपि समान-तन्त्राऽभिहितत्वेन अभ्युपगम्यमानत्वादित्यर्थः"। महामहोपाध्याय श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदीजी ने किरणावली के विज्ञापन[1] में उपर्युक्त वर्धमानोक्ति में प्रयुक्त समानतन्त्र-शब्द के विषय में लिखा है :—"एतेन सूत्रकारेण महर्षिणा कणादेन समान-तन्त्रत्वं भाष्यकारस्य स्फुटतया व्युत्पादितम्। अत्र समान-तन्त्रत्वेन गौतम-सूत्र-ग्रहणं नैव सम्भवति, तेषु गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेहाऽदृष्टानां नामान्येव न सन्ति। शब्द-संस्कारयोरदृष्टपदेन धर्माधर्मयोरुपादानं तु यत्र कुत्रचिद्वर्त्तते इति"।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त विवरण प्रशस्तपाद के पदार्थ-धर्म-संग्रह के अत्यधिक प्रचार के कारण हुई वैशेषिक-दर्शन की उपेक्षा का ही परिणाम है। कन्दलीकार ने 'गुणत्वेन लोके प्रसिद्धाः' कह कर प्रायशः ऐसा ही मत उपस्थित किया है कि सूत्र-कार के द्वारा गुरुत्व आदि का गुणत्व वर्णित नही है। उदयनाचार्य ने भी अभ्युपगम-सिद्धान्त-न्यायेन कह कर यही प्रमाणित किया है। किन्तु जब स्वयम् सूत्रकार ने ही गुरुत्व (वै० सू० १।१।२९; ५।१।७; ५।१।१८; ५।२।३ आदि), द्रवत्व (२।१।६७; ५।२।४ आदि), स्नेह (२।१।२।), संस्कार (५।१।१७—१८; ९।२।६—७; ९।२।१० आदि), धर्म-अधर्म (५।१।१५; ५।२।२, ७, १३, १७; ६।१।१२; ६।२।१—२, १४; ९।२।९, १३ आदि) तथा शब्द (२।१।२४—२७; २।२।२१ आदि) का कहीं स्पष्टतः और कहीं अर्थ-लभ्य-रूप में निर्देश किया है तो फिर इन सबों के गुणत्व को सिद्ध करने के लिए लोक-व्यवहार अथवा अभ्युपगम-सिद्धान्त का अनुसरण करना कहाँ तक युक्ति-युक्त है—यह विचारणीय है।

लोक-प्रसिद्ध शौर्य आदि गुणों का उपर्युक्त गुणों में ही अन्तर्भाव होता है। इस प्रसङ्ग में कन्दलीकार की निम्न-लिखित उक्ति ध्येय है :—"ये[2] तु शौर्यौदार्य-दाक्षिण्यौग्र्यादयः, तेऽत्रैवान्तर्भवन्ति। शौर्यं बलवतोऽपि परस्य पराजयाय प्रत्युत्साहः। स च प्रयत्न-विशेष एव। सततं सन्मार्ग-वर्त्तिनी बुद्धिः औदार्यम्। पर-दुःख-प्रहाणेच्छा कारुण्यम्। तत्त्वाऽभिनिवेशिनी बुद्धिः दाक्षिण्यम्। औग्र्यमात्मन्युत्कर्ष-प्रत्ययः इत्येवमादिः।" इस प्रसङ्ग में न्याय–[3]लीलावती भी द्रष्टव्य है।

---

१. किर० विज्ञा०, पृ० १५०।

२. न्या० क०, पृ० २७–२८।

३. न्या० ली०, पृ० ६७३–६७७।

अब संक्षेप में गुणों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

गुण-प्रकार-विवरण

(१) रूप

रूप का लक्षण सप्त-पदार्थी में इस प्रकार किया गया है :—

"रूपत्व-जातिमत् चक्षुर्मात्र-ग्राह्यो गुणो रूपम्[1]"।

यहाँ दो लक्षण किये गए हैं। 'रूपत्व-जातिमत् रूपम्' यह प्रथम लक्षण है और 'चक्षुर्मात्र-ग्राह्यो गुणो रूपम्' यह द्वितीय। पदकृत्य तो कुछ क्लिष्ट नहीं है।

रूप के सात प्रकार हैं :[2]—शुक्ल (White), लोहित (Red), पीत (Yellow), कृष्ण (Black), हरित (Green), कपिश (Brown) तथा चित्र (Variegated)।

चित्र-रूप की सिद्धि

यह चित्र रूप प्रत्यक्ष-सिद्ध है। अत एव "चित्रं वस्त्रम् पश्यामि" इत्यादि प्रतीतियाँ भी उपपन्न होती हैं। इसीलिए न्याय-लीलावती-कार का कथन है :—

"नील-पीतादि-रूप-कदम्बस्य यथा विचित्र[3]-रूप-जनकत्वमध्यक्ष-सिद्धम्…"

अत एव महा-कवि माघ ने भी लिखा है :—

"म्रदीयसीमपि घनामनल्प-गुण-कल्पिताम् ।
प्रसारयन्ति कुशलाः चित्रां वाचः पटीमिव[4]" ॥

इस रूप की उत्पत्ति में चित्र-वर्ण-विशिष्ट-अवयवी समवायि-कारण है और तत्तत् अवयवनिष्ठ शुक्ल, नील आदि रूप [5]असमवायि-कारण हैं। अत एव न्याय-कन्दली-कार का कथन है :—

"यथा अवयवैरवयव्यारब्धः तथा अवयव-रूपैः[6] अवयविनि रूपमारब्धव्यम् ; अवयवेषु च न शुक्लमेव रूपमस्ति, नापि श्याममेव, किन्तु श्याम-

---

१. स० प०, पृ० ५१।

२. मूल-सूत्र में कहीं भी रूप का प्रकार नहीं बतलाया गया है। प्रशस्तपाद ने भी केवल इतना ही कहा है—रूपम अनेक-प्रकारं शुक्लादि (पृ० ७३), परन्तु बाद के आचार्यों ने इसके प्रकार स्पष्ट बतलाए हैं।

३. न्या० ली०, पृ० २०५–६,।

४. शि० व० २।७४।

५. चित्रम् अनन्तरोक्तैः षड्भीरूपैरसमवायिकारणत्वेनारब्धं चित्र-पटादिगतं रूपम्—जिनवर्धनी, पृ. २५।

६. न्या० क०, पृ० ७५; और भी देखिए-मुक्ता० का० १००।

शुक्ल-हरितादीनि। न च तेषामेकं रूपमेवारभते नाऽपराणीत्यस्ति नियमः, प्रत्येकमन्यत्र सर्वेषामपि सामर्थ्य-दर्शनात्"।

अवयवगत-शुक्ल-नीलादि रूपों से उत्पन्न अवयविगत शुक्ल-नील आदि के समुदाय को तो चित्ररूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रूप के लिए व्याप्य-वृत्तित्व (स्व-समानाधिकरणाऽत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्व) आवश्यक[1] है। तात्पर्य यह है कि अवयव-गत शुक्लादि रूपों से अवयवी में अव्याप्य-वृत्ती शुक्लादिरूपों की उत्पत्ति तो रूप के व्याप्य-वृत्तित्व-नियम के कारण मानी ही नहीं जा सकती है। अथचेत्[2] व्याप्य-वृत्ती शुक्लादि रूपों की उत्पत्ति मानी जाय तब तो नील-पीताद्यवच्छेद से भी शुक्ल-रूप की उपलब्धि माननी पड़ेगी, जो सर्वथा असम्भव है (न हि नीलं शिल्पि-सहस्रेणाऽपि पीतं कर्तुं शक्यम्)। चित्र-पट में तदवयव-तन्तु-समुदाय-गत नील-पीतादि रूप हीं प्रतीत होते हैं अवयवि-गत चित्र रूप नहीं, क्योंकि नील-पीतादि-रूपों में परस्पर विरोध होने से सम्भूय-कार्य-कारित्व असम्भवहै—ऐसा कथन भी उपयुक्त नहीं है, कारण जो वस्तु प्रत्यक्ष सिद्ध है उसमें तर्क का कोई अवसर नहीं होता। जब चित्र-रूप प्रत्यक्ष-सिद्ध है तो फिर चित्र-पटावयव-गत शुक्ल-नीलादि रूपों में परस्पर विरोध अत एव सम्भूय-कार्य-कारित्वाभाव की कल्पना नहीं की जा सकती है[3]। दूसरी बात यह है कि यदि अवयवी में रूप की उत्पत्ति नहीं मानेंगे तब तो अवयवी नीरूप रहेगा, और इस प्रकार (चित्र) पट का[4] चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि द्रव्य के चाक्षुष-प्रत्यक्ष में समवाय सम्बन्ध से प्रत्यक्ष-विषयीभूत-पदार्थ-गत उद्भूत-रूप कारण होता है। उद्भूत-रूपवत्त्व को हीं द्रव्य-चाक्षुष में प्रयोजक मानना चाहिए, उद्भूत-रूप-समेवतत्व को नहीं, क्योंकि प्रथम-पक्ष में लाघव[5] है और द्वितीय-पक्ष में अव्यवस्था है (नीलघट के प्रत्यक्ष में उद्भूत-रूपवत्त्व को और चित्र-घट-प्रत्यक्ष में उद्भूत-रूप-समवेतत्व को कारण मानना ही अव्यवस्था है)। और भी एक आपत्ति है कि यदि उद्भूत-रूप-समवेतत्व को द्रव्य-चाक्षुष-प्रत्यक्ष में प्रयोजक माना जाय तब तो सर्वत्र

१. त० दी०, पृ० ५४; मित-भाषिणी, पृ० २६।

२. मुक्ता० का० १००, पदार्थ-चन्द्रिका, पृ० १०४।

३. न्या० क०, पृ० ७५; जि० व०, पृ० २६; न्या० ली०, पृ० २०६; व्योमवती, पृ०, २२२।

४. न्या० क०, पृ० ६५; पदार्थ-चन्द्रिका, पृ० १०४; मुक्ता० का० १००; त० दी०, पृ० ५४; सेतु, पृ०, १८१।

५. पदार्थ-चन्द्रिका, पृ० १०४; त० दी०, पृ० ५४।

अवयवगत उद्भूत-रूप के कारण द्रव्य-प्रत्यक्ष की उपपत्ति हो जाने से अवयवि-मात्र में रूप की कल्पना अनर्थक हो जायेगी। अत एव कन्दली में कहा गया है :—

"न चाऽवयव-रूपाणि समुच्चितान्यत्र[1] चित्र-विषया प्रतीयन्ते; तेनैवावयवी प्रत्यक्षः इति कल्पनायामन्यत्रापि तथा-भाव-प्रसङ्गेन अवयवि-रूपोच्छेद-प्रसङ्गः"।

अतः चित्र-रूप को अवयवगत नाना-रूपारब्ध मानना[2] चाहिए।

पृथिवी में ही सर्व-विध रूप की उपलब्धि होती है, जल में अभास्वर शुक्ल तथा तेज में भास्कर-शुक्ल की सत्ता है।

(२) रस

रसनेन्द्रिय-ग्राह्य गुण को रस कहा जाता है। इसके छे प्रकार होते हैं :— मधुर (Sweet), तिक्त (Bitter), कटु (Pungent), कषाय (Astringent), आम्ल (Sour) तथा लवण (Saline)।

कुछ लोग चित्र-रस को भी मानते हैं। इसका कारण यह है कि यदि पूर्वोक्त युक्ति से चित्र-रूप की सिद्धि होती है तो चित्र-रस की सिद्धि में क्या अनुपपत्ति है। शिवादित्य[3] तथा इनके कुछ व्याख्याकार[4] इस पक्ष के समर्थक हैं। परन्तु उनके अन्य व्याख्याकार[5] इस पक्ष को अनुचित मानते हैं। इसका कारण यह है कि रूप-ग्राहक इन्द्रिय, चक्षु, रूप तथा रूपी द्रव्य का ग्रहण करती है। अतः अवयवी में अनुभव-सिद्ध रूप के नहीं मानने पर अवयवी का प्रत्यक्ष आदि नहीं बन पाता है। परन्तु रस-ग्राहक इन्द्रिय, रसना, तो केवल गुण-ग्रहिका है द्रव्य-ग्राहिका नहीं, अतः यहाँ यदि अवयव-गत रस का ही ग्रहण मानकर अवयवी में चित्र-रस की उत्पत्ति नहीं मानें तो भी अवयवी (रसवत् द्रव्य) के प्रत्यक्षत्व में कुछ हानि-लाभ होने की स्थिति नहीं आती हैं। अतः चित्र रस नहीं मानना चाहिए। अधिक[6] आचार्यों ने चित्र रस को इसी युक्ति से नहीं माना है।

---

१. न्या० क०, पृ० ७५।

२. नवीन नैयायिक लोग चित्र-रूप को नहीं मानते हैं (देखिए :— भास्करोदया, पृ० ५५; मुक्ता० प्र०, पृ० ६७१) परन्तु उनके मत का खण्डन भी दिनकरीय में (पृ० ६७१) किया गया है।

३. स० प०, पृ० २६।

४. जि० व०, पृ० २६; मित-भाषिणी, पृ० २६; प० च०, पृ० १०५;।

५. व० सा०, पृ० १४९।

६. प्र० पा० भा०, पृ० २५४; न्या० क०, पृ० २५५; मुक्ता० का० १००; नील०, पृ० ५५; सेतु, पृ० १८१।

सर्व-विध रस की उपलब्धि पृथिवी-मात्र में होती है, जल में तो केवल मधुर-रस ही रहता है जो हरीतकी-भक्षण-साहचर्यादि से अभिव्यक्त हो जाता है।

(३) गन्ध

घ्राणेन्द्रिय-ग्राह्य गुण गन्ध है। गन्ध के दो भेद होते हैं—

सुरभि (Fragrance) तथा असुभि (Non-Fragrance)। जिस युक्ति से चित्र-रस का प्रतिषेध किया गया है उसी युक्ति से चित्र-गन्ध भी प्रतिषिद्ध हो[1] जाती है। गन्ध की उपलब्धि पृथिवी में स्वाभाविक और अन्यत्र औपाधिक है। कभी-कभी पृथिवी में भी गन्ध का उद्भव नहीं रहता है परन्तु परीक्षा[2] करने पर उसकी सत्ता सिद्ध हो जाती है।

(४) स्पर्श

त्वगिन्द्रिय-मात्र-ग्राह्य गुण स्पर्श है। इसके तीन प्रकार हैं :—

शीत (Cold), उष्ण (Hot) तथा अनुष्णाशीत (Neithr Cold nor hot)। जल का स्पर्श शीत होता है, कभी-कभी औपाधिक कारण से उष्णत्व आदि की भी प्रतीति होती है। अत एव कालिदास का भी कथन है :—

"उष्णत्वमग्न्यातप-सम्प्रयोगात् शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य[3] ॥"

उष्ण-स्पर्श तेज का होता है जो कदाचित् उद्भूत (जैसे सूर्यादि-किरण में), कदाचिदभिभूत (जैसे चन्द्र-किरण में) और कदाचित् अनुद्भूत (जैसे चक्षु में) रहता है।

अनुष्णाशीत स्पर्श भी अपाकज तथा पाकज भेदों से दो प्रकार का होता है। अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श तो वायु का है और पाकज अनुष्णाशीत स्पर्श की सत्ता पृथिवी में होती है। कदाचित् उपाधि-वश से यह स्पर्श भी अभिभूत हो जाता है। इस विषय में अधिक विचार- किरणावली आदि में देखना चाहिए। अवयविमात्र-स्पर्श-विलोपापत्ति अत एव द्रव्य-स्पार्शन-प्रत्यक्षान्यथाऽनुपपत्ति के भय से कुछ लोग चित्र-रूप की तरह चित्र-स्पर्श को भी मानते हैं[4]। परन्तु सप्त-पदार्थी[5] तथा उसकी व्याख्याओं में चित्र-स्पर्श नहीं माना गया है। व्याख्याकार[6] ने कुछ युक्तियाँ भी दी हैं, परन्तु बहुत प्रबल नहीं। प्रशस्तपाद में चित्र-स्पर्श का उल्लेख नहीं है।

---

१. सेतु, पृ० १८१।
२. मुक्ता० का० ३५।
३. रघुवंश ५।५४।
४. मुक्ता० का० १००; सेतु, पृ० १८१।
५. स० प०, पृ० ५७।
६. पदार्थ-चन्द्रिका, पृ० १०५।

पाकजोत्पत्ति-प्रक्रिया

ये चार गुण—रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श—पृथिवी-द्रव्य में पाकज[1] होते हैं। पाकजोत्पत्ति-प्रकार[2] में नैयायिकों तथा वैशेषिकों में अन्तर है। नैयायिकों के अनुसार पिठर (= Pot) पाक का सिद्धान्त है जब कि वैशेषिक पीलु (= Atom) पाक का सिद्धान्त[3] मानते हैं। नीचे दोनों मतों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है :—

पिठर-पाक-प्रक्रिया

नैयायिकों के अनुसार सभी आम (कच्चे) द्रव्य सच्छिद्र माने जाते हैं। जब कच्चा घट कन्दुक (= आवा) में रक्खा जाता है तो प्रत्येक छिद्र से अग्नि के परमाणु उस घट में प्रविष्ट होकर घट के बाह्य तथा आभ्यन्तर भाग को पकाते हैं। अत एव घट के अंश-प्रत्यंश पाक-प्रक्रिया के पश्चात् रूपान्तरित हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में पाक के समय घट के आरम्भक संयोगों का नाश नहीं होता है क्योंकि प्रत्यक्ष-प्रमाण से यथावत् द्रव्य की उपलब्धि होती है। अत एव जयन्त भट्ट ने कहा है :—

"यादृगेव हि निक्षिप्तो घटः पाकाय कन्दुके।
पाकेऽपि तादृगेवासावुद्गतो[4] दृश्यते यतः॥"

पीलु-पाक-प्रक्रिया

उपर्युक्त मत के विरुद्ध वैशेषिकों का कथन है कि कार्य-द्रव्य को सच्छिद्र मानकर उन छिद्रों द्वारा तेजः-परमाणुओं के प्रवेश से कार्य-द्रव्य में पाक होना सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि ये छिद्र निरवयव परमाणु के अन्दर तो होहीं नहीं सकते हैं। द्व्यणुक के बीच में छिद्र मानना भी असम्भव है, क्योंकि सावयव पदार्थ-द्वय के संयोग में अव्याप्य-वृत्तित्व (= स्व-समानाधिकरणाऽभाव-प्रतियोगित्व) के नियम से अन्तर (छिद्र) सम्भावित है परन्तु निरवयव-परमाणु-द्वय का तो तथा-विध संयोग ही सम्भव नहीं है।

---

१. वै० सू० ७।१।६।

२. पाकजोत्पत्ति शब्द के विभिन्न व्युत्पादन के लिए देखिए :—व्योमवती, पृ० ४४५–४४७।

३. तत्राऽपि परमाणौ स्यात् पाको वैशेषिके नये।
नैयायिकानान्तु नये द्व्यणुकादावपीष्यते॥
कारि० १०५—१०६।

४. न्या० म०, पृ० १२ (भा० २)।

अतः परमाणु-द्वय-संयोग-जन्य द्वयणुक में अच्छिद्रत्व मानना ही पड़ेगा; अन्यथा द्वयणुक की उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी। अतः पिठर-पाक की प्रक्रिया अनादरणीय है। अत एव प्रशस्त-पाद का कथन है :—

"अणु-प्रवेशादपि च व्याप्तिर्न सम्भवति[1], कार्य-द्रव्य-विनाशात्।"

इसीलिए 'पीलु', अर्थात् अग्नि-संयोग से विभक्त परमाणु, में हीं पाक-प्रक्रिया माननी चाहिए।

इस प्रक्रिया का विवरण इस प्रकार है :—घटादि कच्चे पार्थिव-पदार्थ के परमाणुओं के साथ अग्नि के संयोग से उन परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति होती है, उन क्रियाओं से घटारम्भक परमाणुओं में परस्पर विभाग होता है; विभाग से आरम्भक-संयोग का नाश होता है; उसके बाद कार्य-घट का विनाश हो जाता है। इसके पश्चात् विभक्त परमाणुओं में अग्नि-संयोग से परमाणु-गत श्याम रूप का नाश होता है और दूसरे अग्नि-संयोग से पाकज रक्त-रूप आदि की उत्पत्ति[2] होती है (परमाणुओं में ही)। विनाशक संयोग तथा उत्पादक संयोग में भेद की व्याख्या कन्दली-कार ने निम्न-लिखित रूप में की है :—

"न च यदेव रूपादीनां[3] विनाश-कारणं तदेव तेषामुत्पत्ति-कारणम् इत्यवगन्तव्यम्, तन्तु-रूपादीनामन्यत उत्पत्तेः अन्यतश्च विनाश-दर्शनात्। तेन परमाणुषु रूपादीनामन्यस्मादग्नि-संयोगादुत्पत्तिः अन्यस्मादग्नि-संयोगाद्विनाश इत्यवसीयते। परमाणुरूपादि-विनाशोत्पादौ एक-कारणकौ न भवतः रूपादि-विनाशोत्पादत्वात्, तन्तु-रूपादि-विनाशोत्पादवत्।"

उपर्युक्त प्रकार से स्वतन्त्र परमाणुओं में पाक हो जाने पर पुनः उस पच्यमान घट के उपभोक्ता जीवात्म-विशेष के अदृष्ट तथा उस व्यापक जीवात्मा एवं परमाणुओं के संयोग से परिपक्व घटारम्भक-परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर दो परमाणुओं में संयोग होकर द्वयणुक, एवं तीन द्वयणुकों के संयोग होने पर त्र्यणुक, इसी तरह चार त्र्यणुक के संयोग से चतुरणुक आदि की उत्पत्ति के क्रम से स्थूल घट की निष्पत्ति होती है। यही पीलु-पाक-प्रक्रिया का संक्षिप्त रूप है।

यद्यपि पाक-प्रक्रिया के समय घट का नाश प्रत्यक्ष-गोचर नहीं होता है

---

१. प्र० पा० भा०, पृ० २६२।

२. कारणान्तरानुपलब्धि के कारण ही अग्नि-संयोग को रूपोत्पादक भी माना जाता है।

३. न्या० क०, पृ० २५९–६०।

तथापि घट के बाह्य तथा आभ्यन्तर भागों में रूपान्तर की उपलब्धि से (कारणगुण-पूर्वकत्व की उपपत्ति के लिए) कार्य घट का तेजः-संयोग से नाश माना जाता है। अत एव प्रशस्त-पाद का कथन है :—

"सर्वावयवेष्वन्तर्बहिश्च वर्त्तमानस्य[1] (रूपान्तरस्य, कार्यद्रव्यनाशमन्तरा) अग्निना व्याप्त्यभावात्"।

दूसरी बात यह भी है कि कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि रम्याकृति घट भी कन्दुक में परिपाक के बाद कदाकृति दीखता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पूर्व-घट कन्दुक में अग्नि-संयोग के बाद नष्ट हो गया था और पश्चात् उपभोक्ता के अदृष्ट-वैगुण्य से वक्राकृति उपलब्ध हो रहा है:—

"अपि च पाकानन्तरं कन्दुकादपकृष्णमाणाः[2] पिठरादयः केचित् स्फुटिताः, केचित् वक्रतां गताः, केचित् सन्निवेशान्तरमेव प्रतिपन्नाः दृश्यन्ते; तस्मादपि पश्यामो नश्यन्तीति"।

स्वतन्त्र-परमाणुओं में ही रूपान्तरोत्पत्ति में एक कारण यह भी है कि अवयवि-द्रव्य के उत्पादन-कार्य से विरत अवयव द्रव्य में हीं रूपान्तर की उत्पत्ति देखी जाती है; अतः यह सिद्ध है कि परमाणुओं में भी अवयवि-द्रव्य (घट-द्रव्य) के उत्पादन से विरति की अवस्था में ही रूपान्तर की उत्पत्ति होती है।[3]

द्व्यणुक-नाश-क्षण से लेकर रूपादि की उत्पत्ति तक कितने क्षण लगते हैं, इस विषय में निम्न-लिखित मत हैं:—

(१) नव-क्षण-प्रक्रिया—

विभाग-प्रकरण में एक विभागज-विभाग नाम के तृतीय विभाग-प्रकार की व्याख्या की जाएगी। विभागज-विभाग के अभ्युपगम में सबसे प्रबल तर्क यही है कि जो क्रिया द्रव्यारम्भक संयोग के विरोधी विभाग का उत्पादन करती है वही क्रिया द्रव्यारम्भक संयोग के अविरोधी विभाग का भी उत्पादन नहीं कर सकती, क्योंकि यदि एक ही क्रिया से उभय-विध विभाग की उत्पत्ति मानी जाय तब कमल की कली में द्रव्य (कमल) के आरम्भक कमल-दल-संयोग के अविरोधी आकाश-कमल-दल-विभाग को उत्पन्न करनेवाली जो क्रिया होती है—जिससे उस कली की सटी हुई सभी पत्तियाँ विकसित हो जाती हैं—उसी से द्रव्य (कमल) के आरम्भक संयोग का विरोधी विभाग

१. प्र० पा० भा०, पृ० २६२।

२. न्या० म० (भा० २), पृ० ११।

३. न्या० क०, पृ० २५९।

भी उत्पन्न हो जायगा, फलतः खिलने के समय ही कमल को विनष्ट हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः एक ही क्रिया से उभय-विध विभाग की समकालोत्पत्ति की असम्भावना होने के कारण द्रव्यारम्भक-संयोग-विरोधी विभाग से आगे चलकर द्रव्यारम्भक-संयोगा-विरोधी आकाश-द्रव्यावयव-विभाग की उत्पत्ति मानी जाती है। यही दूसरा विभाग विभागज-विभाग कहलाता है। इसके विरुद्ध नवीन नैयायिकों का कहना है कि उक्त प्रकार से विभागज-विभाग का अभ्युपगम अनावश्यक है। खिलने के समय कमल के नाश की स्थिति तो इसीलिए नहीं होती है कि कमल का आरम्भक संयोग उसकी पत्तियों के मूल-देश में होता है जब कि विकास के समय कमल की पत्तियों का आकाश से विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रिया पत्तियों के अग्र-देश में होती है मूल-देश में नहीं। इसलिए द्रव्यारम्भक-संयोग तथा आकाश-कमल-विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रिया में समान-देशता के अभाव होने से ही विकास के समय कमल का नाश नहीं होता है। अतः विभागज-विभाग अप्रामाणिक है। इस मत के अनुसार,[1] न्यूनतम अवधि की दृष्टि से, द्व्यणुक-नाश-क्षण से रूपाद्युत्पत्ति-क्षण तक नौ क्षण लगते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार, क्षणों का विवरण निम्नलिखित है:—

प्रथम-क्षण:—

(क) द्व्यणुक-नाश,[2]

(ख) श्यामादि-नाशक 'क' अग्नि-संयोग की उत्पत्ति,

(ग) श्यामादि की विनश्यत्ता,

(घ) रक्तादि के उत्पादक 'ख'अग्नि-'क'परमाणु-संयोग की उत्पद्यमानता,

(ङ) पूर्व-क्षण मे उत्पन्न क्रिया से सम्पन्न 'क'परमाणु का उत्तर-प्रदेश से संयोग।

द्वितीय-क्षण:—

(क) श्याम-रूप का नाश,

---

१. सेयं प्रक्रिया यदा क्रियातः विभागः द्रव्यारम्भक-संयोग-प्रतिद्वन्द्यप्रतिद्वन्द्वी चेति पक्षः तदा—किर०, पृ० ५३९ (ए० सो०)

२. इससे पहले अग्नि में उत्पन्न कर्म से आरम्भक-परमाणु तथा अग्नि में 'नोदन' संयोग होता है, उस संयोग से 'क' परमाणु में क्रिया होती है, उससे 'क' परमाणु का 'ख' परमाणु तथा पूर्व-प्रदेश से विभाग होता है, तदनन्तर द्व्यणुकारम्भक-संयोग एवम् पूर्व-प्रदेश-संयोग होता है। परन्तु इन क्षणों की उपेक्षा करके द्व्यणुक-नाश-क्षण से ही गणना की गई है।

(ख) श्यामादि-नाशक 'क' अग्नि-'क' परमाणु-संयोग से 'क' अग्नि-निष्ठ क्रिया का नाश,

(ग) उत्तर-देश-संयोग से 'क' परमाणु की क्रिया का नाश,

(घ) रक्तोत्पादक 'ख' अग्नि[1]-'क' परमाणु-संयोग की उत्पत्ति।

तृतीय-क्षण:—

(क) 'क' परमाणु में रक्तादि की उत्पत्ति,

(ख) 'क' अग्नि में क्रियाऽन्तर की[2] उत्पत्ति,

(ग) 'ख' अग्नि की पूर्व-क्रिया का नाश।

चतुर्थ-क्षण:—

(क) अदृष्टवदात्म-संयोग से 'क' परमाणु में द्व्यणुकारम्भक-संयोगानुकूल-क्रिया की उत्पत्ति,[3]

(ख) पूर्व-क्षणोत्पन्न क्रिया से 'क' अग्नि का 'क' परमाणु से तथा पूर्व-प्रदेश से विभाग,

(ग) 'ख' अग्नि में क्रियाऽन्तर की उत्पत्ति।

पञ्चम-क्षण :—

(क) 'क' परमाणु का पूर्व-देश से विभाग,

(ख) 'क' अग्नि के पूर्व-संयोग का नाश,

(ग) 'ख' अग्नि का 'क' परमाणु तथा पूर्व-देश से विभाग।

---

१. इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि श्याम-रूप-नाशक अग्नि-संयोग का समवायि-कारण अग्नि (= परमाणु) रक्तोत्पादक अग्नि-संयोगाश्रयीभूत अग्नि (= परमाणु) से भिन्न है। इसीलिए प्रथम-क्षण में श्यामादि-नाशक-संयोगाश्रय अग्नि में क्रिया के वर्त्तमान होने पर भी रक्तोत्पादक-संयोगाश्रय अग्नि में क्रियान्तर की उत्पत्ति बतलाई गई है। अन्यथा क्रियाश्रय में क्रियान्तर की उत्पत्ति के निष्प्रमाणक होने के कारण उपर्युक्त स्थिति अनुपपन्न हो जाती। इस रहस्य का उद्घाटन किरणावली में किया गया है—"न च तावन्तं कालम् एकः अग्नि-संयोगः अनुवर्त्तितुम् ईष्टे, तेजसोऽविलम्बेन गमन-शीलत्वात्, तेजोन्तरेणाभिहित्यमानत्वान्नुद्यमानत्वाच्च"। विशेष विवरण के लिए देखिए—व्योम०, पृ० ४४६-४४७, किर०, पृ० ४३२-४३३ (ए० सो०), न्या० क०, पृ० २५९-६०।

२. अग्नि में क्रिया की उत्पत्ति अदृष्टवदात्म-संयोग से होती है।

३. नीरूप द्रव्य में द्रव्यारम्भक-संयोगानुकूल क्रिया के अनुभव-विरुद्ध होने के कारण तृतीय-क्षण में निर्गुण 'क' परमाणु में क्रिया की उत्पत्ति नहीं होती है।

षष्ठ-क्षण:—

(क) 'क' परमाणु के पूर्व-देश-संयोग का नाश,

(ख) 'क' अग्नि का 'ख' परमाणु तथा उत्तर-देश के साथ संयोग,

(ग) 'ख' अग्नि के पूर्व-संयोग का नाश ।

सप्तम-क्षण:—

(क) 'क' परमाणु का 'ख' परमाणु तथा उत्तर देश के साथ संयोग,

(ख) 'ख' परमाणु के श्यामादि का नाश,

(ग) 'ख' अग्नि का 'ख' परमाणु से संयोग ।

अष्टम-क्षण:—

(क) 'ख' परमाणु में 'ख' अग्नि के संयोग से रक्तादि की उत्पत्ति,

(ख) द्व्यणुक की उत्पत्ति ।

नवम-क्षण:—

(क) द्व्यणुक-समवायिकारणीभूत 'क' परमाणु तथा 'ख' परमाणु में क्रमशः तृतीय-क्षणोत्पन्न तथा अष्टम-क्षणोत्पन्न रक्तादि से द्व्यणुक में रक्तादि की उत्पत्ति ।

उपर्युक्त नव्य-नैयायिक के विभागज-विभाग-विरोधी मत के विरुद्ध वैशेषिकाचार्यों का कथन है कि यदि विभागज-विभाग का अस्वीकार कर यह मान लिया जाय कि एक-कारण-जन्य विभाग आरम्भक-संयोग का विरोधी भी होता है और उसका अविरोधी भी तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि विभाग में वैजात्य—द्रव्यारम्भक-संयोग-विरोधित्व एवम् द्रव्यारम्भक-संयोगाऽविरोधित्व—है । यह विभाग-गत वैजात्य तब तक उपपन्न नहीं हो सकता जब तक उस विभाग के जनक कर्म में वैजात्य—द्रव्यारम्भक-सयोग-प्रतिरोधक-विभाग-जनकत्व तथा द्रव्यारम्भक-संयोगाऽप्रतिरोधक-विभाग-जनकत्व—न मान लिया जाय । परन्तु एक ही कर्म में परस्पर-विरुद्ध उभय-विध वैजात्य की उपपत्ति नहीं होती है । अतः उभय-विध-विभाग-जनकता कर्म में नहीं मानी जा सकती । अतः अवयव-निष्ठ-कर्म-जन्य विभाग में द्रव्यारम्भक-संयोग-प्रतिरोधक-विभाग-जनकत्व और द्रव्यारम्भक-संयोग-प्रतिरोधक विभाग में द्रव्यारम्भक-संयोगाऽप्रतिरोधक-विभाग-जनकत्व मानना चाहिए[1] । एवञ्च विभागज-विभाग की सिद्धि स्पष्ट है ।

---

१. किर०, पृ० ४९३–९४ (ए० सो०); कि० प्र०, पृ० ४९३, न्या० क०, पृ० ३७१–३७२ ।

कर्म-जन्य विभाग से जो विभाग की उत्पत्ति होती है वहाँ कारण-स्थानीय विभाग स्वोत्तरोत्पन्न-भाव-सापेक्ष होकर ही कार्य-स्वरूप विभाग का उत्पादक हो सकता है[1], अन्यथा नहीं। उत्तर विभाग के उत्पादन में कारणी-भूत पूर्व-विभाग किस तत्त्व की अपेक्षा रखता है—इस विषय में दो[2] मत हैं :—

(क) द्रव्यारम्भक-संयोग-विनाश-विशिष्ट कालोपाधि की अपेक्षा होती है,

(ख) द्रव्य-नाश-विशिष्ट कालोपाधि की अपेक्षा होती है।

प्रथम मत के अनुसार, द्वयणुक-नाश से लेकर पुनः उत्पन्न द्वयणुक में रक्ताद्युत्पत्ति तक दस क्षण और द्वितीय मत के अनुसार, ग्यारह क्षण लगते हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं का संक्षिप्त विवरण निम्न-लिखित है :—

दश-क्षण-प्रक्रिया

प्रथम-क्षण:—

(क) द्वयणुक-नाश[3],

(ख) द्वयणुकारम्भक-संयोग-नाशक विभाग से परमाणु-आकाश-पूर्व-प्रदेश-विभाग की उत्पत्ति,

(ग) अग्नि-परमाणु-संयोग।

द्वितीय-क्षण:—

(क) श्यामादि-नाश,

(ख) परमाण्वाकाश-पूर्व-संयोग-नाश,

(ग) अन्यन्तर-परमाणु-संयोग।

---

१. किर०, पृ० ४९६ (ए० सो०), मुक्तावली—पीलु-पाक-वाद।

२. कार्य-विनाशो द्रव्य-विनाशः, तद्विशिष्टं कालं...च अपेक्ष्य आरभते इति। अन्ये तु कार्य-विनाश-विशिष्टं कालमिति सामान्याभिधानात् संयोग-विनाश-विशिष्टमपेक्ष्य द्रव्य-विनाश-समकालमारभते इति ब्रुवते—व्योम०, पृ० ५०१; और भी देखिए—किर०, पृ० ४३९, ४९६–४९७ (ए० सो०)।

३. इससे पूर्व, (१) अग्नि-क्रिया, (२) अग्नि-पूर्व-देश-विभाग, (३) अग्नि-पूर्व-देश-संयोग-नाश (४) अग्नि का उत्तर-देश तथा द्व्यणुकारम्भक परमाणु के साथ संयोग (५) द्व्यणुकारम्भक एक परमाणु में क्रिया तथा अग्नि-क्रिया-विनाश (६) परमाणु-द्वय-विभाग (यही विभाग उपर्युक्त परमाणु-आकाश-विभाग का जनक है) (७) परमाणु-द्वय-संयोग-नाश—इतनी प्रक्रियाएँ, संक्षेप में, होती हैं। विशेष उपपत्ति के लिए नव-क्षण-प्रक्रिया में निर्दिष्ट युक्तियों का उपयोग करना चाहिए।

तृतीय-क्षण:—

(क) रक्तादि की उत्पत्ति,

(ख) परमाणूत्तर-देश-संयोग।

चतुर्थ-क्षण:—

(क) वह्नि-संयोग-जन्य परमाणु-क्रिया का नाश।

पञ्चम-क्षण:—

(क) अदृष्टवान् आत्मा तथा परमाणु के संयोग से परमाणु में द्रव्यारम्भानुकूल क्रिया की उत्पत्ति।

षष्ठ-क्षण:—

(क) परमाणु-पूर्व-देश-विभाग[1]।

सप्तम-क्षण:—

(क) परमाणु-पूर्व-देश-संयोग-नाश।

अष्टम-क्षण:—

(क) परमाणु-द्वय-संयोग।

नवम-क्षण:—

(क) द्व्यणुकोत्पत्ति।

दशम-क्षण:—

(क) द्व्यणुक में रक्तादि की उत्पत्ति।

परन्तु उदयनाचार्य का कहना है कि प्रशस्त-पाद के द्वारा उल्लिखित 'कार्य-नाश' शब्द का अर्थ कार्यारम्भक-संयोग-नाश नहीं हो सकता है, क्योंकि विभागान्तर के उत्पादन में विभाग प्रतिबन्धकाऽभाव की अपेक्षा रखता है। विभाग का प्रतिबन्धक द्रव्यारम्भक संयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा यदि मान लिया जाय तब द्रव्यारम्भक-संयोग को विभाग से प्रबल मानना पड़ेगा, यतः दुर्बल तत्त्व प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है। एवञ्च यदि द्रव्यारम्भक-संयोग विभाग से प्रबल है तब विभाग से द्रव्यारम्भक-संयोग का प्रतिबन्ध कैसे हो सकेगा? एक ही विभाग संयोग से प्रतिबद्ध भी होता है और उसका प्रतिबन्धक भी— यह तो हो ही नहीं सकता है। अतः 'कार्य-नाश' का अर्थ 'द्रव्य-नाश' ही है, क्योंकि द्रव्य विभाग का प्रतिबन्धक होता है। अतः द्रव्य-नाश क्षण में नहीं अपि तु द्रव्य-नाश-विशिष्ट कालोपाधि के उत्तर

१. यह पूर्व-देश वही है जिसे तृतीय-क्षण में उत्तर-देश कहा गया है।

क्षण में ही विभागज-विभाग की उत्पत्ति हो सकती[1] है। इनके अनुसार, 'दश-क्षण-प्रक्रिया' के स्थान में 'एकादश-क्षण-प्रक्रिया' होती है। इस प्रक्रिया में एक क्षण की वृद्धि का स्पष्ट चित्र वर्धमानोपाध्याय के निम्न-लिखित कथन में उपलब्ध होता है :—

"एकादश-क्षणायान्तु[2] श्यामादि-निवृत्ति-समकालम् आकाश[3]-विभागः, रक्तोत्पत्ति-समये एव आकाश-संयोग-नाशः, ततः उत्तर-देश-संयोग इति एक-क्षण-वृद्धिः।"

उपर्युक्त 'दश-क्षण-प्रक्रिया' तथा उससे इस 'एकादश-क्षण-प्रक्रिया' के अन्तर के अनुचिन्तन से 'एकादश-क्षण-प्रक्रिया' स्पष्ट हो जाती है, अतः इसका पूर्ण-विवरण यहाँ देना अनावश्यक है। विशेष जिज्ञासुओं को किरणावली तथा मुक्तावली आदि का अवलोकन करना चाहिए।

इस प्रसङ्ग में यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि व्योमशिवाचार्य ने विभागज-विभाग के स्वीकार-पक्ष में भी 'नव-क्षणा' (द्रव्यारम्भक-संयोग-नाश-विशिष्ट कालोपाधि की अपेक्षा से द्रव्य-नाश-क्षण में विभागज-विभाग की उत्पत्ति मान कर) और 'दश-क्षणा' (द्रव्यविनाशोत्तर काल में विभागज-विभाग[4] की उत्पत्ति मान कर) का उपपादन किया है परन्तु श्रीधराचार्य ने द्रव्य-विनाशोत्तर-काल में ही विभागज-विभाग की उत्पत्ति मान कर 'नव-क्षण-प्रक्रिया' का[5] निर्देश किया है। इस विषय में मथुरानाथ तर्कवागीश की व्याख्या भी अवश्यावलोकनीय है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सभी प्रकारों का उपनिबन्ध असम्भव है।

उपर्युक्त प्रक्रियाओं की उपपत्ति तब होती है जब द्व्यणुकारम्भ-संयोग-नाशक विभाग के उत्पादक क्रिया तथा पुनः द्व्यणुकारम्भ-संयोग-जनक क्रिया का आश्रय एक ही परमाणु होता है। परन्तु यदि द्व्यणुकारम्भक-संयोग-नाशक विभाग के उत्पादक क्रिया का आश्रय 'क' परमाणु हो और अदृष्टवदात्म-संयोग-जन्य द्व्यणुकारम्भक-संयोग-जनक क्रिया का आश्रय 'ख' परमाणु हो तब तो 'पञ्च-क्षणा', 'षट्-क्षणा', 'सप्त-क्षणा', 'अष्ट-क्षणा' 'नव-क्षणा' हो सकती हैं। इन प्रक्रियाओं की परिस्थितियों का निर्देश उदयनाचार्य ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में किया है :—

---

१. किर०, पृ० ४९६–९७ (ए० सो०)।
२. कि० प्र०, पृ० ४३९।
३. यही विभागज-विभाग है।
४. व्योम०, पृ० ४५२–४५३।
५. न्या० क०, पृ० २६५–२६६।

"यदा द्रव्यारम्भकः[1] संयोगो विनश्यति तदैव परमाण्वन्तरे कर्म······पञ्चमे क्षणे गुणोत्पत्तिः······। एवं द्रव्य-नाश-सम-कालं क्रिया-चिन्तिनात् षष्ठे, श्यामादि-नाश-सम-कालं क्रिया-चिन्तायां सप्तमे[2], रक्तद्युत्पत्ति-सम-कालं कर्म-प्रक्रमे अष्टमे, रक्ताद्युत्पत्तेरग्रिम-क्षणे परमाण्वन्तरे कर्म-चिन्तायां नवमे क्षणे इति"। इन प्रक्रियाओं में से उदाहरण के लिए 'पञ्च-क्षणा' का विवरण नीचे प्रस्तुत किया जाता है :—

पञ्च-क्षण-प्रक्रिया

प्रथमतः 'क' परमाणु में कर्म की उत्पत्ति, तदनन्तर परमाणु-द्वय-विभाग, तत्पश्चात् परमाणु-द्वय-संयोग-नाश एवम् 'ख' परमाणु में द्रव्यारम्भानुगुण क्रिया की उत्पत्ति के बाद क्षण-गणना निम्न-लिखित है :—

प्रथम-क्षण:—

(क) द्व्यणुक-नाश,

(ख) 'ख' परमाणु-समवेत-क्रिया-जन्य परमाणु-पूर्व-देश-विभाग।

द्वितीय-क्षण:—

(क) श्यामादि-नाश,

(ख) परमाणु-पूर्व-देश-संयोग-नाश ।

तृतीय-क्षण:—

(क) रक्तादि की उत्पत्ति,

(ख) द्व्यणुकारम्भक परमाणु-द्वय का संयोग ।

चतुर्थ-क्षण:—

(क) द्व्यणुकोत्पत्ति ।

पञ्चम-क्षण —

(क) द्व्यणुक में रक्तादि की उत्पत्ति ।

अन्यान्य प्रक्रियाओं का उपपादन स्वयम् करना चाहिए। जहाँ तक अग्नि-संयोगादि का प्रश्न है, उसे समझने के लिए 'नव-क्षण-प्रक्रिया' की स्थिति का मनन बहुत ही उपयोगी होगा।

---

१. किर०, पृ० ४३९–४०।

२. यहाँ व्योमवती का पाठ है—"श्यामादि-निवृत्ति-सम-कालम् अष्ट-क्षणा" परन्तु यह अशुद्ध पाठ है। वस्तुतः यहाँ "श्यामादि-निवृत्ति-सम-कालं सप्त-क्षणा, रक्ताद्युत्पत्ति-सम-कालम् अष्ट-क्षणा" ऐसा पाठ होना चाहिए।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि 'क' परमाणु में अग्निसंयोग के क्षण में 'ख' परमाणु में द्व्यणुकारम्भक-संयोगानुकूल क्रिया की उत्पत्ति अथवा 'क' परमाणु में अग्नि-संयोग-जन्य क्रिया की उत्पत्ति के क्षण में 'ख' परमाणु में द्रव्यारम्भक-संयोगानुकूल क्रिया की उत्पत्ति अथवा अग्नि-संयोग-जन्य-क्रिया से उत्पन्न 'क' परमाणु-निष्ठ-विभाग की उत्पत्ति के क्षण में 'ख' परमाणु में द्व्यणुकारम्भक-संयोगानुकूल क्रिया की उत्पत्ति मानकर क्रमशः 'द्वि-क्षण-प्रक्रिया', 'त्रि-क्षण-प्रक्रिया' तथा 'चतुः-क्षण-प्रक्रिया' नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि इन सभी प्रक्रियाओं में निर्गुण परमाणुओं से आरब्ध द्व्यणुक में निर्गुणत्व ही बना रह जायगा जो सर्वथा अनुचित है। तात्पर्य यह है कि 'द्वि-क्षण-प्रक्रिया' के अनुसार, [1]द्व्यणुक-नाश के क्षण में; 'त्रि-क्षण-प्रक्रिया' के अनुसार, श्यामादिनाश-क्षण में; और 'चतुः-क्षण-प्रक्रिया' के अनुसार, परमाणु में रक्तादि की उत्पत्ति के क्षण में दूसरे द्व्यणुक की उत्पत्ति होगी। एवञ्च किसी भी प्रक्रिया में द्व्यणुकोत्पत्ति से पूर्व उसके समवायि-कारण में सगुणत्व नहीं रहेगा; फलतः उत्पन्न द्व्यणुक सर्वदा निर्गुण ही बना[2] रह जाएगा। 'द्वि-क्षण प्रक्रिया' में यह भी एक परेशानी है कि एक ही क्षण में समान-परमाणु-द्वयारब्ध द्व्यणुकका नाश तथा उन्हीं दोनों परमाणुओं से द्व्यणुकान्तर की उत्पत्ति का अभ्युपगम अनुभव-विरुद्ध है। यद्यपि 'द्वि-क्षण-प्रक्रिया' में द्व्यणुकान्तर के आरम्भक परमाणु में द्व्यणुकान्तरारम्भ के पूर्व-क्षण में श्याम-रूपादि की सत्ता बनी ही रहती है तथापि द्व्यणुकान्तर की उत्पत्ति के समय श्यामादि का नाश होगा ही और इस तरह द्व्यणुकान्तर सगुण कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि असमवायि-कारण में कार्य-समान-कालिकत्व अपेक्षित होता है।

---

१. उदाहरणार्थ :—

(१) 'क' परमाण्वग्नि संयोग, 'ख' परमाणु में क्रिया
(२) 'परमाणु में क्रिया, 'ख' परमाणु का विभाग
(३) परमाणु का विभाग 'ख' परमाणु के पूर्व संयोग का नाश
(४) परमाणु-द्वय-संयोग-नाश, 'ख' परमाणु का 'क' परमाणु के साथ संयोग;
(५) पूर्व-द्व्यणुक का नाश, उत्तर द्व्यणुक की उत्पत्ति।

इसी प्रकार 'त्रि-क्षण-प्रक्रिया' तथा 'चतुः-क्षण-प्रक्रिया' का भी उपपादन करना चाहिए।

२. द्वि-त्रि-चतुः-क्षणा च प्रक्रिया न सम्भवत्येव, उत्पन्ने रक्तादौ सगुणेनैव द्रव्येण द्रव्यान्तरारम्भणात् (अन्यथा तदारब्ध-द्रव्यस्य निर्गुणत्वापत्तिः, कारण-गुणस्य कार्य-गुणारम्भकत्वात्) इत्ययं संक्षेपः—किर०, पृ० ४४० (ए०सो०)

उपर्युक्त सभी प्रक्रियाओं के विवरण से लिए किरणावली, व्योमवती, यादवाचार्य-कृत न्याय-सिद्धान्त-मञ्जरी-सार (न्याय-सिद्धान्त-मञ्जरी की व्याख्या), मथुरानाथ के सिद्धान्त-रहस्य, मुक्तावली एवम् पदार्थीय-दिव्य-चक्षु (उमापति उपाध्याय-कृत ग्रन्थ) आदि का अवलोकन करना चाहिए।

संक्षेप में यह समझना चाहिए कि पृथिवी-परमाणु के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श तेजः-संयोग-नाश्य होते हैं और जल-परमाणु-गत रूप, रस तथा स्पर्श, तेजः-परमाणु-निष्ठ रूप तथा स्पर्श एवम् वायु-परमाणु-समवेत स्पर्श नित्य होते हैं।[1] कार्य-द्रव्य (पृथिवी, जल, तेज, वायु) में समवेत रूपादि का नाश तो आश्रय, अर्थात् स्व—समवायि-कारण, के विनाश से ही होता है। यद्यपि साधारणतः द्रव्य तथा तत्समवेत रूप के नाश में समान-कालिकत्व ही प्रतीत होता है तथापि विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कारण के नाश के बिना कार्य का नाश नहीं हो सकता; रूपादि का समवायि-कारण है द्रव्य, अतः समवायि-कारण के नाश के उत्तर-क्षण में हीं तत्समवेत गुण का नाश हो सकता है। यौगपद्य-प्रतीति तो भ्रम है, और इस भ्रम का कारण है समवायिकारण-नाशाऽव्यवहितोत्तर-क्षण-नाश्यत्व। क्षण की अवधि में अत्यन्त-सूक्ष्मता के कारण क्षण-भेद का ज्ञान नही हो पाता है। अतः स्व-समवायि-कारण-नाश से ही तद्गत रूपादिकों का नाश मानना चाहिए।

नैयायिक लोग तो अवयवी में ही पाक मानते हैं; अतः उनके मत के अनुसार, कार्य-पृथिवी-गत-रूपादि भी अग्नि-संयोग-नाश्य तथा आश्रय-नाश्य होते हैं। परन्तु 'पीलु-पाक' माननेवाले वैशेषिकों के मत में इस कल्पना की अनावश्यकता स्पष्ट ही है।

(५) सख्या

जिस गुण के आधार पर एक, दो आदि व्यवहार होते हैं वही गुण संख्या है। यह संख्या एकत्व से लेकर परार्ध-पर्यन्त होती है। एकत्व संख्या नित्य-द्रव्य-समवेत होने पर नित्य भी होती है। द्वित्वादि संख्या अपेक्षा-बुद्धि, अर्थात् अनेक एकत्व-संख्या को विषय बना कर उत्पन्न होने वाली बुद्धि, से उत्पन्न होने के कारण सर्वदा अनित्य ही होती है। उदाहरण के रूप में,

---

१. पृथिव्यादि-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः द्रव्याऽनित्यत्वादनित्याश्च।
एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम्।
अप्सु तेजसि वायौ च नित्याः, द्रव्य-नित्यत्वात।
अनित्येष्वनित्याः, द्रव्याऽनित्यत्वात्॥ वै० सू० ७।१।२—५॥

द्वित्व संख्या की उत्पत्ति तथा उसके नाश के प्रकार को बतला देना अनुचित नहीं होगा :—

प्रथम-क्षण:—

(क) आत्म-संयुक्त-मनः-संयुक्त-चक्षुरिन्द्रिय का समान-जातीय (जैसे, दो घट) अथवा समानाऽसमान-जातीय दो द्रव्यों (जैसे, एक घट और एक पट) के साथ संयोग-सम्बन्ध होता है,

(ख) समान-जातीय अथवा समानाऽसमान-जातीय द्रव्य-द्वय-निष्ठ दोनों एकत्व-संख्याओं के ज्ञान के विशेषण-ज्ञान-विधया कारणीभूत एकत्वत्व के ज्ञान की उत्पद्यमानता होती है।

द्वितीय-क्षण:—

(क) एकत्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति[1],

(ख) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पद्यमानता।

तृतीय-क्षण:—

(क) एकत्वत्व-विशिष्ट एकत्व-द्वय-विषयक[2] ज्ञान (= अपेक्षा-बुद्धि) की उत्पत्ति,

(ख) एकत्वत्व-ज्ञान की विनश्यत्ता[3],

---

१. इस ज्ञान की इस क्षण में उत्पत्ति में प्रमाण है उत्तर क्षण में उत्पद्यमान एकत्व-ज्ञान।

२. प्रत्यक्ष-काल में अन्तः-करण का साक्षात्सम्बन्ध केवल इन्द्रियों से ही होता है विषय से नहीं, क्योंकि अन्तः-करण, जो अणु है, बहिर्गमन-क्षम नहीं है। चक्षु का तो विषय-पर्यन्त निर्गमन होता ही है। यह निर्गमन दोनों गोलकों से होता है, अन्यथा दोनों गोलकों की सार्थकता नहीं हो सकती है। आत्मा में अनुकूल इच्छा रहने पर दोनों गोलकों द्वारा बहिर्गत चक्षूरश्मि दोनों पदार्थों का ग्रहण कर सकती है। परन्तु यह ज्ञान एक ही होता है; क्योंकि इसका कारण—आत्मान्तः-करण-संयोग—एक होता है। अत एव अनेक-विषयानुभव-जन्य अनेक संस्कारों से भी एक स्मरण भी उपपन्न-होता है। इसीलिए समान-जातीय अथवा अ-समान-जातीय द्रव्य-द्वय में समवेत एकत्व-द्वय का ज्ञान एक ही माना जाता है, यद्यपि उसके स्वरूप—"अयमेकत्वगुणः, अयमेकत्व-गुणः"—से ज्ञान में द्वित्व का प्रतिभास होता है।

३. एकत्व-ज्ञान की विनश्यत्ता का अर्थ है विनाश-कारण-सामग्री-सान्निध्य, अर्थात् इस क्षण में उत्पन्न अपेक्षा-बुद्धि के द्वारा उत्तर-क्षण में एकत्वत्व-ज्ञान का नाश होगा, क्योंकि आत्मा में दो ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते। इसकी उपपत्ति मनो-निरूपण के प्रसङ्ग बतलायी जा चुकी है।

(ग) द्वित्व-गुण की उत्पद्यमानता[1] ।

चतुर्थ-क्षण:—

(क) द्वित्व-गुण की उत्पत्ति[2],

(ख) एकत्वत्व-ज्ञान का विनाश,

(ग) अपेक्षा-बुद्धि की स्थिति[3],

(घ) द्वित्वत्व-ज्ञान की उत्पद्यमानता ।

---

१. द्वित्व-गुण की उत्पद्यमानता का अर्थ यह है कि इस क्षण में उसके कारण—अपेक्षा-बुद्धि—की उत्पत्ति हो चुकी है, इसलिए अग्रिम-क्षण में द्वित्व-गुण की उत्पत्ति होगी । इसी तरह सर्वत्र विनश्यत्ता तथा उत्पद्यमानता का अर्थ समझना चाहिए ।

२. इस उत्पत्ति में निमित्त-कारण पूर्वोक्त अपेक्षा-बुद्धि होती है, समवायि-कारण हैं द्वित्वाश्रय घट-द्वयादि और असमवायि-कारण हैं दोनों घटों में समवेत दोनों एकत्व । ज्ञान से अर्थ की उत्पत्ति तो पुत्रोत्पत्त्यादि-ज्ञान से सुखादि की उत्पत्ति के दृष्टान्त से समर्थित ही है ।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है:—उभय-द्रव्य-गत एकत्व-द्वय से ही द्वित्व की उत्पत्ति मान लेने में क्या आपत्ति है ? इस प्रश्न का उत्तर ऐसा दिया जा सकता है :—द्वित्व का ज्ञान एकत्रावस्थित अनेक व्यक्तियों में भी किसी को होता है और किसी को नहीं । यदि द्वित्व गुण भी, रूपादि की तरह, बुद्धि-भिन्न-पदार्थ-जन्य हो तब तो सबों को उस द्वित्व का ज्ञान अवश्यमेव होना चाहिए था, परन्तु होता नहीं है । अतः फल-बल से द्वित्व को अपेक्षा-बुद्धि-जन्य माना जाता है । एवञ्च इसके ज्ञान में व्यवस्था की भी उपपत्ति हो जाती है । जिसे उक्त अपेक्षा बुद्धि होती है उसे द्वित्व का ज्ञान होता है अन्य को नहीं ।

३. इस क्षण में किसी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः अपेक्षा-बुद्धि के लिए यह विनश्यत्ता-काल, अर्थात् विनाशाव्यवहित-पूर्व-क्षण, नहीं होता है ।

यहाँ यह प्रश्न सम्भाव्य है :—तृतीयक्षण में उत्पन्न अपेक्षा-बुद्धि से इस चतुर्थ-क्षण में एकत्व-विशिष्ट-द्रव्य के ज्ञान की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है, क्योंकि गुण-ज्ञान के हो जाने पर तत्समवायी द्रव्य के ज्ञान की उत्पत्ति में विलम्ब नहीं होना चाहिए ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है :—द्वित्व-ज्ञानोत्पत्ति आदि फल के आधार पर ऐसा नियम बताया जाता है कि द्वित्वाद्युत्पत्ति-सामग्री से अभिभूत अपेक्षा-बुद्धि गुण-विषयक-ज्ञान की जनिका नहीं होती है । अन्यथा निम्न-लिखित प्रक्रिया होती :—

पञ्चम-क्षण:—

(क) द्वित्व-गुण की स्थिति,

प्रथम क्षण:—

(क) इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष, (ख) एकत्वत्व-ज्ञान की उत्पद्यमानता।

द्वितीय-क्षण:—

(क) एकत्वत्व-ज्ञानोत्पत्ति, (ख) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पद्यमानता :

तृतीय-क्षण:—

(क) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति, (ख) एकत्वत्व-ज्ञान की विनश्यत्ता, (ग) द्वित्व-गुण की उत्पद्यमानता, (घ) एकत्व-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान की उत्पद्यमानता।

चतुर्थ-क्षण:—

(क) अपेक्षा-बुद्धि की विनश्यत्ता, (ख) एकत्वत्व-ज्ञान का विनाश, (ग) द्वित्व-गुण की उत्पत्ति, (घ) एकत्व-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान की उत्पत्ति, (ङ) द्वित्वत्व-ज्ञान की उत्पद्यमानता।

पञ्चम-क्षण:—

(क) अपेक्षा-बुद्धि-विनाश, (ख) द्वित्व-गुण-विनश्यत्ता, (ग) एकत्व-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान-विनश्यत्ता, (घ) द्वित्वत्व-ज्ञानोत्पत्ति।

षष्ठ-क्षण:—

(क) द्वित्व-गुण-विनाश, (ख) एकत्व-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान-विनाश, (ग) द्वित्वत्व-ज्ञान की स्थिति।

अब इस क्षण में द्वित्व-गुण का प्रत्यक्षात्मक-ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि विषय की सत्ता के बिना प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती है; और यहाँ द्वित्व-ज्ञान-विषयीभूत द्वित्व-गुण तो नष्ट हो चुका है। अतः द्वित्व-गुण के विनष्ट हो जाने के कारण द्वित्व-ज्ञान की तथा द्वित्व और द्वित्व-ज्ञान के अभाव होने के कारण द्वित्व-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान की कथमपि उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इसीलिए उपर्युक्त नियम, अर्थात् द्वित्वाद्युत्पत्ति-सामग्र्यभिभूत अपेक्षा-बुद्धि में गुणि-ज्ञानाऽजनकत्व, का स्वीकार किया जाता है।

द्वितीय प्रश्न यह है :—तृतीय-क्षण में उत्पन्न अपेक्षा-बुद्धि से चतुर्थ-क्षण में संस्कार की उत्पत्ति होनी चाहिए। एवञ्च पुनः उपर्युक्त दोष तो बना ही रह जाता है (इसे स्पष्ट रूप में समझने के लिए पाद-टिप्पणी में वर्णित क्षण-प्रक्रिया में "एकत्व-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान" के स्थान में 'संस्कार' शब्द का प्रक्षेप

(ख) द्वित्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति,[1]

(ग) अपेक्षा-बुद्धि की विनश्यत्ता,

(घ) द्वित्व-गुण-ज्ञान की उत्पद्यमानता।

षष्ठ-क्षण:—

(क) द्वित्वत्व-ज्ञान की विनश्यत्ता,

(ख) द्वित्व-गुण-ज्ञान की उत्पत्ति,

(ग) अपेक्षा-बुद्धि का विनाश,

(घ) द्वित्व-गुण की विनश्यत्ता,

(ङ) द्वित्व-गुण-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान (द्वे द्रव्ये) की उत्पद्यमानता।

सप्तम-क्षण:—

(क) 'द्वे द्रव्ये' इत्याकारक-ज्ञान की उत्पत्ति,

करना चाहिए)। अतः पुनः द्वित्व-ज्ञान की तथा द्वित्व-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान की उपपत्ति नहीं हो पाती है ? इसके उत्तर में यह समझना चाहिए कि केवल गुण-विषयक ज्ञान (प्रकृत-स्थल में अनेक-एकत्व-विषयक-अपेक्षा-बुद्धि) में संस्कारोत्पादन-सामर्थ्य नहीं होता है। अत एव सर्वत्र द्रव्य के साथ ही गुण का स्मरण होता है, स्वतन्त्र रूप में नहीं। एवञ्च मूल-निर्दिष्ट द्वित्वोत्पत्ति-प्रक्रिया में कोई अनुपपत्ति नहीं रहती है। विशेष विवरण आकर-ग्रन्थों में देखना चाहिए।

१. सप्तम-क्षण में होने वाले 'द्वे द्रव्ये'—इस ज्ञान के द्वारा विशेषण-ज्ञान-विधया कारणी-भूत द्वित्व-ज्ञान की और इस द्वित्व-ज्ञान के द्वारा भी विशेषण-ज्ञान-विधया कारणी-भूत द्वित्वत्व-ज्ञान की प्रामाणिकता मानी जाती है।

विशेषण तथा विशेष्य को नियमतः एक ही ज्ञान का विषय मानना उचित नहीं है। यदि ऐसा मानें तो 'सुरभि चन्दनम्' इत्यादि प्रत्यक्ष-ज्ञान लौकिक-सन्निकर्ष-जन्य-प्रत्यक्ष अभिप्रेत है ज्ञान-लक्षणा अथवा सामान्य-लक्षणा से होनेवाला अलौकिक प्रत्यक्ष नहीं) की उपपत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सुरभि का घ्राण से पहले प्रत्यक्ष हो जाता है, तदनन्तर चन्दन-खण्ड का चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है। घ्राणज तथा चाक्षुष इन दोनों ज्ञानों की समकालिकोत्पत्ति का निरास तो मनो-निरूपण के समय हो चुका है। अतः स्पष्ट है कि विशेषण तथा विशेष्य को नियमतः एक ज्ञान का विषय मानना उचित नहीं। 'सुरभि चन्दनम्' आदि ज्ञान को दो अंशों में विभक्त करना भी असम्भव है, क्योंकि ज्ञान निरंश होता है।

(ख) द्वित्व-गुण का विनाश,[1]

(ग) द्वित्वत्व-ज्ञान का विनाश,

(घ) द्वित्व-गुण-ज्ञान की विनश्यत्ता,

(ङ) संस्कार की उत्पद्यमानता।

अष्टम-क्षण:—

(क) संस्कार की उत्पत्ति[2],

(ख) द्वित्व-गुण-ज्ञान का विनाश,

(ग) 'द्वे द्रव्ये' (= द्वौ घटौ आदि) ज्ञान की विनश्यत्ता।

नवम-क्षण:—

(क) 'द्वे द्रव्ये' ज्ञान का विनाश[3]।

यह तो अपेक्षा-बुद्धि के नाश से द्वित्व के नाश की प्रक्रिया का विवरण है। इसमें द्वित्व की उत्पत्ति को बतलाने के लिए सप्तम-क्षण तक की प्रक्रिया ही अपेक्षित है, तथापि प्रसङ्गात् द्रव्य-ज्ञान-नाश तक की प्रक्रिया को बतलाने के लिए नवम-क्षण-पर्यन्त-प्रक्रिया का निर्देश किया गया है।

यदि तु अवयवों में अवयवि-द्रव्यारम्भक-विरोधी विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रिया की उत्पत्ति एकत्वत्व-ज्ञान के साथ (= सम-काल) ही कदाचित् हो जाय तब तो आश्रय, अर्थात् समवायि-कारण, के नाश से भी द्वित्व-गुण का नाश हो सकता है। इस प्रक्रिया का विवरण निम्न-लिखित है :—

---

१. अपेक्षा-बुद्धि-रूप निमित्त-कारण के नाश से द्वित्व-गुण का नाश हुआ है। निमित्त-कारण के नाश से गुण का नाश तो प्रसिद्ध ही है। अत एव मोक्ष-प्राप्त्यवस्था में शरीर-स्वरूप निमित्त-कारण के विनाश से अन्तिम तत्त्व-ज्ञान का विनाश होता है और इस तरह मोक्षोपपत्ति में बाधा नहीं पड़ती है। 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति के क्षण में विशेषण-विधया कारणीभूत द्वित्व-गुण की सत्ता की आवश्यकता नहीं होती है—इसके लिए न्या० क० (पृ० २८१–२८२) तथा उपस्कार (७।२।८) देखना चाहिए।

२. 'द्वे द्रव्ये' इत्याकारक ज्ञान से इसकी उत्पत्ति होती है।

३. सभी जन्य पदार्थों को विनष्ट होना ही है, और विनाश भी किसी कारण से ही होगा, अन्यथा नहीं। प्रकृत स्थल में 'द्वे द्रव्ये' इस जन्य-ज्ञान का विनाश होना ही है। अतः उसके विनाश का कुछ कारण अवश्य ही चाहिए। संस्कार को छोड़कर अन्य किसी कारण की उपलब्धि नहीं होती है, अतः संस्कार को ही 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान के विनाश का निमित्त माना जाता है। इस जन्य संस्कार का विनाश तो इसके चरम-फल (चरम-स्मरण) के द्वारा ही माना जाता है।

प्रथम-क्षण:—

(क) पूर्व-प्रक्रिया-प्रदर्शित-प्रकार से इन्द्रिय तथा दो द्रव्यों के संयोग की उत्पत्ति,

(ख) एकत्व-ज्ञान की उत्पद्यमानता।

द्वितीय-क्षण:—

(क) एकत्व-ज्ञान की उत्पत्ति,

(ख) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पद्यमानता,

(ग) अवयव्यारम्भक-संयोग-प्रतिद्वन्द्वी विभाग के उत्पादक क्रिया की, अवयवों में, उत्पत्ति।

तृतीय-क्षण:—

(क) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति,

(ख) पूर्वोत्पन्न क्रिया से विभाग की उत्पत्ति,

(ग) द्वित्व-गुण की उत्पद्यमानता।

चतुर्थ-क्षण:—

(क) द्वित्व-गुण की उत्पत्ति,

(ख) पूर्वोत्पन्न-विभाग से अवयव्यारम्भक संयोग का नाश,

(ग) द्वित्वत्व-ज्ञान की उत्पद्यमानता।

पञ्चम-क्षण:—

(क) पूर्वोक्त संयोग-नाश से अवयवि-विनाश,

(ख) द्वित्व-गुण की विनश्यत्ता,

(ग) द्वित्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति,

(घ) अपेक्षा-बुद्धि की विनश्यता।

षष्ठ-क्षण:—

(क) अपेक्षा-बुद्धि-विनाश,

(ख) द्वित्व-गुण-विनाश।[1]

---

१. इस द्वित्व-विनाश का कारण अपेक्षा-बुद्धि-विनाश नहीं हो सकता है, क्योंकि कारण को कार्योत्पत्ति के पूर्व-क्षण में वर्तमान होना ही चाहिए। परन्तु यहाँ अपेक्षा-बुद्धि-विनाश तथा द्वित्व-विनाश में पौर्वापर्य्य नहीं प्रत्युत यौगपद्य ही है। अतः दोनों में कार्य-कारण-भाव नहीं माना जा सकता। अतः द्वित्व-नाश-स्वरूप कार्य के उत्पादन में पूर्व-क्षण-सम्पन्न द्वित्व-समवायि-कारणीभूत-द्रव्य-नाश को ही कारण मानना उचित है।

अथ चेत् दैव-योगात् अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति के क्षण में ही अवयव्यारम्भक-संयोग-प्रतिद्वन्द्वी विभाग को उत्पन्न करनेवाली क्रिया की उत्पत्ति हो जाय तब तो आश्रय तथा अपेक्षा-बुद्धि (=समवायि-कारण तथा निमित्त-कारण) के विनाश से भी द्वित्व का विनाश हो सकता है। इस प्रक्रिया का विवरण निम्न-लिखित है :—

प्रथम-क्षण :—

(क) इन्द्रिय तथा द्वित्वाश्रयत्वेन सम्भाव्यमान द्रव्यों का सम्बन्ध,

(ख) एकत्वत्व ज्ञान की उत्पद्यमानता।

द्वितीय-क्षण :—

(क) एकत्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति,

(ख) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पद्यमानता,

(ग) अदृष्टादि कारण से आरम्भक-संयोग-विरोधी विभाग को उत्पन्न करनेवाली क्रिया की उत्पद्यमानता।

तृतीय-क्षण :—

(क) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति,

(ख) विभाग-जनक-क्रिया की उत्पत्ति,

(ग) एकत्वत्व-ज्ञान की विनश्यत्ता।

चतुर्थ-क्षण —

(क) एकत्व-ज्ञान-विनाश,

यहाँ इस पर ध्यान देना चाहिए कि षष्ठ-क्षण में द्वित्व के विनष्ट हो जाने के कारण द्वित्व-विषयक-ज्ञान की अनुत्पत्ति तथा द्वित्वज्ञानानुत्पत्ति एवम् द्वित्व-गुण-विनाश के कारण द्वित्व-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान—द्वे द्रव्ये—की उत्पत्ति नहीं होने से इस प्रक्रिया का उपयोग कुछ नहीं है, क्योंकि द्वित्वोत्पत्ति का प्रयोजन केवल द्वित्व-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान का उत्पादन ही है। एवञ्च यदि द्वित्व-गुण, उप-र्युक्त प्रकार से, द्वित्व-विशिष्ट-ज्ञान का उत्पादन नहीं करता है तो उसकी उत्पत्ति से क्या लाभ हो सकता है? तथापि वस्तु-स्थिति यही है इसलिए इस प्रक्रिया का भी विवरण किया गया है। अत एव न्याय-कन्दली में भी कहा गया है :—

अत्र यद्यपि द्वे द्रव्ये इति ज्ञानमकृत्वेव प्रणष्टस्य द्वित्वस्योत्पत्त्या न किञ्चित् प्रयोजनम्, तथाऽपि कारण-सामर्थ्य-भावी कार्योत्पादो न प्रयोजनाऽपेक्षः इति तदुत्पत्ति-चिन्ता कृता—न्या० क०, पृ० २८६।

(ख) द्वित्व-गुण की उत्पत्ति,

(ग) विभागोत्पत्ति ।

पञ्चम-क्षणः—

(क) अवयवव्यारम्भक-संयोग-विनाश,

(ख) द्वित्वत्व-ज्ञानोत्पत्ति,

(ग) अपेक्षा-बुद्धि की विनश्यत्ता,

(घ) द्वित्व-ज्ञान की उत्पद्यमानता ।

षष्ठ-क्षणः—

(क) अवयवि-द्रव्य-नाश,

(ख) अपेक्षा-बुद्धि-नाश,

(ग) द्वित्व-गुण की विनश्यत्ता,

(घ) द्वित्व-गुण-ज्ञान की उत्पत्ति,

(ङ) द्वित्व-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान—द्वे द्रव्ये—की उत्पद्यमानता ।

सप्तम-क्षणः—

(क) द्वित्व-नाश,[1]

(ख) 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति,

(ग) संस्कार की उत्पद्यमानता,

(घ) द्वित्व-गुण-ज्ञान की विनश्यत्ता ।

अष्टम-क्षणः—

(क) द्वित्व-गुण-ज्ञान का विनाश,

---

१. उपर्युक्त दोनों नाश प्रक्रियाओं से अपेक्षा-बुद्धि-नाश तथा समवायि-कारण-नाश इन दोनों में द्वित्व-गुण-नाश-सामर्थ्य की प्रतिपत्ति हो चुकी है । अत एव यहाँ जो द्वित्व-नाश हुआ है उसे षष्ठ-क्षण में उत्पन्न आश्रय-(= समवायि कारण) विनाश तथा अपेक्षा-बुद्धि-विनाश, दोनों से ही जन्य माना जाता है । इसी अभिप्राय से प्राचीन आचार्यों का कथन है :—

यदा त्वपेक्षा-बुद्धि-सम-कालमेकत्वाऽऽधारावयवे कर्म चिन्त्यते तदोभय-विनाशादपि गुणस्य विनाशः सम्भवतीति ज्ञेयम्—व्योम०, पृ० ४६७;

कर्म-सम-कालमपेक्षा-बुद्धि-चिन्तनादुभाभ्यामपीति द्रष्टव्यम्—किर०, पृ० २०५;

यदा तु द्वित्वाधारावयव-कर्मापेक्षा-बुद्ध्योर्यौगपद्यम् तदा द्वाभ्याम् = आश्रय-नाशाऽपेक्षाबुद्धि-नाशाभ्यां द्वित्व-नाशः—उपस्कार ७।२।८ ।

(ख) संस्कार की उत्पत्ति,

(ग) 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की विनश्यत्ता।

नवम-क्षण:—

(क) 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान का नाश[1]।

इस प्रक्रिया में वर्णित द्वित्वोत्पत्ति आश्रय-नाश-नाश्य-प्रक्रिया की निरर्थक द्वित्वोत्पत्ति से भिन्न है, क्योंकि यहाँ 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति, जो द्वित्वोत्पत्ति का प्रयोजन है, सिद्ध हो जाती है।

उपर्युक्त विवरणों में एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का जो विरोध (= नाश) बतलाया गया है वह विरोध वध्य-घातक-पक्ष के अनुसार समझना चाहिए; अर्थात् पूर्व-क्षण में नाशक-ज्ञान की उत्पत्ति होती है और उसके अव्यवहितोत्तर-क्षण में नाशक-ज्ञान से पूर्व में उत्पन्न ज्ञान का नाश होता है। सहानवस्थान-स्वरूप-विरोध-पक्ष में तो अनुपपत्ति प्रशस्त-पाद[2]-भाष्य में बतलाई गई है। यद्यपि कुछ लोग प्रशस्त-पाद के "न, आशूत्पत्तेः" आदि पंक्ति का अर्थ सहानवस्थान-पक्ष के समर्थन में लगाते हैं तथापि व्योमवती तथा किरणावली की व्याख्या के अनुसार इसका आशय कुछ भिन्न ही निकलता है। शङ्कर मिश्र ने भी उपस्कार[3] में "इयञ्च प्रक्रिया ज्ञानयोर्वध्यघातक-पक्षे परमुपपद्यते, स एव च पक्षः प्रामाणिकः", कहकर व्योमवती आदि का ही समर्थन किया है। इस पंक्ति की पूर्व-पीठिका व्योमवती में अधिक स्पष्ट है। इस दृष्टि से प्रशस्त-पाद के "न, आशूत्पत्तेः" कथन के पूर्व और "तस्माद्विषमोऽयमुपन्यासः"[4] से उत्तर "अनुपलम्भान्नेयम्प्रक्रियेति चेत् ?" इत्याकारक अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाला कोई छोटा सा वाक्य होना चाहिए था, जो प्रायशः "न, आशूत्पत्तेः" की कन्दली की अस्पष्टता के कारण लुप्त हो गया सा प्रतीत होता है। परन्तु आश्चर्य है कि किरणावली-संस्करण तथा व्योमवती-संस्करण भी इस पाठ का निर्देश मूल में नहीं करता है। अथवा यथा-कथञ्चित् "गुण-बुद्धि-सम-कालमपेक्षा-बुद्धि-विनाशात् द्वित्व-विनाशे तदपेक्षस्य द्वे द्रव्ये इति द्रव्य-ज्ञानस्यानुत्पत्ति-प्रसङ्गः"[5] का ही व्यव-

१. पूर्व-क्षणोत्पन्न संस्कार से इसका नाश होता है और संस्कार का चरम-स्मरण से, जैसा पहले बतलाया जा चुका है।

२. प० भा० सं०, पृ० २८७–२९०।

३. उप० ७।२।८।

४. प० भा० सं०, पृ० २९०।

५. प० भा० सं०, पृ० २८७

हित-सम्बन्ध "न, आशूत्पत्तेः" के साथ जोड़कर किसी तरह व्योमवती आदि की उपपत्ति हो सकती है। परन्तु इस द्वितीय कल्प की क्लिष्टता कुछ खटकती तो अवश्य ही है। अस्तु ! इस विषय का विशेष विचार विद्वानों के ऊपर हीं छोड़ दिया जाता है।

(६) परिमाण

मान के व्यवहार के कारणी-भूत गुण को परिमाण कहा जाता है। इसके चार प्रकार हैं:—अणु (Minute), महत् (Medium), ह्रस्व (Short) तथा दीर्घ (Long)। अणु-परिमाण भी दो तरह का होता है:—नित्य तथा अनित्य। नित्य अणु-परिमाण परमाणु तथा[1] मन मे समवेत होता है। अनित्य अणु-परिमाण केवल द्व्यणुक में रहता है, अन्यत्र नहीं। यद्यपि लोक-व्यवहार में यह कहा जाता है कि यह घट[2] उस घट से अणु है तथापि यह व्यवहार गौण है। अतएव उसी (अणु-परिमाणवत्वेन प्रतीयमान) घट के विषय में यह भी प्रतीति होती है कि वह एक तीसरे घट से बड़ा है। अतः यह सिद्ध है कि अनित्य अणु-परिमाण केवल द्व्यणुक से समवेत है अन्यत्र नहीं। यही गौण-व्यवहार अप्रत्यक्ष अणु-परिमाण की सत्ता का अनुमापक भी होता है।[3] इसी प्रकार महत् परिमाण भी दो प्रकार का है—नित्य तथा अनित्य। नित्य महत्परिमाण आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा में रहता है। इसी नित्य महत्परिमाण को परम-महत्-परिमाण भी कहा जाता है। अनित्य महत्-परिमाण त्र्यणुकादि कार्य-द्रव्यों में रहता है।

ह्रस्व तथा दीर्घ परिमाणों के विषय में दो मत हैं :—

(१) ह्रस्व तथा दीर्घ परिमाण अनित्य ही होते हैं।

(२) अणु तथा महत् की तरह इनके भी नित्य तथा अनित्य प्रकार होते हैं।

प्रथम पक्ष का प्रतिपादन व्योमशिवाचार्य ने किया है :—"परमाणूनां परिमण्डलत्वान्न ह्रस्वत्वम् , आकाशादेर्व्यापकत्वाच्च न दीर्घत्वम्[4]।"

द्वितीय-पक्ष का समर्थन किरणावली में[5] किया गया है :—"एते नित्ये

१. वै० सू० ७।१।२०, २३।

२. वै० सू० ७।१।११।

३. वै० सू० ७।१।२१।

४. व्योमवती, पृ० ४७४; प्रशस्तपाद ने भी स्पष्टतः अनित्य ही माना है, परन्तु उदयनाचार्य इनकी उक्ति को उपलक्षण मानने के पक्ष में हैं।

५. किरणावली, पृ० ४६६ (ए० सो०); उपस्कार में भी यही मत है—७।१।१७।

न स्त इति केचित्, तदसत्; यथा हि महत्त्वं प्रकृष्यमाणं परां काष्ठां प्राप्नोति तथा दीर्घत्वमपि प्राप्नुयात्। यथा चाणुत्वमपकृष्यमाणम् परां काष्ठाम्प्राप्नोति तथा ह्रस्वत्वमपि, उपपत्तेरुभयत्र तुल्यत्वात्'''तथा च परम-दीर्घत्व-परम-ह्रस्वत्वे परम-महत्त्व-परमाणुत्वैकार्थ-समवेते इति हृदयम्"।

न्याय-कन्दली-कार ने दोनों मतों को, विना किसी आलोचना के, प्रस्तुत किया है।[1]

उपर्युक्त दोनों मतों में द्वितीय मत ही सूत्र-कार-सम्मत प्रतीत होता है, क्योंकि सूत्र-पाठ में, उपस्कार के अनुसार, "एतेन दीर्घत्व-ह्रस्वत्वे व्याख्याते" "नित्येषु नित्यम्" "अनित्येषु अनित्यम्" इन तीन सूत्रों की उपलब्धि होती है जिससे द्वितीय मत को ही बल मिलता है। यदि उपस्कार-सम्मत सूत्र-पाठ सन्दिग्ध माना जाय तब भी "एतेन-ह्रस्वत्वदीर्घत्वे व्याख्याते" सूत्र, जो सभी व्याख्याओं में प्रायशः उपलब्ध है तथा जिससे दीर्घत्व तथा ह्रस्वत्व में भी महत्त्व तथा अणुत्व का सादृश्य बतलाया जाता है, भी द्वितीय पक्ष में ही निर्विचिकित्सरूप में पर्यवसन्न होता है।

इस प्रकार, यह सिद्ध है कि परमाणु तथा परम-ह्रस्व, अणु[2] तथा ह्रस्व, महत् तथा दीर्घ और परम-महत् एवम् परम-दीर्घ समामाधिकरण परिमाण हैं। इसी से यह भी स्पष्ट है कि महत्परिमाणाश्रय दण्डादि-पदार्थ में जो ह्रस्वत्व का व्यवहार है वह गौण है प्रधान नहीं, क्योंकि परस्पर-विरुद्ध ह्रस्व तथा दीर्घ का मुख्य समानाधिकरण्य सम्भाव्य नहीं है।

ह्रस्व तथा अणु एवम् दीर्घ और महत्-परिमाण में नियत-सामानाधिकरण्य होने पर भी अभेद नहीं माना जा सकता अपि तु भेद ही, व्यवहार-बल से, सिद्ध होता है। अतएव प्रशस्त-पाद का कथन है :—

"तत्राऽस्ति महत्त्व-दीर्घत्वयोः परस्परतो[3] विशेषः, महत्सु दीर्घमानीयताम्, दीर्घेषु च महदानीयताम् इति विशिष्ट-व्यवहार-दर्शनात् इति। अणुत्व-ह्रस्वत्वयोस्तु परस्परतो विशेषः तद्दर्शिनां प्रत्यक्षः (अस्मदादीनान्तु भाक्तयोरणुत्व-ह्रस्वत्वयोर्भेदे तन्मुख्ययोरपि भेदाऽनुमानम्) इति।"

जन्य-परिमाण की उत्पत्ति

अनित्य परिमाणों में अणु-परिमाण की उत्पत्ति संख्या से और महत्त्व की यथावसर संख्या, परिमाण तथा प्रचय से, होती है।

---

१. न्या० क०, पृ० ३२०-३२१।

२. इस प्रकरण में सर्वत्र अणु आदि शब्द के प्रयोग में भाव-प्रधान-निर्देश है, अतः परिमाणार्थ अणु आदि शब्द का अर्थ अणुत्व आदि समझना चाहिए।

३. प्र० पा० भा०, पृ० ३३०-३३१।

(क) संख्या से परिमाण की उत्पत्तिः—

यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि महत्-परिमाण से युक्त दो कपालों से आरब्ध घटका परिमाण महत् होने पर भी कपाल के परिमाण से उत्कृष्ट होता है। इसी प्रकार, महत्परिमाण-सम्पन्न अनेक काष्ठ-खण्ड से निर्मित शय्या आदि पदार्थ का महत्परिमाण अवयवों के महत्-परिमाण से उत्कृष्ट होता है। अतः यह सिद्ध है कि परिमाण स्व-सजातीय उत्कृष्ट परिमाण का उत्पादक होता है। अब द्व्यणुक के अणु-परिमाण की उत्पत्ति का प्रश्न है। यहाँ यदि द्व्यणुक के समवायि-कारण परमाणु में रहनेवाले परमाणु-परिमाण को ही द्व्यणुक-गत परिमाण का प्रयोजक मान लिया जाय तब तो पूर्वोक्त नियम के अनुसार परमाणु-परिमाण से आरब्ध द्व्यणुक-निष्ठ जन्य परिमाण को परमाणुतर होना चाहिए, और इस तरह (परमाणु-निष्ठ) परमाणु-परिमाण का परमत्व ही नष्ट हो जायगा। एवम् परमाणु-तर परिमाण की प्रसिद्धि भी नहीं है। अतः द्व्यणुक के प्रामाणिक अणु-परिमाण की उपपत्ति के लिए परमाणु-द्वय में ईश्वर की अपेक्षा-बुद्धि से जन्य द्वित्व-संख्या से ही द्व्यणुक के परिमाण की उत्पत्ति माननी चाहिए। इसी तरह द्व्यणुक में वर्तमान ह्रस्वत्व की उत्पत्ति भी संख्या से ही माननी चाहिए।

इसी प्रकार, त्र्यणुक का महत्-परिमाण भी उसके उपादान-भूत तीन द्व्यणुकों में ईश्वरीय अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न त्रित्व संख्या से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि महत्-परिमाण के तीन ही कारण होते हैं:—कारण-महत्त्व, कारण-बहुत्व तथा प्रचय। प्रकृत में त्र्यणुक के समवायि-कारण द्व्यणुक में महत्त्व नहीं होने से प्रथम-कल्प की आशा ही नहीं है। द्व्यणुक-त्रय-संयोग में शैथिल्य नहीं रहने के कारण प्रचय के आधार पर भी निर्वाह नहीं होता है। अतः परिशेषात् द्व्यणुक-त्रय-निष्ट त्रित्व-संख्या को ही त्र्यणुक के महत्त्व का प्रयोजक माना जाता है। त्र्यणुक के दीर्घत्व की भी यही स्थिति समझनी चाहिए।

(ख) परिमाण से परिमाण की उत्पत्तिः—

परिमाण-जन्य महत्परिमाणवाले द्रव्यों के दो रूप हैं:—

(क) दो महत्परिमाणवाले अवयवों से आरब्ध;

(ख) दो से अधिक महत्परिमाणवाले द्रव्यों से आरब्ध।

दो महत्परिमाणवाले अवयवों से आरब्ध अवयवी भी दो प्रकार के हो सकते हैं:—

(१) समान-परिमाणवाले दो अवयवों से आरब्ध अवयवी;

(२) असमान-परिमाणवाले दो अवयवों से आरब्ध अवयवी।

यद्यपि दोनों भेदों में अवयवों का परिमाण सजातीय है तथापि

तर-तम-भाव की दृष्टि से साम्य-वैषम्य का स्वीकार किया गया है। यहाँ भी अवयवों के संयोग में प्रचय तथा प्रचयाभाव के आधार पर हुए प्रकार-भेदों का संकेत प्रकरणान्त में किया जायगा। उपर्युक्त दोनों ही वर्गों के अवयवी का परिमाण (यदि अवयव-संयोग प्रचय नहीं हो तो) अवयव-गत महत्परिमाण-मात्र-जन्य है।

अनेक महदवयवारब्ध द्रव्य के निम्न-लिखित प्रकार हो सकते हैं :—

(१) असमान-परिमाण सम-संख्यक अवयवों से आरब्ध;

(२) समान-परिमाण असम-संख्यक अवयवों से आरब्ध;

(३) समान-परिमाण सम-संख्यक अवयवों से आरब्ध;

(४) असमान-परिमाण असम-संख्यक अवयवों से आरब्ध।

इनमें प्रथम वर्ग के अवयव-द्रव्यों का महत्परिमाण केवल अवयव-निष्ठ परिमाण से ही उत्पन्न होता है न कि संख्या से, क्योंकि संख्या में साम्य रहनेपर भी दस बड़े-बड़े पत्रों से बनी हुई पुस्तक तथा दस छोटे-छोटे पत्रों से बनी हुई पुस्तक के परिमाण में तारतम्य स्फुट है। अतः संख्या को इसका कारण नहीं माना जा सकता है। दूसरे वर्ग के अवयवी के परिमाण के विषय में दो मत हैं:—

(अ) वैशेषिकाचार्यों का कहना है कि यहाँ परिमाण तथा संख्या दोनों ही कारण हैं, अतएव समान-परिमाणवाले दस तन्तुओं से आरब्ध पट के परिमाण में तथा तत्समान-परिमाणवाले २० तन्तुओं से आरब्ध पट के परिमाण में प्रत्यक्ष तारतम्य उपपन्न[1] होता है।

(आ) अन्य लोगों का कहना है कि [2]यह परिमाण केवल संख्या से ही जन्य है परिमाण से नहीं, क्योंकि परिमाण के समान होने के कारण उसे उपर्युक्त पट-द्वय के प्रत्यक्ष-सिद्ध परिमाण-तारतम्य का उत्पादक नहीं माना जा सकता।

तीसरे वर्ग के अवयवि-द्रव्यों के परिमाण के विषय में भी दो मत हैं :—

(अ) अन्यत्र [3]अवधृत-सामर्थ्य होने के कारण संख्या तथा परिमाण दोनों ही इसके प्रयोजक होते हैं;

(आ) केवल परिमाण ही [4]इसका प्रयोजक होता है, क्योंकि सजातीय

---

१. न्या० क०, पृ० ३२५, व्योम०, पृ० ४७७; किर०, पृ० ६६९, उप० ७।१।८–९।

२. हरिदासी वृत्ति—न्या० कु० ५।१।

३. न्या० क०, पृ० ३२५, व्योम०, पृ० ४७७, किर० पृ० ६६९।

४. न्या० क०, पृ० २२५।

कारण से कार्य की उत्पत्ति हो जाने पर विजातीयकारण की कल्पना करने की कोई बात ही नहीं उठती है।

द्वितीय तथा तृतीय प्रकारों की स्थिति के अवलोकन से ही चतुर्थ प्रकार की स्थिति स्पष्ट है। अतः इसका पृथक् विवेचन नहीं किया जा रहा है। सङ्कीर्ण स्थितियों का भी इस दृष्टि से महत्त्व[1] नहीं है।

(ग) प्रचय से परिमाण की उत्पत्तिः—

प्रचय शब्द का अर्थ शङ्कर मिश्र ने निम्न-लिखित प्रकार से किया हैः—

"प्रचयश्च आरम्भकः संयोगः, स च स्वाऽभिमुख-किञ्चिदवयवाऽसंयुक्तत्वे सति स्वाऽभिमुख-किञ्चिदवयव-संयोग-लक्षणः।"[2]

दिनकरी मे[3] प्रचय के दो लक्षण दिए गए है, जिनमें एक लक्षण निम्न-लिखित है :—

"भूयोऽवयवाऽवच्छेदेन अवयवान्तराऽसंयोगिन्यवयवे वर्त्तमानः संयोगः प्रचयः।"

महत्परिमाणवाले दो अवयवों से आरब्ध तूल-पिण्ड (= द्वि-तूलक) में जो महत्त्व है वह प्रचय-जन्य है, क्योंकि महत्त्व-प्रयोजक तीन कारणों में एक कारण—आरम्भकावयव-बहुत्व—तो है ही नही (अपि तु द्वित्व है), दूसरा कारण, अवयव-महत्त्व, यद्यपि वर्त्तमान है तथापि केवल उससे द्वि-तूलक के महत्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि द्वि-तूलक के महत्त्व के उत्पादन में उसके अवयव का महत्त्व प्रचय-सापेक्ष है। प्रचय-सापेक्ष का तात्पर्य यह है कि एक एक सेर के दो लौह-खण्डों से निर्मित लौह-पिण्ड का परिमाण एक एक सेर के दो तूलक से निर्मित द्वि-तूलक के परिमाण से अवश्य ही अपकृष्ट होगा। अब यदि अवयव-महत्त्व को ही द्वि-तूलक के महत्त्व का प्रयोजक माना जाय तब तो प्रचित-अवयव-द्वयारब्ध द्वि-तूलक तथा अ-प्रचित-अवयव-द्वयारब्ध लौह-पिण्ड के परिमाण में प्रत्यक्ष-सिद्ध तारतम्य की उपपत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि, गुरुत्व के दोनों—एक-एक सेर के लौह-खण्ड से आरब्ध लौह-पिण्ड तथा एक-एक सेर के तूलक से निर्मित द्वि-तूलक—में समान होने से जब अवयवादि-साम्य सिद्ध है तब कार्य-वैषम्य में क्या प्रयोजक होगा?

अतः प्रत्यक्ष-सिद्ध तारतम्य की उपपत्ति के लिए अवयव-महत्त्व की

---

१. परिमाण की उपर्युक्त स्थिति दो द्रव्यों के ऊपर तुलनात्मक विचार करने से स्पष्ट होती है।

२. उप० ७।१।९।

३. दिन०, पृ० ७०८—७१०।

स्वातन्त्र्येण कारणता की उपेक्षा कर अवयवी (= द्वि-तूलक) के महत्त्व के प्रति प्रचय-सापेक्ष महत्त्व की कारणता सिद्ध होती है। परिमाण के प्रसङ्ग में संक्षेप में यह समझना चहिए कि प्रचित-महावयव-द्वयारब्ध अवयवी का परिमाण महत्त्व तथा प्रचय से; प्रचितानेक-महाऽवयवारब्ध अवयवी का परिमाण संख्या, महत्त्व तथा प्रचय से; अप्रचिताऽनेक-महावयवारब्ध द्रव्य का परिमाण संख्या, तथा परिमाण से अ-प्रचित-महाऽवयवद्वयारब्ध द्रव्य का परिमाण परिमाण से; और अणु-परिमाणवदनेक-द्रव्यारब्ध द्रव्य का परिमाण संख्या-मात्र से आरब्ध होता है। यह तो दीघ एवम् महत्परिमाण के विषय में है। अणु-परिमाण तथा ह्रस्व-परिमाण तो सर्वदैव संख्या-जन्य ही होते हैं।

परिमाण का नाश

सभी प्रकार के जन्य परिमाण अपने-अपने समवायि-कारण के नाश से ही नष्ट होते हैं। यद्यपि किसी भी अवयवि-द्रव्य से दस-पाँच परमाण्वादि के विश्लेष या संयोग से अवयवी के नाश के बिना भी परिमाण-नाश का प्रतिभास होता है तथापि विचार करने पर वहाँ भी अवयवि-नाश सिद्ध ही है। यदि परमाणु का विश्लेष होगा तो द्व्यणुक का नाश तो मानना ही होगा और द्व्यणुक-नाश से त्र्यणुक का नाश भी होगा ही; इस प्रकार पूरे अवयवी के नाश का अनुमान होता है। यहाँ यह सन्देह होता है कि यदि देवदत्त के शरीर में उपचय अथवा अपचय होने के समय असमवायि-कारणीभूत संयोग के नाश से शरीर का नाश हो जाता है तब तो उस समय देवदत्त के शरीर के उपादान परमाणुओं को विश्रृङ्खलित हो जाना चाहिए, परन्तु होते तो नहीं हैं, क्योंकि यदि सभी परमाणु विश्रृङ्खलित होते तो अवश्य ही शरीर का प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु अपचयोपचय के समय भी शरीर का प्रत्यक्ष होता ही है। इसके समाधान के लिए यह कहा जा सकता है कि अवयवी का नाश तो युक्ति-युक्त होने से अवश्य ही होगा, परन्तु आरम्भक परमाणु देवदत्त की आत्मा के अदृष्ट के बल से इतने विशीर्ण नहीं हो पाते जिससे उसके शरीर के नाश का प्रत्यक्ष हो सके। उपचयाऽपचय के समय उसके शरीर का प्रत्यक्ष तो नहीं होता है, परन्तु नाश-पुनरुत्पाद के मध्य में जो कुछ क्षणों का व्यवधान होता है वह इतना सूक्ष्म होता है कि उसका ज्ञान नहीं हो पाता है; अत एव यह प्रतिभास होता है कि देवदत्त के शरीर का सर्वदा (उपचयादिकाल में भी) प्रत्यक्ष होता है, परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नही है। पूर्व-शरीरान्तरोत्पाद में क्षण-प्रक्रिया तो पाक-प्रक्रिया के समान ही है। 'तेदवेदं शरीरम्' यह प्रत्यभिज्ञान भी प्रवाहादि की तरह सादृश्य-मूलक है न कि स्थैर्य-प्रसाधक।

(७) पृथक्त्व

'घटात्पटः पृथक्' इत्यादि प्रतीतियों के कारणीभूत गुण को पृथक्त्व कहा जाता है। यह पृथक्त्व अन्योन्याभाव से गतार्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्योन्याऽभाव के प्रतियोगी तथा अनुयोगी से प्रथमा-विभक्ति होती है जब कि पृथक्त्व के प्रतियोगी से पञ्चमी विभक्ति होती है। विशेष-विचार आकर-[1]ग्रन्थों में देखना चाहिए।

यह पृथक्त्व एक-पृथक्त्व द्वि-पृथक्त्व आदि भेद से अनेक-विध होता है। द्वि-पृथक्त्व आदि की व्यवस्था द्वित्व-संख्या के समान ही (अपेक्षाबुद्धि—इदम् एक-पृथक् इदमेक-पृथक् इत्याकारक एक बुद्धि—से उत्पत्ति और अपेक्षा-बुद्धि के नाश से, कदाचित् आश्रय-नाश से एवम् कदाचित् आश्रय तथा अपेक्षा-बुद्धि, दोनों के नाश से नाश) समझनी चाहिए। परन्तु संख्या में और पृथक्त्व में एक अन्तर है:—संख्या में संख्यात्व जाति भी है और एकत्वत्वादि अपर सामान्य भी। परन्तु पृथक्त्व में केवल पृथक्त्वत्व-जाति है और एक-पृथक्त्वत्व आदि अपर जातियाँ नहीं मानी जाती हैं। इसका कारण यह है कि पृथक्त्व में स्व-समवायि-कारण-समवेत संख्या विशेषण होती है, जैसा 'इदमेकपृथक्', 'द्वे पृथक्' इत्यादि व्यवहार से ही स्पष्ट है। एवञ्च स्व-समवायि-समवेत-संख्या-स्वरूप विशेषण से ही एक-पदार्थ-निष्ठ पृथक्त्व तथा द्वि-पदार्थ-निष्ठ द्वि-पृथक्त्व आदि में विशेष-प्रतिपत्ति हो जाने से पुनः एक-पृथक्त्व तथा द्वि-पृथक्त्व आदि में परस्पर-विशेष-प्रतिपत्ति के निमित्त ही अवान्तर जाति—एक-पृथक्त्वत्व, द्वि-पृथक्त्वत्व आदि—की कल्पना व्यर्थ है। यह मत तो "एतावांस्तु विशेषः—एकत्वादिवदेकपृथक्त्वादिष्वपर-सामान्याभावः; संख्यया तु विशिष्यते, तद्विशिष्ट-व्यवहार-दर्शनात्" इस प्रशस्त-पादाचार्य के कथन की व्याख्या करते समय न्याय-[2]कन्दली तथा [3]व्योमवती में बतलाया गया है। परन्तु उदयनाचार्य के अनुसार, उपर्युक्त वचन पृथक्त्व में एकत्वत्वादि-सामान्य की सत्ता का प्रतिषेधक है, एषे-पृथक्त्वादि-निष्ठ सामान्य का नहीं। अतः एक-पृथक्त्वत्व आदि अपर-सामान्य को मानना ही

---

१. किर०, पृ० २१८–२१९ (किरणावली के स्पष्टीकरण के लिए प्रकाश, पृ० ४७१–४७३ तथा रस-सार, पृ० ६५–६७ द्रष्टव्य हैं); मुक्ता० का० ११४; उपस्कार ७।२।२; विवृत्ति, ७।२।२; न्या० ली० पृ० ३६८–३७२।

२. न्या० क०, पृ० ३१४।

३. व्योम०, पृ० ४८२।

चाहिए। विशेष विवरण '[1]किरणावली' में हीं देखना चाहिए।

(८) संयोग

'इदमनेन संयुक्तम्' इत्यादि व्यवहार का कारण जो गुण है वही संयोग है। यह संयोग द्रव्य की उत्पत्ति में निरपेक्ष रूप से और गुण तथा कर्म की उत्पत्ति में सापेक्ष रूप से कारण होता है। व्योमशिव के [2]मतानुसार निरपेक्ष का अर्थ है स्व (= संयोग) के उत्तर-भावी कारण की अपेक्षा से रहित, परन्तु श्रीधराचार्य[3] तथा उदयनाचार्य[4] के अनुसार इसका अर्थ है;—कार्य के समवायि-कारण तथा निमित्त-कारण से अतिरिक्त[5] तत्त्व की अपेक्षा से रहित। व्योमशिव के मत की उपेक्षा में हेतु यह है कि यदि निरपेक्ष शब्द का अर्थ स्वोत्तरभावि-कारणाऽनपेक्षित्व किया जाय तब तो सापेक्ष का अर्थ होगा स्वोत्तर-भावि-कारणापेक्षित्व (जैसा व्योमशिव ने किया भी है), जो उपपत्ति-युक्त अर्थ नहीं हो सकता है। सापेक्ष शब्द के व्योमशिवोक्त अर्थ में अनुपपत्ति किरणावली में "यथा[6] पाकजेष्वग्नि-संयोग औष्ण्यम् , न च तेनाऽसौ जन्यते" इत्यादि वाक्यों द्वारा बतलाई गई है, जिसकी स्पष्ट प्रतिपत्ति भट्ट वादीन्द्र के निम्न-लिखित वचन से होती है :—

"पाकजारम्भे वह्नि-संयोगापेक्षणीयस्य[7] उष्ण-स्पर्शस्य, महत्त्वाऽऽरम्भे प्रशिथिल-संयोगाऽपेक्षणीय-स्वाश्रयावयव-प्रशिथिल-संयोगस्य, कर्मारम्भे अभिघात-नोदनाऽपेक्षणीय-स्पर्श-वेगादेश्च पर-[8]भावित्वाऽभावात् ।"

---

१. किर०, पृ० ४७६ (इसकी स्पष्ट व्याख्या के लिए देखिए :—रस-सार, पृ० ७१)।

२. व्योम०, पृ० ४८६ ।

३. न्या० क०, पृ० ३३७ ।

४. किर०, पृ० ४७७ (पु० सो०)।

५. वस्तुतः यहाँ निरपेक्षशब्द का अर्थ करना चाहिए :—स्वाजनक-विजातीय-तत्त्वाऽनपेक्षत्व-विशिष्ट; क्योंकि अनेक-द्रव्य-संयोगों से उत्पद्यमान अवयवी के अवयवों का उत्तरोत्तर संयोग पूर्व-पूर्व-संयोग की अपेक्षा रखता है। अतः पूर्व-पूर्व-संयोग-सापेक्षत्व को निरपेक्षत्व-कोटि में समाविष्ट करने के लिए उपर्युक्त अर्थ करना चाहिए।

६. किर०, पृ० ४७८ ।

७. रस०, पृ० ७२ ।

८. यद्यपि मुद्रित-पुस्तक में "परम-भावित्वाऽभावात्" पाठ है तथापि अर्थ की दृष्टि से मैंने यहाँ 'पर-भावित्वाभावात्' पाठ प्रस्तुत किया है।

तात्पर्य इतना ही है कि व्योमशिवाचार्य के अनुसार, "गुणकर्माऽरम्भे एव सापेक्षः संयगः" का सिद्धान्त है जब कि श्रीधराचार्य, उदयनाचार्य आदि के अनुसार, "गुण-कर्मारम्भे सापेक्ष एव" माना जाता है।

द्रव्यारम्भ में संयोग का निरपेक्षत्व तथा गुण-कर्मारम्भ में सापेक्षत्व का विवरण इस प्रकार है :—

(क) द्रव्यारम्भ में निरपेक्षत्व :—

जैसेः—घट के आरम्भ में कपाल-द्वय-संयोग स्वाजनक-विजातीय-तत्त्व की अपेक्षा के बिना ही घट का उत्पादन करता है किन्तु स्वरूप-प्राप्ति-साधक-तत्त्व (= आत्म-लाभ-कारण) तथा (भूयोऽवयव-संयोग-जन्य-द्रव्य के प्रसङ्ग में) पूर्व-पूर्व-कालीन सजातीय संयोग की अपेक्षा से अतिरिक्त, किसी अकारण एवं विजातीय तत्त्व की अपेक्षा नहीं रखता है।

(ख) गुणारम्भ में सापेक्षत्व:—

जैसे :—पार्थिव-पाकज-रूपादि की उत्पत्ति में प्रयोजक पृथिवी-अग्नि-संयोग स्वाजनक-विजातीय-तत्त्व—वह्नि-गत उष्ण-स्पर्श—की अपेक्षा रखता है। अतएव सूत्र-कार का कथन है :—

"संयुक्त-समवायादग्नेर्वैशेषिकम्"[1]।

इसी तरह, बुद्धयादि की उत्पत्ति में आत्म-मनः-संयोग धर्मादि-सापेक्ष होता है।

(ग) कर्मारम्भ में सापेक्षत्व :—

जैसेः—हस्त-समवेत-कर्म के उत्पादन में आत्म-हस्त-संयोग स्वाजनक-विजातीय-तत्त्व—आत्म-समवेत-प्रयत्न—की अपेक्षा रखता है।

इसी प्रकार, अन्यान्य उदाहरण भी समझना चाहिए।

संयोग के भेद

संयोग के तीन प्रकार होते हैं :—अन्यतर-कर्म-जन्य, उभय-कर्मजन्य तथा संयोग-जन्य[2]।

(क) अन्यतर-कम-जन्यसंयोग :—

जहाँ संयोग के दोनों सन्बन्धियों में से किसी एक ही में क्रिया की उत्पत्ति होने से संयोग की निष्पत्ति होती है, उसे अन्यतर-कर्म-जन्य संयोग कहा जाता है। उदाहरणार्थ, पर्वत तथा पक्षी के संयोग को लिया जा सकता

१. वै० सू० १०।२।७।
२. वै० सू० ७।२।९।

है। वस्तुतः एक सम्बन्धी में सक्रियत्व और दूसरे में निष्क्रियत्व ही अपेक्षित नहीं है किन्तु जहाँ एक में ही संयोगानुकूल क्रिया है और दूसरे में संयोगानुकूल क्रिया[1] का अभाव है उसे अन्यतर-कर्म-जन्य संयोग मानना चाहिए। अतएव मन्द-गति से स्व-ग्रामोन्मुख चलनेवाले किसी व्यक्ति से यदि पीछे से आनेवाला शीघ्र-गतिमान् अन्य व्यक्ति, जिसकी क्रिया संयोगानुकूल है, संयुक्त हो जाता है तो वहाँ भी अन्यतर-कर्म-जन्य संयोग ही माना जाता है, क्योंकि पूर्व-व्यक्ति की क्रिया संयोगानुकूल नहीं है। यदि पूर्व-व्यक्ति की भी क्रिया संयोगानुकूल हो तो यह संयोग अन्यतर-कर्म-जन्य न होकर उभय-कर्म-जन्य कहलाएगा।

(ख) उभय-कर्म-जन्य संयोग :—

जहाँ दोनों सम्बन्धियों में संयोगानुकूल-क्रिया होने पर संयोग की उत्पत्ति होती है वहाँ वह संयोग उभयकर्मज कहलाता है। उदाहरणार्थ, मल्ल-द्वय का संयोग लिया जा सकता है।

(ग) संयोग-जन्य-संयोग :—

अपने समवायि-कारण के साथ संयुक्त अकारण (स्व-समवायि-कारण-भिन्न तत्त्व) के साथ जो उत्पन्न-मात्र या चिरोत्पन्न निष्क्रिय[2] कार्य का संयोग है वह संयोगजन्य संयोग कहलाता है। उदाहरणार्थ, तुरी (जो पट का समवायि-कारण नहीं होने से इस प्रसङ्ग में अ-कारण है) के साथ [3]संयोग (क) रखनेवाले एक तन्तु (जो भावी द्वि-तन्तुक पट का समवायि-कारण है) का जब दूसरे तन्तु के साथ संयोग (ख) होकर एक द्वि-तन्तुक पट का निर्माण होता है, उसके अव्यवहि-तोत्तर क्षण में द्वि-तन्तुक पट

---

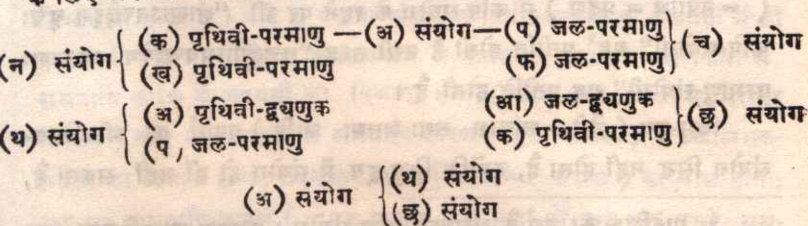
१. संयोगानुकूल क्रिया का अर्थ है परस्पर-विरुद्ध दिशाओं में (जैसे, पूर्व और पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण) वर्तमान द्रव्यों में परस्पर संयोग को उत्पन्न करनेवाली क्रिया। इसी के लिए प्रशस्तपादाचार्य ने "विरुद्ध-दिक्-क्रिययोः सन्निपातः" कहा है। उभयकर्म-जन्य संयोग के प्रसङ्ग में भी संयोगानुकूल-क्रिया का यही अर्थ है।

२. कार्य के साथ 'निष्क्रिय' विशेषण के प्रयोग से ही संयोगज संयोग की उपपत्ति हो सकती है, अन्यथा वही कार्य-गत-क्रिया असमवायि-कारण का कार्य करने लगेगी और इस प्रकार वहाँ कर्मज-संयोग होगा- संयोगज नहीं। वस्तुतः अ-कारण के साथ भी 'निष्क्रिय' विशेषण की आवश्यकता है।

३. समझने में सौविध्य के लिए संयोग में (क), (ख) आदि का संकेत किया गया है।

में रूपादि की निष्पत्ति तथा तुरी के साथ उस पट का संयोग (ग) होता है। यहाँ संयोग (ग) की उत्पत्ति में समवायि-कारण असमवायि-कारण तथा निमित्त-कारण की अपेक्षा होती है, क्योंकि किसी भी भाव-कार्य की उत्पत्ति त्रिविध-कारण के बिना कथमपि नहीं हो सकता है। प्रकृत तुरी तथा द्वितन्तुक-पट के संयोग (ग) के समवायि-कारण द्वितन्तुक-पट और तुरी हैं, परन्तु असमवायि-कारण क्या होगा यह प्रश्न है। पट और तुरी तो निष्क्रिय ही हैं; इसलिए उनकी क्रिया को असमवायि-कारण मानने की तो बात ही नहीं उठती है। संयोग (ग) के समवायि-कारण में वर्तमान रूप आदि को भी असमवायि-कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि रूपादि में सजातीय-गुणोत्पादकत्व-मात्र होता है विजातीयोत्पादकत्व नहीं। द्वि-तन्तुक का आरम्भक-संयोग (ख) भी द्वि-तन्तुक की उत्पत्ति में ही क्षीण-सामर्थ्य है, अतः वह भी इस संयोग (ग) का असयवायि-कारण नहीं हो सकता है। अतः परिशेषात् संयोग (क) को ही संयोग (ग) का असमवायि-कारण माना जाता है। इसीलिए यह संयोग-जन्य-संयोग कहलाता है। यहाँ तो एक ही संयोग (क) से दूसरे संयोग (ग) की उत्पत्ति हुई है। कभी-कभी दो संयोगों से भीएक संयोग की उत्पत्ति होती है। जैसे इसी उदाहरण में दो तन्तुओं के आकाश के साथ जो दो संयोग हैं उन दोनो संयोगों से तन्तु-द्वयारब्ध पट तथा आकाश का एक ही संयोग उत्पन्न होता है। अन्य प्रक्रिया पूर्ववत् समझनी चाहिये। कदाचित् अनेक संयोगों से भी एक संयोग की उत्पत्ति होती है। जैसे, पाँच तन्तुओं के आकाश के साथ पाँच संयोगों से तन्तु-पञ्चकारब्ध पट तथा आकाश का एक ही संयोग उत्पन्न होता है। अन्य विधान पूर्ववत् है।

कभी-कभी एक संयोग से दो संयोगों की उत्पत्ति होती है। इसे समझने के लिए अधो-विन्यस्त चित्र को देखें :—



प्रथमतः (क) पृथिवी-परमाणु तथा (प) जल-परमाणु में (अनारम्भक) संयोग (अ) हुआ, तदनन्तर (ख) पृथिवी-परमाणु में और (फ) जल-परमाणु में क्रिया की उत्पत्ति से क्रमशः (ख) पृथिवी-परमाणु औ (फ) जल-परमाणु का (क) पृथिवी-परमाणु से और (प) जल-परमाणु से संयोग (त) तथा संयोग

(च) की उत्पत्ति हुई। इसके बाद (अ) पृथिवी-द्व्यणुक तथा (आ) जल-द्व्यणुक की निष्पत्ति हुई और अव्यवहितोत्तर-क्षण में (अ) द्व्यणुक का अपने कारण, (क) परमाणु, से संयुक्त (प) परमाणु के साथ संयोग (थ) होता है और (आ) द्व्यणुक का स्व-कारण, (प) परमाणु, के साथ संयुक्त (क) परमाणु के साथ संयोग (छ) होता है। यहाँ भी पूर्वोक्त-प्रकार से विचार करने पर स्पष्ट है कि संयोग (थ) तथा संयोग (छ) का असमवायि-कारण एक ही संयोग (अ) है। अतः एक संयोग से दो संयोगों की निष्पत्ति सिद्ध हो जाती है। विशेष-विवरण के लिए पदार्थ-धर्म-संग्रह देखना चाहिए।

उपर्युक्त सभी संयोगों में संयोगज-संयोग का कारण जो संयोग होता है वह कारण, अर्थात् समवायि-कारण, और अकारण, अर्थात् समवायि-कारण-भिन्न पदार्थ, का संयोग होता है और संयोगज-संयोग कार्य और अ-कार्य (अ-कारण ही यहाँ अकार्य है) के मध्य होता है—यह तो उदाहरण के अवलोकन से ही स्पष्ट है। अतएव इस संयोगज-संयोग को 'कारणाऽकारण-संयोग-जन्य कार्याऽकार्य-संयोग, कहा जाता है।

संयोग अज (=नित्य) नहीं होता है

नैयायिक लोग संयोग को नित्य भी मानते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि नित्य संयोग तो केवल नित्य पदार्थों के बीच ही हो सकता है, जैसे परमाणु का आकाश आदि के साथ। परन्तु परमाणु तथा आकाश के बीच संयोग प्रादेशिक[1] है और इसकी उत्पत्ति परमाणु की क्रिया से होती है। यद्यपि आकाश आदि पदार्थ नित्य अतएव निरवयव हैं, एवञ्च प्रादेशिक संयोग की असम्भावना का प्रतिभास होता है तथापि यहाँ प्रदेश का अर्थ है उपाधि। तात्पर्य यह है कि परमाणु तथा आकाश का संयोग यद्यपि वस्तुतः प्रादेशिक होने के कारण उपाधियों (= प्रदेश) से ही सम्बद्ध है तथापि जैसे शाखा (= उपाधि = प्रदेश) में कपि-संयोग के रहने पर भी "शाखाऽवच्छेदेन वृक्षः कपि-संयोगी" यह[2] प्रतीति होती है उसी तरह "तत्तदुपाध्यवच्छेदेन आकाशः परमाणु-संयोगी" यह प्रतीति होती है।

विभु-द्वय (जैसे—आकाश तथा आत्मा आदि) पदार्थ का भी नित्य-संयोग सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि विभु-द्वय में संयोग हो ही नहीं सकता है,

---

१. प्रादेशिक का अर्थ है अव्याप्य-वृत्ति-संयोग। परमाणु का परिमाण अणु है और आकाश का परम-महत्त्व। एवञ्च परमाणु तथा आकाश के संयोग को व्याप्य-वृत्ती नहीं कहा जा सकता है।

२. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—स-प्रकाश-किरणावली, पृ० ४८३–४८५; व्योमवती, पृ० ४९३।

फिर संयोग के नित्य और अनित्य होने की बात तो दूर रही। संयोग को व्याप्त करनेवाला धर्म है युत-सिद्धत्व। युत-सिद्धत्व दो प्रकार का हो सकता है :— नित्य पदार्थों का युत-सिद्धत्व और अनित्य पदार्थों का युत-सिद्धत्व। नित्य पदार्थों के युत-सिद्धत्व का अर्थ है[1] दोनों या किसी एक में स-क्रियत्व। उभय-निष्ठ-सक्रियत्व-स्वरूप युत-सिद्धि के उदाहरण दो परमाणु हो सकते हैं जहाँ दोनों में क्रिया की उत्पत्ति होती हैं और उस तरह दोनों संयुक्त होकर द्व्यणुक का निष्पादन करते हैं। किसी एक में सक्रियत्व होने से युत-सिद्धि का उदाहरण परमाणु तथा आकाश के संयोग के विवरण में ही मिल जाता है। अनित्य पदार्थों मे युत-सिद्धत्व का अर्थ होता है पृथक्-पृथक् पदार्थों में समवेतत्व[2]। इसके उदाहरण के रूप में घट और पट को लिया जा सकता है जहाँ घट कपाल-द्वय मे समवेत है और पट तन्तुओं में। अब इतना तो स्पष्ट है कि युत-सिद्धत्व है व्यापक और संयोग है व्याप्य। यह नियम है कि व्यापक पदार्थ के अभाव होने पर व्याप्य पदार्थ का अभाव निश्चित होता है। अब आकाश तथा आत्मा आदि विभु-पदार्थों में क्रिया नहीं होने से नित्य पदार्थों के विषय में वर्णित संयोग-व्यापक युत सिद्धत्व का अभाव सिद्ध है और इसीलिए संयोग का भी अभाव सिद्ध ही है। पृथगाश्रय-समवेतत्व की सम्भावना तो अकारण अतएव अ-समवेत आकाशादि नित्य पदार्थों में है ही नहीं। अतः विभु-द्वय-संयोग सर्वथा असम्भावित है।

इस प्रकार, परमाणु तथा आकाश के संयोग के अन्यतर (परमाणु) कर्म-जन्य (अत एव अनित्य) होने से और विभु-द्वय के संयोग के असम्भावित होने से यह सिद्ध है कि संयोग नियमतः अनित्य ही होता है, नित्य नहीं।

संयोग-नाश का प्रकार

सभी प्रकार के संयोग का नाश स्व-समवायि-कारणों में उत्पन्न परस्पर-विभाग से होता है। यदि तु परस्पर-संयुक्त समवायि-कारणों के अवयवों में ही परस्पर-विभाग-जनक क्रिया किसी कारण से उत्पन्न हो जाय तब उस क्रिया से समवायि कारण के अवयवों का विभाग होगा (जैसे, कपालवयवों का परस्पर विभाग) और उस विभाग से समवायि-कारण (जैसे, कपाल) के आरम्भक-संयोग का विनाश होगा, तदनन्तर समवायि-कारण (कपाल) का नाश होगा; अब एक समवायि-कारण (= एक कपाल) के नाश हो जाने पर दूसरे समवायि-कारण (= दूसरे कपाल) के रहने पर भी उभयनिष्ठ-अवयव्यारम्भक (घटारम्भक) संयोग नष्ट हो जाता है।

---

१. द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम्—प्र० पा० भा०, पृ० ३६०।

२. पृथगाश्रयाश्रयित्वम्—प्र० प० भा०, पृ० ३६०।

अतः साधारणतः स्व-समानाधिकरण विभाग से और कभी-कभी आश्रय-नाश से त्रिविध संयोग का नाश सिद्ध होता है ।

(९) विभाग

संयोग के ध्वंस का प्रयोजक गुण विभाग कहलाता है । यह तीन प्रकार का होता है :—अन्यतर-कर्म-जन्य, उभय-कर्म-जन्य तथा विभाग-जन्य ।

(क) अन्यतर-कर्म-जन्य विभागः—

जहाँ विभाग के समवायि-कारण दो द्रव्यों में से किसी एक ही में विभागानुकूल क्रिया की उत्पत्ति और उससे विभाग होता है वह अन्यतर-कर्म-जन्य विभाग कहलाता है । उदाहरणार्थ, पर्वत तथा पक्षी के विभाग को लिया जा सकता है ।

(ख) उभय-कर्म-जन्य विभागः—

जहाँ विभाग के समवायि-कारण, दोनों द्रव्यों, में क्रिया होने से विभाग होता है वह उभय-कर्म-जन्य विभाग कहलाता है । जैसेः—दो मल्लों का परस्पर से विभाग ।

(ग) विभाग-जन्य-विभागः—

विभाग से ही उत्पन्न होने वाला विभाग विभाग-जन्य-विभाग कहलाता है । यहाँ दो विभाग हैंः—एक तो असमवायि-कारणीभूत विभाग (क) और दूसरा उससे उत्पन्न विभाग (ख) । असमवायि-कारणी-भूत विभाग दो प्रकार का हो सकता है :—कदाचित् समवायि-कारण-द्वय-विभाग (जैसे—घट-समवायि-कारण-कपाल-द्वय-विभाग) और कदाचित् समवायि-कारण और अ-कारण (समवायि-कारण-भिन्न तत्त्व) का विभाग (जैसे—हस्त तथा वृक्ष का विभाग) । अ-समवायि-कारणी-भूत विभाग के द्वैविध्य से कार्य-भूत विभाग का भी द्वैविध्य सिद्ध होता है । इन प्रकारों को क्रमशः "कारण-द्वय-विभाग-जन्य कारणाऽकारण-विभाग" और "कारणाऽकारण-विभाग-जन्य कार्याऽकार्य-विभाग" कहा जा सकता है ।

(अ) कारण-द्वय-विभाग-जन्य कारणाऽकारण-विभागः—

इस विभाग को समझने के लिए पहले हम विभाग के कृत्य को देखें । विभाग के दो स्वरूप होते हैंः—एक विभाग ऐसा होता है जो अवयवि-द्रव्य के आरम्भक संयोग को नष्ट करता है और दूसरा विभाग अवयवि-द्रव्य के आरम्भक संयोग से भिन्न संयोग को नष्ट करनेवाला होता है । प्रथम प्रकार के विभाग के उदाहरण के रूप में घटारम्भक-कपाल-द्वय-संयोग-विरोधी विभाग को लिया जा सकता है जो घटारम्भक-कपाल-द्वय-संयोग (जिससे घट की

उत्पत्ति होती है) को हीं नष्ट करता है जिससे अवयवि-द्रव्य-घट भी नष्ट हो जाता है। दूसरे प्रकार के विभाग के उदाहरण के रूप में कपाल तथा आकाश के विभाग को लिया जा सकता है जिससे अवयवि-द्रव्य, अर्थात् घट, के आरम्भक-संयोग से भिन्न कपालाकाश-संयोग का ध्वंस होता है। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि एक विभाग द्रव्याऽरम्भक-संयोग-नाशक और दूसरा विभाग द्रव्याऽनारम्भक-संयोग-नाशक होता है। एवञ्च दोनों विभागों के परस्पर-विरुद्ध-स्वभाव (एक में द्रव्यारम्भक-संयोग-नाशकत्व और दूसरे में द्रव्याऽनारम्भक-संयोग-नाशकत्व होने से स्व-भाव-विरोध तो स्पष्ट ही है) होने से किसी एक ही कारण से दोनों विभागों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि कार्य-भेद की सम्भावना, कारण-भेद के बिना, कथमपि नहीं हो सकती है। यदि तु कथञ्चित् यह मान लिया जाय कि एक ही कारण द्रव्यानाऽरम्भक तथा द्रव्याऽऽरम्भक संयोगों के विनाशक विभागों को उत्पन्न कर सकता है, तब तो अनुत्फुल्ल-कमल के अवयवों में उत्पन्न कर्म से कमलावयवों का आकाश से विभाग के साथ कमलाऽऽरम्भक-संयोग-नाशक विभाग की भी उत्पत्ति हो जायगी, फलतः खिलते-खिलते ही कमल का ध्वंस भी हो जायेगा। एवञ्च कहीं भी विकसित कमल की उपलब्धि, जो सर्वानुभव-सिद्ध है, नही हो सकेगी। अतः एक कारण से उभय-विध विभाग की उत्पत्ति असम्भव है।

अब यह विचारणीय है कि जब घट-कारणी-भूत प्रत्येक कपाल में पृथक्-पृथक् परस्पर-विभिन्नदिग्गमनानुकूल कर्म की उत्पत्ति किसी कारण से होती है तो उस कर्म से घटारम्भक संयोग—कपाल-द्वय-संयोग—के नाशक विभाग की उत्पत्ति होगी या कपालाकाश-संयोग—घटानारम्भक-संयोग—के नाशक विभाग की। यहाँ इतना तो स्पष्ट ही है कि जब तक कपाल-द्वय परस्पर-विभक्त नहीं हो जाता है तब तक उसमें स्वतन्त्र रूप से देशान्तर-गमन की योग्यता ही नहीं आती है। अतएव घटाविष्ट कपाल का आकाश के साथ विभाग कपाल-द्वय के परस्पर से विभाग की पूर्वकल्पना करता है। अब यदि घटाविष्ट कपाल में उत्पन्न कर्म द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशक विभाग—एक कपाल का दूसरे कपाल से विभाग—को उत्पन्न करता है तब तो वही कर्म उसी क्षण में, या कालान्तर में भी, द्रव्याऽनारम्भकसंयोगविनाशक विभाग, अर्थात् कपालाकाश-विभाग, को भी उत्पन्न नहीं कर सकता है, जैसा पहले बतला दिया जा चुका है। एवञ्च घटाविष्ट कपाल से उत्पन्न क्रिया कपालद्वय के विभाग (क) को उत्पन्न करती है; उस विभाग (क) से घटाऽऽरम्भकसंयोग का विनाश होता है; घटाऽऽरम्भकसंयोग के विनष्ट हो जाने पर, असमवायिकारण के

विनाश के कारण, अवयवी घट का भी नाश हो जाता है। द्रव्य के नाश के पश्चात् देशान्तर-गमन-योग्य सक्रिय[1] अवयव का पूर्व-देश से विभाग (ख) होता है; तदनन्तर पूर्वप्रदेशसंयोग का नाश होता है, और इसके बाद अवयवगत-कर्म से ही उत्तरदेशसंयोग की उत्पत्ति हो जाने पर अग्रिमक्षण में अवयवसमवेत कर्म का भी नाश हो जाता है—यह प्रक्रिया अनुभवसिद्ध है। अब यहाँ स्थिति यह है कि पूर्व-देश से सक्रिय कपाल के विभाग (ख) की उत्पत्ति होती है। इस लिए इस विभाग के तीन कारण—समवायी, असमवायी तथा निमित्त—की अपेक्षा होती है। पूर्व-प्रदेश तथा कपाल के विभाग (ख) के समवायि-कारण तो पूर्वप्रदेश तथा कपाल ही हैं; निमित्त-कारण भी अदृष्टादि है—इतना स्पष्ट है। अब असमवायि-कारण की प्रतिपत्ति अपेक्षित है। असमवायि-कारण वही गुण या कर्म हो सकता है जो समवायिकारण में सम्बद्ध (साक्षात् या परम्परया) हो तथा प्रकृत कार्य की उत्पत्ति में अवधृतसामर्थ्य हो। यहाँ आकाश में समवेत शब्दादि-गुण और कपाल में समवेत [विभाग (क) को छोड़ कर अन्य] रूपादि-गुण विभाग के उत्पादन में अवधृतसामर्थ्य नहीं हैं। अत एव ये विभाग (ख) के असमवायि-कारण नहीं हो सकते हैं। विभाग (ख) के समवायि-कारण कपाल में वर्त्तमान क्रिया को भी असमवायि-कारण, इस विभाग (ख) के प्रसङ्ग में, नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यतः कपालसमवेत क्रिया से अवयव्यारम्भक संयोग-नाशक विभाग (क) उत्पन्न हुआ है अतः उसी क्रिया के द्वारा पुनः अवयव्यारम्भक-संयोग-भिन्न कपालाकाशसंयोग के विनाशक विभाग (ख) का उत्पादन कथमपि नहीं हो सकता है—यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है।

---

१. अवयव अभी भी सक्रिय ही रहता है, क्योंकि क्रिया के नाशक उत्तर-देश-संयोग की अभी निष्पत्ति नहीं हुई है। उत्तर-संयोग की निष्पत्ति के पूर्व हीं यदि क्रिया का नाश मान लिया जाय तब क्रिया में निरर्थकत्व आ जायगा, क्योंकि क्रिया का प्रयोजन है उत्तर-देश-संयोगोत्पादन। यदि उत्तर-संयोग को क्रिया का फल न मान कर विभाग (ख) को ही क्रिया-फल मान लिया जाय तब तो करण के अभाव होने से उत्तर-देश-संयोग की उत्पत्ति हीं नहीं बन सकेगी। अत एव इस अवस्था में क्रिया को अवयव में वर्त्तमान माना जाता है। परन्तु वर्त्तमान होने पर भी यह क्रिया जिस कारण से कापालाकाश-विभाग का अ-समवायि-कारण नहीं होती है, उसका उपपादन पहले किया जा चुका है। कन्दलीकार ने इस क्रिया को भी कपालाकाश-विभाग में निमित्त-कारण माना है। परन्तु यतः क्रिया निमित्त-कारण नहीं हो सकती है, अतः उनका मत विचारणीय है।

और जब तक तीनों कारणों का सम्बलन नहीं होगा तब तक विभाग (ख) की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। परन्तु उत्पत्ति अनुभव सिद्ध है। अतः तीनों कारणों की स्थिति भी सिद्ध हो जाती है। प्रकृत में समवायि-कारण-समवेत अन्यान्य-गुण तथा कपालसमवेत क्रिया में विभागोत्पादनसामर्थ्य के अभाव के, पूर्वोक्त रीति से, निश्चित हो जाने पर अवशिष्ट अवयवद्वयविभाग (क) को ही अवयवाऽऽकाश-विभाग (ख) का असमवायिकारण माना जाता है। यतः विभाग (क) गुण है अतः इसे विभाग (ख) की उत्पत्ति में किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा करनी होगी और वह तत्त्व यहाँ अवयविनाशविशिष्ट काल अथवा अवयवि-नाशविशिष्ट (अत एव स्वतन्त्र) अवयव ही है।

यहाँ घट के कारण—कपाल-द्वय—के परस्परविभाग (क) से घट के कारण कपाल तथा घट के अ-कारण आकाश का विभाग (ख) होता है। अतः इस विभाग को "कारणविभागजन्य कारणाऽकारणविभाग" कहा जाता है।

(आ) कारणाऽकारण-विभागजन्य कार्याऽकार्यविभाग :—

इस विभाग की प्रक्रिया निम्न-लिखित है :—

प्रथम-क्षण :—

(अ) वृक्षसंयुक्त अङ्गुली में किसी कारण से क्रिया की उत्पत्ति।

द्वितीय-क्षण :—

(अ) वृक्ष से अङ्गुली का विभाग (यह विभाग क्रिया से उत्पन्न है)।

तृतीय-क्षण :—

(अ) वृक्षाङ्गुलीसंयोग-नाश।

चतुर्थ-क्षण :—

(अ) अङ्गुली का उत्तर-देश से संयोग[1],

(आ) हस्त-वृक्ष-विभाग[2]।

---

१. इसी सयोग से अङ्गुली-समवेत क्रिया को तथा वृक्षाऽङ्गुली-विभाग की निवृत्ति होती है।

२. इस विभाग का असमवायि-कारण वृक्षाङ्गुली-विभाग है, क्योंकि अङ्गुली-समवेत क्रिया में वैयधिकरण्य होने से वह क्रिया हस्त में विभाग को उत्पन्न नहीं कर सकती है। यद्यपि हस्त-वृक्ष-विभाग के समवायि-कारण (वृक्ष तथा) हस्त में हस्तावयव—अङ्गुली—में समवेत क्रिया की कारणैकार्थ-प्रत्यासत्ति (= स्व-समवायि-समवाय-सम्बन्ध) है, तथापि क्रिया में असमवायि-कारणता सर्वत्र कार्यैकार्थ-प्रत्यासत्ति से ही आनुभविक है। अतः अङ्गुली-क्रिया को

पञ्चम-क्षण :—

हस्त-वृक्ष-संयोग-नाश ।

षष्ठ-क्षण :—

(अ) हस्त का उत्तर-देश[1] से संयोग,

(आ) भुजा का वृक्ष से विभाग[2] ।

सप्तम-क्षण :—

भुज-वृक्ष-संयोग-नाश ।

अष्टम-क्षण :—

(अ) भुजा का उत्तर-देश से संयोग[3],

(आ) शरीर का वृक्ष से विभाग ।[4]

नवम-क्षण :—

शरीर-वृक्ष-संयोग-नाश ।

दशम-क्षण :—

शरीर का उत्तर-देश से संयोग ।[5]

अ-कारण माना गया है । अत एव यह हस्त-वृक्ष विभाग विभागज-विभाग है ।

१. यह उत्तर-देश वही है जिससे अङ्गुली का संयोग पहले हो चुका है और यह संयोग पूर्वोत्पन्न अंगुली-उत्तर-देश-संयोग से उत्पन्न होने के कारण संयोगज-संयोग कहलाता है, और इसी से हस्त-वृक्ष-विभाग का भी नाश अग्रिम-क्षण में होता है ।

२. इस विभाग का असमवायि-कारण पूर्वोत्पन्न हस्त-वृक्ष-विभाग है । अतः यह विभाग भी विभागज-विभाग है ।

३. यह संयोग भी पूर्व-वर्ती हस्तोत्तर-देश-संयोगाऽसमवायि-कारणक होने से संयोगज-संयोग है । इसीसे भुज-वृक्ष-विभाग का भी नाश होता है । उत्तर-देश का अर्थ सर्वत्र वही देश है जिससे अङ्गुली का संयोग पहले हो चुका है।

४. इस विभाग की उत्पत्ति में भुज-वृक्ष-विभाग असमवायि-कारण है । अतः यह विभाग भी विभागज-विभाग है ।

५. इसी से शरीर-वृक्ष-विभाग का अन्त होता है । संयोग-नाश की प्रक्रिया तो सर्वत्र पूर्ववत् समझनी चाहिए ।

इन विभागों में अंगुली-वृक्ष-विभाग (जो अङ्गुली-समवेत क्रिया से उत्पन्न होने के कारण अन्यतर-कर्म-जन्य-विभाग है) को छोड़कर शेष तीन विभाग, अर्थात् हस्त-वृक्ष-विभाग, भुज-वृक्ष-विभाग तथा शरीर-वृक्ष-विभाग, कारणाऽकारण-विभाग-जन्य कार्याऽकार्य विभाग हैं। हस्त-समवायि-कारण अंगुली तथा हस्त के अकारण वृक्ष के विभाग से अंगुली के कार्य—हस्त—तथा अंगुली के अकार्य—वृक्ष—का विभाग उत्पन्न होता है। अत एव इसे कारणाऽकारण-विभाग-जन्य कार्याऽकार्य-विभाग कहा जाता है। इसी प्रकार, भुज-वृक्ष आदि के विभाग के विषय में भी समझना चाहिए।

यद्यपि उपर्युक्त सभी विभागों में यौगपद्य की ही प्रतीति होती है न कि क्रम की, तथापि यह यौगपद्यप्रतीति पद्म-पत्र-शतक-भेदन में यौगपद्य-प्रतिभास की तरह भ्रान्त है। इस भ्रान्तत्व के साधन के लिए अनुमान का प्रकार व्योमवती[1] तथा न्याय-[2]कन्दली में देखना चाहिए।

अंगुली तथा हस्त के संयोग और विभाग में क्रम होने पर भी दोनों में पृथगाश्रय-समवेतत्व नहीं है, क्योंकि हस्त उसी अंगुली में समवेत है। अतः अवयव तथा अवयवी में युत-सिद्धि-दोष तथा तत्प्रयुक्त समवायानुपपत्ति की सम्भावना नहीं रहती है। विशेष-विवरण के लिए पदार्थ-धर्म-संग्रह[3] आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

विभाग-नाश-विवरण

कार्य की उत्पत्ति किसी कर्त्तव्य-विशेष के सम्पादन के लिए ही होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पुरुष के उपभोग के सम्पादन के लिए ही कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः जब कार्य कृत-कर्त्तव्य हो जाता है तब उसकी निवृत्ति भी हो ही जाती है। यदि कृत-कर्त्तव्य कार्य का भी अवस्थान मान लिया जाय तब तो पूर्व-शरीर-परित्याग आदि की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। प्रकृत विभाग पदार्थ के भी तीन कर्तव्य हैं :—पूर्व-संयोग-निवृत्ति, शब्दोत्पत्ति तथा उत्तर-विभागोत्पत्ति। जब विभाग का कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है तब पूर्ववत् विभाग को भी नष्ट होना ही है। न्याय-वैशेषिक-मत में कार्य-निवृत्ति भी किसी कारण के बिना नहीं हो सकती है। अतः विभागनाश का भी कारण अपेक्षित है। यहाँ नाश के कारण के रूप में तीन तत्त्व सम्भावित हैं :—कर्म, विभाग-जन्य-विभाग तथा उत्तर-देश-संयोग। विचार करने पर

१. व्योम०, पृ० ५०४।
२. न्या० क०, पृ० ३७४—३७७।
३. प्र० पा० भा०, पृ० ३७८-३८१।

यह स्पष्ट है कि कर्म विभाग का नाशक भी तथा उत्पादक भी नहीं हो सकता है। ऐसा मानने पर तो उत्पत्ति के अनन्तर पूर्व-देश-संयोग का नाश कर विभाग स्वयम् भी उत्तर-देश-संयोग के क्षण में पूर्वकालिक स्व-समवायि-कारण-समवेत कर्म से नष्ट होकर उस क्षण (उत्तर-देश-संयोग-क्षण, जिस क्षण में पहले विभागज-विभाग की उत्पत्ति बतलाई गई है) में विभागज-विभाग—हस्त-वृक्ष-विभाग—का उत्पादन नहीं कर सकेगा, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के समय अवर्त्तमान पदार्थ उस कार्य का असमवायि-कारण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार, विभागज-विभाग से भी विभाग का नाश नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वत्र विभाग से विभाग की उत्पत्ति नियत नहीं है। और जैसा कारणाऽकारण-विभाग जन्य कार्याऽकार्य-विभाग के प्रकरण में बतलाया गया है, विभागजन्य-विभाग की परम्परा—हस्त-वृक्ष-विभाग, भुज-वृक्ष-विभाग तथा शरीर-वृक्ष-विभाग—में अन्तिम-विभाग, अर्थात् शरीर-वृक्ष-विभाग, के द्वारा विभागान्तर के अनुत्पादन से उस शरीर-वृक्ष-विभाग का नाश नहीं हो सकेगा। अतः उत्तर-देश-संयोग को ही विभाग की परमावधि, अर्थात् उत्तर-देश-संयोग-क्षण के उत्तर-क्षण में उत्तर-देश-संयोग के द्वारा विभाग का नाश, मानना चाहिए। अत एव उत्तर-देश-संयोग के बाद विभक्त-बुद्धि की निवृत्ति भी आनुभविक है। इसी आशु-नाशित्व के कारण विभाग को क्षणिक भी कहा जाता है। परन्तु उस क्षणिक का अर्थ 'तृतीय-क्षण-वृत्ती ध्वंस का प्रतियोगी' नहीं है, क्योंकि किसी भी विभाग का तृतीय क्षण में नाश नहीं होता है।

यह तो विभाग-नाश का साधारण कारण है। अब कुछ असाधारण कारण का भी विवरण दिया जाता है :—

कभी कभी आश्रय, अर्थात् समवायि-कारण के नाश से भी विभाग का नाश होता है। समवायि-कारण का अर्थ सभी समवायि-कारणों से नहीं है अपि तु किसी एक समवायि-कारण के नाश से भी विभाग आदि का नाश हो सकता है, क्योंकि उभय-समवेत विभागादि पदार्थ की प्रतीति तथा सत्ता उभयावस्था-नाधीन हीं होती है। इस प्रक्रिया (= आश्रय-विनाश से विभाग-विनाश की प्रक्रिया) का विवरण निम्न-लिखित है :—

प्रथम-क्षण :—

'क' तन्तु तथा 'ख' तन्तु से आरब्ध द्वितन्तुक-पट के समवायि-कारण 'क' तन्तु के अवयव में क्रिया की उत्पत्ति।

द्वितीय-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के अवयवों का परस्पर-विभाग,

(आ) 'ख' तन्तु में क्रिया की उत्पत्ति।

तृतीय-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के आरम्भक संयोग का नाश,

(आ) 'ख' तन्तु का 'क' तन्तु से विभाग,

(इ) 'ख' तन्तु का 'क' तन्तु के अवयवों (अंशुओं) से विभाग[१]।

चतुर्थ-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु का नाश[२],

(आ) 'क' तन्तु तथा 'ख' तन्तु के विभाग से द्वितन्तुक के आरम्भक संयोग का नाश।

पञ्चम-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के अवयवों का पूर्व-प्रदेश से विभाग[३],

(आ) तन्तु-द्वय-विभाग के समवायि-कारणों में से अन्यतर, अर्थात् 'क' तन्तु, के विनष्ट हो जाने से तत्समवेत तन्तु-द्वय-विभाग का विनाश,[४]

(इ) द्वि-तन्तुक-पट का नाश।[५]

---

१. जैसे अङ्गुली में उत्पन्न क्रिया वृक्ष के साथ विभाग के उत्पादन के सम-काल ही वृक्षावयव से भी अङ्गुली के विभाग का उत्पादन करती है, उसी तरह 'ख' तन्तु में उत्पन्न क्रिया 'क' तन्तु से 'ख' तन्तु के विभाग के सम-काल ही 'क' तन्तु के अवयवों से भी 'ख' तन्तु के विभाग को उत्पन्न करती है। इसकी उपपत्ति के लिए विशेषतः किरणावली (पृ० ५०५–५०३ ए० सो०) द्रष्टव्य है।

२. पूर्व-क्षण में 'क' तन्तु के आरम्भक संयोग के नाश हो जाने से इस क्षण में असमवायि-कारण-नाश-जन्य कार्य- नाश हुआ है।

३. यह विभाग 'द्वितीय-क्षण' में निर्दिष्ट 'क' तन्तु के अवयवों के विभाग से उत्पन्न हुआ है, अत एव यह विभागज विभाग है। इसकी उत्पत्ति 'क' तन्तु के अवयवों में समवेत क्रिया से नहीं हो सकती है, क्योंकि उस क्रिया से 'क' तन्तु के आरम्भक संयोग को विनष्ट करनेवाले (द्वितीय-क्षण में निर्दिष्ट) विभाग की उत्पत्ति हुई है, और यह नियम पहले बतला दिया गया है कि एक ही क्रिया द्रव्यारम्भक-संयोग-विरोधी विभाग तथा द्रव्यारम्भक-संयोगाऽ-विरोधी विभाग (जैसे 'क' तन्तु के अवयव का पूर्व-प्रदेश से विभाग) को उत्पन्न नहीं कर सकती है। इस बात को सर्वदैव ध्यान में रखना चाहिए।

४. यही विभाग-नाश-प्रक्रिया प्रकृत है।

५. स्वारम्भक-संयोग के नाश से तथा स्वसमवायि-कारणान्यतर 'क' तन्तु के नाश से द्वितन्तुक का नाश होता है।

षष्ठ-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के अवयव तथा पूर्व-देश में समवेत संयोग का विनाश,

(आ) सक्रिय 'ख' तन्तु का पूर्व-प्रदेश से विभाग[१] ।

सप्तम-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के अवयव का उत्तर-देश से संयोग,

(आ) सक्रिय 'ख' तन्तु के पूर्व-प्रदेश-संयोग का विनाश ।

अष्टम-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के अवयव की क्रिया का नाश,[२]

(आ) सक्रिय 'ख' तन्तु का उत्तर-देश से संयोग[3] ।

आश्रय-नाश से विभाग-नाश की दूसरी परिस्थिति भी निम्न-लिखित है :—

प्रथम-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के अवयवों में क्रिया की उत्पत्ति ।

द्वितीय-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के अवयवों का परस्पर-विभाग,

(आ) 'क' तन्तु में क्रिया की उत्पत्ति[४] ।

---

१. इस विभाग की उत्पत्ति 'ख' तन्तु में उत्पन्न क्रिया से सम्पन्न 'क' तन्तु तथा 'ख' तन्तु के परस्पर-विभाग से नहीं होती है, क्योंकि आश्रय-नाश के कारण पूर्वक्षण में ही वह विभाग नष्ट हो चुका है । अतः इसकी उत्पत्ति, अङ्गुली-वृक्ष-विभाग से हस्त-वृक्ष-विभाग की तरह, 'तृतीय-क्षण' में संकेतित 'ख' तन्तु के 'क' तन्तु के अवयवों के साथ सम्पन्न विभाग से होती है ।

२. यह नाश 'क' तन्तु के अवयव के उत्तर-देश-संयोग (जो पूर्व-क्षण में उत्पन्न हो चुका है) से होता है ।

३. यही उत्तर-देश-संयोग 'ख' तन्तु-समवेत क्रिया का विनाश अग्रिम-क्षण (= नवम-क्षण) में कर देगा ।

इस प्रक्रिया का विशेष-विवरण प्रशस्त-पाद-भाष्य में देखना चाहिए ।

४. प्रथम प्रक्रिया में इस क्षण में 'ख' तन्तु में क्रिया की उत्पत्ति बतलाई गई थी किन्तु इस प्रक्रिया में 'क' तन्तु में ही क्रिया कही गई है । अतः दोनों प्रक्रियाओं का अन्तर स्पष्ट है ।

एक बात और भी देखनी है कि 'क' तन्तु का विनाश अभी नहीं हुआ है, उसका विनाश तो चतुर्थ-क्षण में होने वाला है । अतः अभी—द्वितीय-क्षण में—'क' तन्तु में क्रिया की उत्पत्ति अनुपपन्न नहीं है ।

तृतीय-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के आरम्भक-संयोग का नाश,

(आ) 'क' तन्तु की क्रिया से 'क' तन्तु का 'ख' तन्तु से विभाग।

चतुर्थ-क्षण :—

(अ) आरम्भक-संयोग के पूर्व-क्षण में नष्ट हो जाने से 'क' तन्तु का विनाश,

(आ) 'क' तन्तु तथा 'ख' तन्तु से निर्मित द्वितन्तुक के आरम्भक संयोग का विनाश।

पञ्चम-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के विनाश से 'क' तन्तु तथा तथा 'ख' तन्तु के विभाग का नाश[1],

(आ) 'क' तन्तु के सक्रिय अवयव का पूर्व-प्रदेश से [2]विभाग,

(इ) अपने आश्रय 'क' तन्तु तथा अपने आरम्भक-संयोग, इन दोनों के नाश से द्वितन्तुक का नाश।

षष्ठ-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के सक्रिय अवयवों के पूर्व-देश-संयोग का नाश।

सप्तम-क्षण :—

(अ) 'क' तन्तु के सक्रिय अवयवों का उत्तर-देश से संयोग।

अष्टम-क्षण :—

(अ) उपर्युक्त उत्तर-देश-संयोग से 'क' तन्तु के अवयव में समवेत विभाग तथा क्रिया का नाश।

ये दोनों ही प्रक्रियाएँ समान-जातीय तत्वों के संयोग से बने द्रव्य के अवयव में क्रिया की उत्पत्ति से उत्पन्न विभाग के नाश का विवरण प्रस्तुत करती हैं।

द्रव्याऽनारम्भक विजातीय-द्रव्य-संयोग के स्थल में विभाग का नाश उत्तर-देश-संयोग तथा आश्रय-नाश से होता है। इस प्रक्रिया का विवरण निम्न-लिखित है :—

---

१. यही आश्रय-नाश से विभाग-नाश की प्रक्रिया प्रतिपाद्य है। 'क' तन्तु में समवेत क्रिया का भी यहीं आश्रय-नाश से नाश समझना चाहिए।

२. इस विभाग का असमवायि-कारण है द्वितीय-क्षण में उत्पन्न 'क' तन्त्ववयवों का विभाग। अतः यह भी विभागज-विभाग है।

प्रथम-क्षण :—

(अ) तन्तु-वीरण-संयोग-स्थल में तन्तु के अवयव में क्रिया की उत्पत्ति,

(आ) वीरण में भी क्रिया की उत्पत्ति।

द्वितीय-क्षण :—

(अ) तन्तु के अवयवों का परस्पर-विभाग,

(आ) वीरण की क्रिया से तन्तु तथा आकाश से[1] वीरण का विभाग।

तृतीय-क्षण :—

(अ) तन्त्ववयव-विभाग से तन्त्वारम्भक संयोग का विनाश,

(आ) वीरण-तन्तु-विभाग तथा वीरण-आकाश-विभाग से क्रमशः वीरण-तन्तु-संयोग तथा वीरण-आकाश-संयोग का नाश।

चतुर्थ-क्षण :—

(आ) आरम्भक-संयोग के विनाश से तन्तु का नाश,

(आ) वीरण का उत्तर-देश से संयोग।

पञ्चम-क्षण :—

(अ) आश्रय—तन्तु—के विनाश से तथा वीरण के उत्तर-देश-संयोग से तन्तु-वीरण-विभाग का, और वीरण के उत्तर-देश-संयोग से वीरण-आकाश-विभाग तथा वीरण-क्रिया का विनाश,

(आ) तन्त्ववयव का पूर्व-देश से विभाग।

षष्ठ-क्षण :—

(अ) तन्त्ववयव के पूर्व-देश के साथ वर्त्तमान संयोग का नाश।

सप्तम-क्षण :—

(अ) तन्त्ववयव का उत्तर-देश-संयोग।

अष्टम-क्षण :—

(अ) तन्त्ववयव-समवेत-विभाग तथा तत्समवेत क्रिया का उत्तर-देश-संयोग से नाश।

इन प्रक्रियाओं से अतिरिक्त भी कुछ प्रकियाएँ परिस्थिति-विशेष में

१. दोनों ही विभाग—तन्तु-वीरण विभाग (वीरण=एक प्रकार से संग्रथित तृणसमूह) तथा वीरण-आकाश-विभाग—द्रव्यारम्भक-संयोगाऽविरोधी हैं। अतः एक ही वीरण-क्रिया से दोनों की उत्पत्ति हो सकती है। प्रारम्भ में जो विरोध बतलाया गया है वह द्रव्यारम्भक-संयोग-विरोधी विभाग और द्रव्यारम्भक-संयोगाऽविरोधी विभाग में ही (अर्थात् इन दोनों प्रकार के विभागों का एक ही क्रिया से उत्पत्ति नहीं सम्भावित है)।

सम्भावित हैं। उन प्रक्रियाओं के विषय में स्वयम् ऊह करना चाहिए तथा अन्यान्य-ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। यहाँ सभी प्रकियाओं का विवरण तो असम्भव सा है।[1]

(१०-११) परत्व तथा अपरत्व

'सः अस्मात् परः' 'अयम् तस्मात् अपरः' इत्यादि प्रतीति के कारण जो गुण होते हैं उन्हें क्रमशः परत्व तथा अपरत्व कहा जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं :—दैशिक-परत्वाऽपरत्व तथा कालिक-परत्वाऽपरत्व।

(१) दैशिक-परत्व-अपरत्व की उत्पत्ति

एक ही दिशा में अवस्थित द्रव्यद्वय के विषय में 'सः अस्मात् विप्रकृष्टः' इस अपेक्षा-बुद्धि-रूप निमित्त-कारण से दिक्-प्रदेश तथा द्रव्य में वर्त्तमान परस्पर-संयोग-स्वरूप असमवायि-कारण से द्रव्य में परत्व की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार 'अयं तस्मात् सन्निकृष्टः' इस अपेक्षा-बुद्धि से अपरत्व की उत्पत्ति होती है।

अपेक्षा-बुद्धि में प्रयुक्त 'विप्रकृष्ट' शब्द तथा 'सन्निकृष्ट' शब्द का अर्थ है क्रमशः परत्वाधार-द्रव्य-संयुक्त-भू-प्रदेश-संयोग का भूयस्त्व तथा अल्पत्व। इसको समझने के लिए निम्न-निर्दिष्ट चित्र देखना चाहिए :—

(क) संयुक्त-संयोग-भूयस्त्व का उदाहरण:—

'अ' (परत्व-ज्ञाता) } संयोग—१
संयोग—२ { भू-प्रदेश—१
भू-प्रदेश—२ } संयोग—३
संयोग—४ { भू-प्रदेश—३
भू-प्रदेश—४ } संयोग—५
संयोग—६ { भू-प्रदेश—५
'क' (परत्वाश्रय-द्रव्य)

(ख) संयुक्त-संयोगाल्पीयस्त्व का उदाहरण:—

'अ' (अपरत्व-ज्ञाता) } संयोग—१
संयोग—२ { भू-प्रदेश—१
भू-प्रदेश—२ } संयोग—३
संयोग—४ { भू-प्रदेश—३
'प' (अपरत्वाश्रय-द्रव्य)

---

१. वैशेषिक-दर्शन में विभाजग-विभाग की प्रकिया वैशेषिक-दर्शन-पाण्डित्य का निकष है। यहाँ आकर-ग्रन्थों के आधार पर मैंने यथा-मति सभी प्रकियाओं का संक्षेप में विवरण किया है। किसी भी त्रुटि को सङ्केतित करनेवाले अनुग्राहक विद्वान् का मैं चिर-ऋणी रहूँगा।

उपर्युल्लिखित संयोग-विवरण से यह स्पष्ट है कि 'अ' तथा 'क' के बीच संयुक्त-संयोग के भूयस्त्व की सत्ता है जब कि 'अ' तथा 'प' के बीच सयुक्त-संयोग का अल्पत्व है। अतः प्रथम स्थान में संयुक्त-संयोग-भूयस्त्व-जन्य विप्रकृष्ट-बुद्धि (= 'अ' इत्यतः 'क' इति विप्रकृष्टः) होती है जिसको निमित्त मानकर 'क' में परत्व की उत्पत्ति अथ च ' 'अ' इत्यस्मात् 'क' इति परः' इस प्रकार की प्रतीति होती है और द्वितीय स्थान में संयोग के अल्पत्व के कारण संजात सन्निकृष्ट-बुद्धि (= 'अ' इत्यस्मात् 'प' इति सान्नकृष्टः) को निमित्त मानकर 'प' में अपरत्व की उत्पत्ति और तदनन्तर ' 'अ' इत्यतः 'प' इति अपरः' इस प्रतीति की उपपत्ति होती है।

उपर्युक्त प्रकार से ही कालिक-परत्व तथा कालिक अपरत्व की उत्पत्ति समझनी चाहिए, अन्तर इतना ही होगा कि भू-प्रदेश-संयोग के स्थान में कालोपाधि[1]-द्रव्य-संयोग आदि का निर्देश तथा तदनुसार अपेक्षा-बुद्धियों के निम्न-लिखित स्वरूप होंगे :—

"अयम् तस्मात् अल्पतर-कालोपाधि सम्बद्धः" । (अपरत्व)
"सः अस्मात् बहुतर-कालोपाधि-सम्बद्धः" । (परत्व)

परत्व तथा अपरत्व का नाश सात प्रकार से हो सकता है। इन प्रकारों का निर्देश कणाद-रहस्य में उद्धृत निम्न-लिखित श्लोक में किया गया है :—

"अपेक्षा-बुद्धि-संयोग-द्रव्यसंयोग-नाशनात्।
पृथक् द्वाभ्यां च सर्वेभ्यो विनाशः सप्तधाऽनयोः[2] ॥"

नीचे सभी प्रकारों का विवरण क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) अपेक्षा-बुद्धि-विनाश-जन्य परत्व-नाश

प्रथम-क्षण :—

(क) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति,
(ख) परत्व-गुण की उत्पद्यमानता।

द्वितीय-क्षण :—

(क) परत्व की उत्पत्ति,
(ख) परत्वत्व-ज्ञान की उत्पद्यमानता।

तृतीय-क्षण :—

(क) परत्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति,

१. इसीको दूसरे शब्द में 'दिवाकर-परिस्पन्द' कहा जाता है।
२. क० र०, पृ० ८८।

(ख) अपेक्षा-बुद्धि की विनश्यत्ता[1],
(ग) परत्व-ज्ञान की उत्पद्यमानता।

चतुर्थ-क्षण :—
(क) अपेक्षा-बुद्धि का विनाश,
(ख) परत्व-ज्ञान की उत्पत्ति,
(ग) परत्वत्व-ज्ञान की विनश्यत्ता,
(घ) परत्व-गुण की विनश्यत्ता,
(ङ) गुण-विशिष्ट-द्रव्य-ज्ञान की उत्पद्यमानता।

पञ्चम-क्षण :—
(क) द्रव्य-ज्ञान की उत्पत्ति,
(ख) परत्वत्व-ज्ञान का विनाश,
(ग) परत्व-ज्ञान की विनश्यत्ता,
(घ) परत्व-गुण का विनाश[2]।

यहाँ पञ्चम-क्षण में परत्व-गुण का जो नाश हुआ है वह अकारण तो हो नहीं सकता। अतः कारण के रूप में पूर्व-क्षण में सम्पन्न 'अपेक्षा-बुद्धि-विनाश' से अतिरिक्त कारणान्तर की अनुपलब्धि होने से अपेक्षा-बुद्धि-विनाश को ही उस परत्व-गुण-नाश का कारण माना जाता है।

(२) परत्वासमवायि-कारणीभूत दिक्-पिण्ड-संयोग के विनाश से परत्व का विनाश

प्रथम-क्षण :—
(क) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति,
(ख) परत्व-गुण की उत्पद्यमानता,
(ग) परत्वाधार-पिण्ड में कर्म की उत्पत्ति।

द्वितीय-क्षण :—
(क) परत्व-गुण की उत्पत्ति,
(ख) परत्वाश्रय-पिण्ड का दिक्प्रदेश से विभाग।

---

१. परत्वत्व-ज्ञान ही अपेक्षा-ज्ञान का विनाशक तथा विशेषण-ज्ञान होने के कारण विशेष्य-ज्ञान (= गुण-ज्ञान) का उत्पादक है। अत एव इस क्षण में अपेक्षा-बुद्धि की विनश्यत्ता तथा गुण-ज्ञान की उत्पद्यमानता मानी गई है।

२. इसके उत्तर-क्षण में द्रव्य-ज्ञान से संस्कार की उत्पत्ति और उसके उत्तर-क्षण में द्रव्य-ज्ञान का नाश आदि समझना चाहिए।

तृतीय-क्षण :—

(क) परत्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति,
(ख) दिक् तथा परत्वाश्रय-पिण्ड के संयोग का नाश,
(ग) अपेक्षा-बुद्धि की विनश्यत्ता,
(घ) परत्व-ज्ञान की उत्पद्यमानता,
(ङ) परत्व-गुण की विनश्यत्ता।

चतुर्थ-क्षण :—

(क) परत्व-ज्ञान की उत्पत्ति,
(ख) अपेक्षा-बुद्धि का नाश,
(ग) परत्व-गुण का नाश[1]।

यह परत्व-नाश अपेक्षा-बुद्धि-नाश से जन्य नहीं हो सकता है, क्योंकि इन दोनों में पौर्वपर्य नहीं अपि तु सह-भावित्व है। अतः इस परत्व-नाश का कारण पूर्व-क्षण-सम्पन्न परत्वासमवायि-कारणीभूत-दिक्-पिण्ड-संयोग का विनाश ही हो सकता है।

(३) परत्वाधार द्रव्य के विनाश से परत्व का विनाश

प्रथम-क्षण :—

(क) परत्वाधार-द्रव्य के अवयव में द्रव्यारम्भक-संयोग-विरोधी विभाग के उत्पादक क्रिया की उत्पत्ति।

द्वितीय-क्षण :—

(क) द्रव्यारम्भकावयवद्वय-विभाग,
(ख) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति।

तृतीय-क्षण :—

(क) द्रव्यारम्भक-संयोग-विनाश,
(ख) परत्व-गुण की उत्पत्ति।

चतुर्थ-क्षण :—

(क) द्रव्य-विनाश,
(ख) परत्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति।

---

१. यद्यपि द्रव्य-ज्ञान के उत्पादन से पूर्व ही विनष्ट इस परत्व की उत्पत्ति से प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती है, तथापि "कारण-सामर्थ्य-भावी कार्योत्पादः न प्रयोजनापेक्षः" के आधार पर इस परत्व की भी उत्पत्ति का विवेचन तथा इसके विनाश का प्रदर्शन किया गया है।

पञ्चम-क्षण :—

(क) अपेक्षा-बुद्धि-विनाश,

(ख) परत्व-गुण-नाश,[1]

(ग) परत्व-ज्ञान की उत्पत्ति ।

यह परत्व-नाश अपेक्षा-बुद्धि-नाश-जन्य तो नहीं हो सकता है, क्योंकि कार्य-कारण-नियत पौर्वापर्य्य का इन दोनों में अभाव है । अतः परिशेषात् समवायिकारणीभूत द्रव्य-विनाश—जिसके साथ परत्व-नाश का पौर्वापर्य्य वर्त्तमान है—से ही परत्व का नाश माना जाता है ।

(४) परत्व के समवायि-कारण-द्रव्य के तथा निमित्त-कारण अपेक्षा-बुद्धि के विनाश से परत्व का विनाश

प्रथम-क्षण :—

(क) द्रव्यारम्भक-संयोग-विरोधि-विभागजनक कर्म की द्रव्यावयवों में उत्पत्ति,

(ख) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति ।

द्वितीय-क्षण :—

(क) अवयव-द्वय का विभाग,

(ख) परत्व-गुण की उत्पत्ति ।

तृतीय-क्षण :—

(क) अवयव्यारम्भक-संयोग-नाश,

(ख) परत्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति ।

चतुर्थ-क्षण :—

(क) द्रव्य-नाश,

(ख) अपेक्षा-बुद्धि-विनाश,

(ग) परत्व-गुण-ज्ञान की उत्पत्ति ।

पञ्चम-क्षण :—

(क) परत्व का विनाश[2] ।

यह परत्व-विनाश स्व-पूर्वक्षण-भावी तथा स्वोत्पादनावधृत-सामर्थ्य अपेक्षा-बुद्धि-विनाश एवम् द्रव्य-विनाश इन दोनों से उत्पन्न होता है ।

---

१. यहाँ भी "कारण-सामर्थ्य-भावी कार्योत्पादो न प्रयोजनापेक्षः' को ध्यान में रखना चाहिए ।

२. यहाँ भी "कारण-सामर्थ्य-भावी" आदि न्याय को ध्यान में रखना चाहिए ।

(५) परत्व-समवायि-कारण द्रव्य के तथा परत्वासमवायि-कारण द्रव्य-दिक्-संयोग के विनाश से परत्व का नाश

प्रथम-क्षण :—

(क) द्रव्यावयवों में कर्म की उत्पत्ति ।

द्वितीय-क्षण :—

(क) द्रव्यावयवों का परस्पर-विभाग,

(ख) अवयवि-द्रव्य में कर्म की उत्पत्ति,

(ग) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति ।

तृतीय-क्षण :—

(क) द्रव्यारम्भक-संयोग-नाश,

(ख) दिक्-पिण्ड-विभाग,

(ग) परत्व-गुण की उत्पत्ति ।

चतुर्थ-क्षण :—

(क) द्रव्य-नाश,

(ख) दिक्-पिण्ड-संयोग-नाश,

(ग) परत्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति ।

पञ्चम-क्षण :—

(क) परत्व-गुण का विनाश,

(ख) परत्व-गुण-ज्ञान की उत्पत्ति,

(ग) अपेक्षा-बुद्धि-विनाश ।

यह परत्व-गुण-विनाश स्व-पूर्व-भावी और स्वोत्पादनावधृत-सामर्थ्य द्रव्य-नाश से तथा दिग्-द्रव्य-संयोग-नाश से उत्पन्न होता है । अपेक्षा-बुद्धि-विनाश में गुण-विनाश-पूर्व-कालिकत्व नहीं होने से उसके साथ कार्य-कारण-भाव की सम्भावना नहीं है ।

(६) अपेक्षा-बुद्धि-विनाश से तथा दिक्-पिण्ड-संयोग-नाश से परत्व का नाश

प्रथम-क्षण :—

(क) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति ।

द्वितीय-क्षण :—

(क) परत्व की उत्पत्ति,

(ख) अवयवि-द्रव्य में क्रिया की उत्पत्ति ।

तृतीय-क्षणः—

(क) परत्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति,

(ख) अवयवि-द्रव्य का दिक् से विभाग।

चतुर्थ-क्षणः—

(क) अपेक्षा-बुद्धि-नाश,

(ख) दिक्-पिण्ड-संयोग-नाश।

पञ्चम-क्षणः—

(क) परत्व-नाश।

यह परत्व-नाश पूर्वक्षणोत्पन्न तथा स्वोत्पादनावधृत-सामर्थ्य अपेक्षा-बुद्धि-नाश से तथा दिक्-पिण्ड-संयोग-नाश से उत्पन्न होता है।

(७) द्रव्य-नाश, द्रव्य-दिक्-संयोग-नाश तथा अपेक्षा-बुद्धि-नाश से परत्व का नाश

प्रथम-क्षणः—

(क) अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति,

(ख) अवयव्यारम्भक द्रव्य में क्रिया की उत्पत्ति।

द्वितीय-क्षणः—

(क) परत्व-गुण की उत्पत्ति,

(ख) अवयव-द्रव्य में परस्पर-विभाग,

(ग) अवयवि-द्रव्य में क्रिया की उत्पत्ति।

तृतीय-क्षणः—

(क) परत्वत्व-ज्ञान की उत्पत्ति,

(ख) अवयव्यारम्भक-संयोग-नाश,

(ग) द्रव्य-दिग्-विभाग।

चतुर्थ क्षणः—

(क) अपेक्षा-बुद्धि-विनाश,

(ख) द्रव्य-विनाश,

(ग) द्रव्य-दिक्-संयोग-विनाश,

(घ) परत्व-ज्ञान की उत्पत्ति।

पञ्चम-क्षणः—

(क) परत्व-विनाश।

यह परत्व-विनाश स्व-पूर्व-क्षणोत्पन्न और स्वोत्पादनावधृत-सामर्थ्य द्रव्य-विनाश, अपेक्षा-बुद्धि-विनाश तथा द्रव्य-दिक्-संयोग-नाश से उत्पन्न होता है।

इन सात प्रक्रियाओं में प्रथम-प्रक्रिया तो सार्व-कालिक है, परन्तु शेष छः प्रक्रियाएँ परिस्थिति-विशेष-सापेक्ष हैं, क्योंकि तत्तत् क्षण में अवयवि-द्रव्य में क्रिया की उत्पत्ति अथवा अवयव-द्रव्य में क्रिया की उत्पत्ति आदि नियत नहीं हैं। यही कारण है कि मुक्तावली आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में केवल अपेक्षा-बुद्धि-नाश से परत्व का नाश बतलाया गया है।

इसी प्रकार, दैशिक अपरत्व, कालिक-परत्व तथा कालिक अपरत्व के विनाश का भी क्रम समझना चाहिए। कालिक-परत्वाऽपरत्व के विनाश के क्रम में अन्तर यह है कि दैशिक-परत्व आदि के विनाश में दिक्-प्रदेश (= उपाधि) से द्रव्य का विभाग आदि होता है, जब कि कालिक परत्वादि-विनाश के क्रम में काल-प्रदेश (= क्षण) से विभागादि की स्थिति होती है।

(१२) गुरुत्व (Weight)

पृथिवी तथा जल[1] के पतन में प्रयोजक जो अप्रत्यक्ष गुण है उसी उसी का नाम गुरुत्व है। यद्यपि पृथिवी तथा जल में रस भी रहता है तथापि रस पतन का कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि वैसा मान लेने पर "कारण-विशेषात् कार्य-विशेषः" के सिद्धान्त के अनुसार, रस-भूयस्त्व-सम्पन्न आम्र-फलादि में पतनातिशय और रसाल्पत्व-सम्पन्न पाषाणादि पदार्थों में पतनातिशयाभाव मानना होगा जो अनुभव-विरुद्ध है। अतः रस को पतन का कारण नहीं माना जा सकता है। रूपादिगुणों में पतन-कारणत्व का अभाव तो साधारण अनुभव से भी सिद्ध है। यद्यपि वेग नामका संस्कार भी पतन का कारण होता है तथापि [2]आद्यपतन में वेग कारण नहीं हो सकता है। अत एव गुरुत्व का स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रसङ्ग में कारण का अर्थ असमवायिकारण समझना चाहिए।

यह गुरुत्व गुण प्रत्यक्ष नहीं है। कुछ लोग त्वगिन्द्रिय से इसका प्रत्यक्ष मानते हैं। उन लोगों का कथन है कि जब हम घट को हाथ से उठाते हैं तो उस समय उसके गुरुत्व का भी त्वगिन्द्रिय से ग्रहण होता ही है। अतः त्वगिन्द्रिय-प्रत्यक्ष-विषयता गुरुत्व में सिद्ध है। परन्तु ऐसा मानने पर तो पृथ्वी पर पड़े हुए घट के साथ त्वगिन्द्रिय के सम्बन्ध होने पर भी घट के गुरुत्व का

---

१. वै० सू० ५।१।७; ५।२।३।

२. स्वसमानाधिकरण-स्वप्रतियोगिक-ध्वंसाऽसमान-कालिकत्वम् आद्यत्वम्। (स्व = पतन)

या साक्षात् पृथिवी से ही[1] त्वगिन्द्रिय के सम्बन्ध होने पर पृथिवी के गुरुत्व का भी त्वाच-प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए, परन्तु होता नहीं है। अतः मानना होगा कि गुरुत्व में त्वगिन्द्रिय-ग्राह्यता नहीं है। हाथ में उठाये हुए घट आदि के गुरुत्व का भी प्रत्यक्ष नही होता है अपि तु गुरुत्व के कारण हाथ का जो उचित[2] अवनमन होता है उससे उसका अनुमान होता है—यही मानना चाहिए।

संयोग, वेग तथा प्रयत्न ये तीन गुण गुरुत्व के (कार्य = पतन, के उत्पादन में) विरोधी होते हैं। अश्व पर आरूढ मनुष्य का पतन अश्व-संयोग के कारण ही नहीं होता है। वृन्त (Foot-stalk) से फल का पतन वृन्त-फल-संयोग के कारण ही नहीं होता है। धनुर्निक्षिप्त शरका कुछ क्षण तक जो पतन नहीं होता है वह वेग के कारण। इसी तरह आकाश में उड़ते पक्षी का प्रयत्न के कारण ही पतन नहीं होता है। परन्तु उपर्युक्त कारण के अभाव होने पर गुरुत्व अपने कार्य—पतन—को अवश्य ही उत्पन्न करता है।

यह गुरुत्व परमाणु में नित्य तथा अनित्य पृथिवी एवम् अनित्य जल में अनित्य (= कारण-गुण-पूर्वक) होता है; और आश्रय-नाश से नष्ट होता है।

(१३) द्रवत्व (Liquidity)

स्यन्दन (Oozing) का असमवायि-कारण गुण द्रवत्व[3] कहलाता है। यह गुण पृथिवी, जल तथा तेज में वर्त्तमान है। यह गुण दो प्रकार का होता है—नैमित्तक (अग्नि-संयोग-रूप निमित्त से जन्य) तथा सांसिद्धिक (= स्वाभाविक)। पृथिवी तथा तेज का द्रवत्व तेजः-संयोग[4] और अग्नि-संयोग[5] से उत्पन्न होने के कारण नैमित्तिक कहलाता है। परन्तु जल का द्रवत्व सांसिद्धिक है। कभी कभी दिव्य-तेजः-संयोग से जल का द्रवत्व प्रतिबद्ध भी होता है।[6] अवयवि-द्रव्य में नैमित्तिक-द्रवत्व की उत्पत्ति तो पाक-प्रक्रिया के पश्चात् अवयवि-द्रव्य की उत्पत्ति के द्वितीय-क्षण में होती है।

जल परमाणु में यह द्रवत्व नित्य होता है, अन्यत्र अनित्य।

(१४) स्नेह (Oiliness)

परस्पर असंयुक्त सक्तु आदि द्रव्यों के संयोग-विशेष (= पिण्डी-भाव =

१. व्योम०, पृ० ६२९।
२. न्या० क०, पृ० १४०।
३. वै० सू० ५।२।४।
४. वै० सू० २।१।६।
५. वै० सू० २।१।७।
६. वै० सू० ५।२।८; न्या० क०, पृ० १४४-४५।

To make into a Lump) का प्रयोजक गुण स्नेह है। यह जल-मात्र में रहता है। तैल में सम्प्राप्त स्नेह भी जलीय ही है किन्तु वह अपकृष्ट नहीं है अपि तु उत्कृष्ट है, अतः दाह का प्रयोजक होता है। इससे इस प्रश्न—जल के अग्नि-प्रतिरोधी होने के कारण जलीय स्नेह भी अग्नि-प्रतिरोधी होगा, अतः अग्नि-सहकारी तैल-स्नेह जलीय नहीं है, क्योंकि उसमें जलीय-स्नेह का वैधर्म्य (= अग्नि-सहकारित्व) है—का समाधान हो जाता है। जलीय-स्नेह का अपकृष्ट प्रकार ही अग्नि का विरोधी है, उत्कृष्ट प्रकार नहीं। तैल-गत जलीय-स्नेह उत्कृष्ट प्रकार का होता है, अतः वह अग्नि का विरोधी नहीं होता है। इस स्नेह में उत्कर्ष का प्रयोजक अदृष्टादि के साथ-साथ पृथिवी-संयोग भी है।

यह स्नेह जल-परमाणु में नित्य तथा स्थूल-जल में अनित्य होता है।

(१५) शब्द

श्रोत्र के द्वारा गृह्यमाण गुण शब्द है। यह शब्द द्रव्य है, गुण नहीं—ऐसा मीमांसक-प्रवर कुमारिल भट्ट का मत[१] है। उनका अभ्युपगम है कि शब्द[२] नित्य है, अतएव उसकी उत्पत्ति नहीं होती है अपि तु संयोग आदि निमित्त-कारणों से उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः शब्द के विषय में यह प्रश्न नहीं हो सकता है कि द्रव्य की उत्पत्ति अनेक समवायि-कारणों से होती है और शब्द की उत्पत्ति में समवायि-कारण होता है एक आकाश, अतः द्रव्य-धर्म (अनेक-द्रव्य-समवेतत्व) के अभाव होने से शब्द को द्रव्य नहीं माना जा सकता है। शब्द नित्य द्रव्य है, इसलिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती है। अतः उसके समवायि-कारण का प्रश्न अनुचित है। शब्द के नित्यत्व में मुख्यतः तीन प्रमाण दिए गए हैं :—

(क) यदि शब्द को नित्य न माना जाय प्रत्युत क्षणिक मान लिया

---

१. पृथिवी सलिलं तेजः पवमानः (= वायुः) तमस्तथा।
व्योम-काल-दिगात्मानो मनः शब्द इति क्रमात्॥
एकादश-विधं चैतत् कुमारिल-मते मतम्। मा० मे०, पृ० १५१।

२. मीमांसक के मत मे ध्वन्यात्मक शब्द को नित्य माना जाता है। वैयाकरण लोग स्फोटात्मक शब्द को नित्य मानते हैं, वैखरी को तो अनित्य ही मानते हैं। अतएव "परः सन्निकर्षः संहिता" के भाष्य में "उच्चरित-प्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्", और "तेन-प्रोक्तम्" सूत्र के भाष्य में "या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा त्वनित्या" आदि कहा गया है। अतः वैखरी के अनित्यत्व में न्याय-वैशेषिक तथा व्याकरण-सम्प्रदाय में ऐकमत्य है। स्फोट को तो नैयायिक आदि नहीं मानते (द्र० न्या० म० देखिये—पृ० ३४४-३५५, (भा० १) ।

जाय तो गुरूक्त शब्द उच्चारणानन्तर शिष्य-श्रवण के पूर्व ही नष्ट हो जाएगा; एवञ्च अध्यापन में गुरु की और अध्ययन में शिष्य की प्रवृत्ति नही हो पाएगी, क्योंकि गुरु की प्रवृत्ति का प्रयोजन है अपने शब्द का शिष्य द्वारा ग्रहण और शिष्य की (अध्ययन में) प्रवृत्ति का प्रयोजन है गुरूपदिष्ट शब्दों का श्रवण। यदि शब्द क्षणिक हो तो दो में से किसी के प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकेगी, फलतः दोनों में से किसी की प्रवृत्ति भी नही हो पाएगी।

(ख) श्रुति में "त्रिः प्रथमामन्वाह" कहा गया है। यदि शब्द क्षणिक हो तो 'प्रथमाम्' की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। अतः शब्द को नित्य मानना चाहिए।

(ग) "सोऽयं ककारः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञा से भी शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है।

संक्षेप में मीमांसकों का मत यह है :—शब्द नित्य-द्रव्य है। अतः उसमें उपन्न-द्रव्य-मात्र में वर्त्तमान अनेक-द्रव्य-समवायि-कारणकत्व के अभाव होने से भी कोई आपत्ति नहीं है। जहाँ तक शब्द की उत्पत्ति की प्रतीति है वह तो भ्रान्त है, क्योंकि उपर्युक्त रीति से शब्द के नित्यत्व के सिद्ध हो जाने पर उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः शब्द की अभिव्यक्ति माननी चाहिए।

इसके विपरीत वैशेषिक-सम्प्रदाय का कथन है कि नित्य अतएव अभिव्यज्यमान पदार्थ यदि एक-देशावस्थित तथा एकेन्द्रिय-ग्राह्य होता है तो उसमें एक-व्यञ्जक-व्यङ्ग्यत्व का नियम होता है। एक आकाश-देश में वर्त्तमान और त्वगिन्द्रिय-मात्र-ग्राह्य शब्द भी यदि नित्य होगा तो उसमें भी एक-व्यञ्जक-व्यङ्ग्यत्व होना चाहिए। परन्तु यह स्थिति शब्द में नहीं है, कभी अभिघा-ताख्य-संयोग से, कभी विभाग से तो कभी शब्द से ही शब्द की अभिव्यक्ति होने के कारण शब्द में एक-व्यञ्जक-व्यङ्ग्यत्व के अभाव के निश्चित हो जाने पर शब्द की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त समाप्त हो[1] जाता है। अतः शब्द की उत्पत्ति स्थिर हो जाती है। प्रत्यभिज्ञा आदि की उपपत्ति तो सादृश्य के आधार पर माननी चाहिए, अर्थात् एकत्व-प्रत्यभिज्ञान भ्रम है। एवञ्च उत्पद्यमान शब्द समवायि-कारण के विना उत्पन्न ही नही हो सकता है। अतः शब्द के समवायि-कारण के रूप में आकाश को माना जाता है। यह आकाश एक है। अतः शब्द को एक-द्रव्य-समवायि-कारणक मानना होगा। एवञ्च जन्य-द्रव्य-मात्र-नियत अनेक-द्रव्य-समवायि-कारणकत्व के शब्द में अभाव होने से शब्द

---

१. उप० २।२।३०; शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि के लिए उपस्कार-सहित निम्न-लिखित सूत्र द्रष्टव्य हैं :—२।२।२६, २७, २८, २९, ३२ ॥

को द्रव्य[1] कथमपि नही माना जा सकता। चाक्षुष-प्रत्यक्ष के[2] अविषय होने से इसे कर्म (सामान्य आदि) भी नही कह सकते। अतः परिशेषात् शब्द में गुणत्व की सिद्धि होती है।[3]

शब्द की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। इस विषय में सूत्र-कार का कथन है:—"संयोगात् विभागात् [4]शब्दाच्च शब्द-निष्पत्तिः।" इस सूत्र के अर्थ को समझने से पहले यह समझ लेना चाहिए कि शब्द के दो रूप होते हैं:—वर्णात्मक-शब्द तथा ध्वन्यात्मक-शब्द। वर्णात्मक-शब्द की निष्पत्ति संयोग से, अनन्तर पूर्व-पूर्व शब्द से (उत्तरोत्तर शब्द की) होती है। ध्वन्यात्मक-शब्द में आद्य-शब्द संयोगज या विभागज हो सकता है और उत्तरोत्तर-शब्द पूर्व-पूर्व-शब्द-जन्य होगा।

वर्णात्मक-शब्द की उत्पत्ति का प्रकार निम्न-लिखित है :—

पूर्वानुभूत वर्ण की स्मृति की सहायता से आत्मा तथा मन के संयोग से सर्व-प्रथम पूर्वानुभूत-वर्ण-समान वर्णान्तर के उच्चारण की इच्छा होती है। तदनन्तर उस वर्ण के उच्चारण के अनुकूल प्रयत्न की उत्पत्ति आत्मा में होती है। उस प्रयत्न तथा कौष्ठ्य वायु के संयोग से कौष्ठ्य-(उदरस्थ-)वायु में क्रिया की उत्पत्ति होती है। वह सक्रिय कौष्ठ्य-वायु कण्ठादि-उच्चारणस्थान में अभिघात करता है। कौष्ठ्य-वायु तथा उच्चारण-स्थान में जो अभिघात-नाम का संयोग होता है वह उत्पन्न ककारादि वर्ण का निमित्त कारण होता है, और कण्ठादि-उच्चारण-स्थान तथा आकाश का जो संयोग है वह अ-समवायि-कारण होता है। इन दोनों कारणों से आकाश-स्वरूप समवायि-कारण में ककारादि वर्ण की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रथम शब्द की उत्पत्ति संयोग से हो जाने पर उस शब्द से, पूर्व-पूर्व वीची से उत्तरोत्तर वीची की उत्पत्ति के समान, पूर्व-पूर्व वर्ण द्वारा उत्तरोत्तर वर्ण की उत्पत्ति तब तक होती रहती है जब तक निमित्ति-कारण-स्वरूप कौष्ठ्य-वायु की अनुवृत्ति होती[5] रहती है। तदनन्तर अन्तिम-शब्द जिस व्यक्ति के श्रोत्रेन्द्रिय में समवेत हो

१. वै० सू० २।२।२३।
२. वै० सू० २।२।२४।
३. वै० सू० २।२।२५।
४. वै० सू० २।२।३१।
५. न्या० क०, पृ० ६९५। परन्तु यह मत तर्क तक ही सीमित है। आधुनिक-विज्ञान, जिसके कारण अमेरिका का शब्द भी भारत में सुनाई देता है, इस मत का समर्थन नहीं करता है।

जाता है उस व्यक्ति को शब्द का श्रावण-प्रत्यक्ष होता है। जहाँ भेरी-दण्ड के अभिघाताख्य संयोग से या वंश-दल-द्वय-विभाग से ध्वन्यात्मक शब्द की उत्पत्ति होती है वहाँ भी शब्द-सन्तान की यही विधि समझनी चाहिए।

शब्द अनित्य है, अतः उसका नाश आवश्यक है। नाश निमित्त-कारण के बिना नहीं हो सकता है। शब्द के नाश में निमित्त-कारण उत्तर-शब्द ही है, क्योंकि निमित्तान्तर की उपलब्धि नहीं होती है। इसलिए शब्द को क्षणिक, अर्थात् तृतीय-क्षण-वृत्ति-ध्वंस-प्रतियोगी-माना जाता है। इस तरह यह स्प-है कि प्रथम तथा मध्यम (चाहे मध्य में जितने भी शब्द हों) शब्दों का नाश तो स्वोत्तर-कालिक स्वजन्य शब्द से ही होता है, परन्तु अन्तिम शब्द (जिसके बाद शब्द-सन्तान की अनुवृत्ति नहीं होती है) तो उत्तर-शब्द-नाश्य नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके अनन्तर शब्द ही नहीं है। अतः उसका नाश उपान्त्य-शब्द-नाश के कारण ही माना जाता है। इस प्रक्रिया को नीचे के चित्र में देखा जा सकता है :—

प्र०-क्षण	द्वि०-क्षण	तृ०-क्षण	च०-क्षण	प०-क्षण	ष०-क्षण
'क' शब्दोत्पत्ति,	'क' शब्द-स्थिति	'ख' शब्द-स्थिति	'ग' शब्द-स्थिति	'घ' शब्द-स्थिति	
	'ख' शब्दोत्पत्ति	'क' शब्दनाश 'ग'शब्दोत्परि (उपान्त्य-शब्द)	'ख' शब्दनाश 'घ'शब्दोत्पत्ति (अन्त्यशब्द)	'ग' शब्द-नाश	'घ' शब्द-नाश

षष्ठ अध्याय

(१६) बुद्धि

बुद्धि का लक्षण उदयनाचार्य ने इस प्रकार किया है :—"यस्मिन् सति आत्मनि जानामीति अनुव्यवसायो भवति सा बुद्धिः[1] ।" यह बुद्धि साधारणतः दो प्रकार की मानी गई है:—विद्या तथा अविद्या । विद्या का अर्थ है यथार्थ-ज्ञान तथा अविद्या का अर्थ है अयथार्थ-ज्ञान ।

अविद्या[2] के चार प्रकार हैं:—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्न ।

संशय

एक ही धर्मी में परस्पर-विरुद्ध-धर्मद्वय-प्रकारक-ज्ञान को संशय[3] कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि एक धर्मी में परस्पर-विरुद्ध दो धर्मों की सत्ता तो असम्भव है, परन्तु (संशय-प्रयोजक परिस्थिति में) यदि एक ही पदार्थ में परस्पर-विरुद्ध दो धर्मों का एक ही साथ ज्ञान हो (अर्थात् एक ही ज्ञान के विषय यदि दो विरुद्ध-धर्म हो) तो उस अनिश्चायक परस्पर-विरुद्ध-पक्षोल्लेखि-ज्ञान को संशय कहा जाता है । परस्पर-विरुद्ध धर्मों का स्पष्ट उल्लेख होना ही चाहिए संशय में, यदि स्पष्ट उल्लेख नहीं है तब तो उस ज्ञान को अनध्यवसाय कहा जायगा । उदाहरणार्थ, हम "अयं स्थाणुः, पुरुषो वा ?" इस ज्ञान को ले सकते

---

१. किर०, पृ० ५१० (ए० सो०)

२. प्रशस्त-पाद ने विद्या के विभाजन से पूर्व अविद्या का ही विभाग किया है । अतः यहाँ भी वही प्रक्रिया अपनाई गई है । विद्या से पूर्व अविद्या के विभाजन में हेतु का विवरण भिन्न-भिन्न है :—

क्रमाऽति-क्रमेण अविद्यायाः स्वरूप-निरुपणम् अर्थ-प्रकाशस्य विवक्षितत्वात् ; तदुच्छेद्यत्वज्ञापनार्थमिति चान्ये—व्योम०, पृ० ५३३ ।

लघु-प्रतिपत्तित्वात् (धर्म्यंशे सर्व-ज्ञानानां यथार्थतया ज्ञान-मात्र-व्यापकत्वेन विद्यायाः गुरु-प्रतिपत्तिकत्वेन सूची-कटाहन्यायेन अविद्यायाः) प्रथमं विभागमाह—किर०, पृ० ५१२ (ए० सो०) ।

अत्र प्रतिपादन-मात्रस्य विवक्षितत्वात् पश्चादुद्दिष्टामप्यविद्याम् प्रथमं कथयति—न्या० क०, पृ० ४१४ ।

३. संशय तथा विपर्यय में परस्पर भेद के लिए द्रष्टव्य—न्या० म०, पृ० ८४—८५ (भा० १) ।

हैं। वैशेषिक-दृष्टि से स्थाणु का अर्थ है स्थाणुत्व-धर्मवान् , और इसी प्रकार पुरुष का अर्थ है पुरुषत्ववान् । एवञ्च स्पष्ट है कि 'अयं स्थाणुः पुरुषः वा ?' इस वाक्य से 'अयम्' इस पद से सङ्केतित पदार्थ में स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व के सम्बन्ध का अवगम होता है। परन्तु यह भी निश्चित है कि स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं, क्योंकि दोनों में सामानाधिकरण्य (एक-पदार्थ-वृत्तित्व) नहीं है। अतः एक ही पदार्थ (= धर्मी) में परस्पर-विरुद्ध स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व के सम्बन्ध को विषय बनानेवाला "अयम् स्थाणुः पुरुषो वा ?" यह ज्ञान संशय है।

अब हमे संशय-प्रयोजक तत्त्व का भी अवगम करना चाहिए। स्वयम् सूत्र-कार ने इसका निरूपण करते हुए कहा है :—

"सामान्य-प्रत्यक्षात् विशेषाऽप्रत्यक्षात् विशेष-स्मृतेश्च संशयः[१]।"

प्रस्तुत उदाहरण (स्थाणुः पुरुषो वा अयम् ?) को दृष्टि में रखकर इस सूत्र का आशय इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :—

(क) सामान्य-प्रत्यक्षात् = सामान्य धर्म, अर्थात् स्थाणु तथा पुरुष इन दोनों के साधारण धर्म[२] का प्रत्यक्ष धर्मी के प्रत्यक्ष के विना नहीं हो सकता है। अतः सामान्य-प्रत्यक्ष शब्द से लक्षणा (मत्वर्थ-लक्षणा) से सामान्य-धर्म-युक्त पुरोऽवस्थित धर्मी के प्रत्यक्ष की प्रतीति होती हैं। दूसरी बात यह भी है कि सामान्य-धर्मावच्छिन्न धर्मी के ज्ञान के बाद विशेषधर्मावच्छिन्न धर्मी के विषय में संशय होता[३] है। अतः यदि धर्मी का प्रत्यक्ष नहीं माना जाय केवल धर्म का ही प्रत्यक्ष माना जाय तब तो विशेषधर्मावच्छिन्न धर्मी के विषय में संशय नहीं हो सकेगा, क्योंकि धर्म और धर्मी में भेद है। इसकी स्पष्टता उद्योतकराचार्य की निम्न-लिखित पंक्ति से होती है:—

"यदिदमुच्यते समान-धर्मोपपत्तेः संशयः इति, तदयुक्तम् , (संशयस्य) धर्मि-विषयत्वात् । न हि समाने धर्मे उपलब्धे धर्मिणि संशयो युक्तः, धर्म-धर्मिणोः भेदात् । न हि गवि दृष्टे अश्वे संशयः"।[४]

इस पक्ष में वाचस्पति-मिश्र, उदयनाचार्य तथा व्योमशिवाचार्य आदि का ऐकमत्य है। परन्तु न्याय-भूषण-कार भासर्वज्ञ के अनुसार समान-धर्म-युक्त धर्मी का ज्ञान धर्मि-विषयक संशय के लिए अपेक्षित नहीं होता है। धर्म के ज्ञान

१. वै० सू० २।२।१७।
२. न्या० क०, पृ० ४१९।
३. न्या० क०, पृ० ४२०
४. न्या० वा०, पृ० ९७ (न्या. सू. १।१।२३)

से भी धर्मी में संशय हो सकता है। इस पक्ष में न्या०[1] वा० में जो दोष दिया गया था उसका समाधान भी न्याय-भूषण में किया गया था, जिसका सङ्केत न्याय-सार की व्याख्या में अपरार्क ने[2] किया है :—"अथ अर्थान्तरस्य समान-धर्मादेः दर्शनात् अर्थान्तरे धर्मिणि कथं संशयः, न ह्यस्वोपलम्भाद् गवि सम्भवी संशयः ?

समान-धर्मिणो दृष्टेर्धर्मिणस्तत्र संशयः ।
विशेष-विषयो युक्त इति केषाञ्चिदुत्तरम् ॥
अवोचदयमाचार्यस्त्वन्यथा "न्याय-भूषणे" ।
अर्थान्तरस्य भेदेऽपि हेतुः कश्चन कस्य-चित् ॥
सहकारी च नियतो भवेत्तन्तु-पटादिवत् ।
तस्मान्न दूषणं किञ्चिदिति सर्वमनाविलम् ॥"

वस्तुतः किसी भी पदार्थ के ज्ञान के अभाव में उसके विषय में संशय होता ही नहीं है। संशय के लिए यह अपेक्षित होता है कि संशय-विषयीभूत पदार्थ का साधारण ज्ञान पहले ही हो जाय। अतः धर्मी के विषय में होने वाले संशय में भी यह मानना ही होगा कि उस धर्मी का पहले साधारण-ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार, साधारण-धर्म-ज्ञान भी विशेष (कोटि-द्वय) के अनुस्मरण के द्वारा ही संशय का प्रयोजक होता है। अतः वह भी संशय से पहले अपेक्षित है। एवञ्च साधारण-धर्म तथा तद्विशिष्ट-धर्मी, इन दोनों का ज्ञान संशय में आवश्यक सिद्ध होता है। अब यहाँ दो पक्ष हो सकते हैं :—

(क) साधारण-धर्म तथा तद्विशिष्ट-धर्मी में एक-ज्ञान-विषयत्व अथवा समान-ज्ञान-विषयत्व; और,

(ख) यथा-स्थल एकाऽनेक-ज्ञान-विषयत्व अथवा समानाऽसमान-ज्ञान-विषयत्व।

प्रायशः उद्योतकर तथा शङ्कर-मिश्र प्रभृति आचार्य प्रथम पक्ष को मानते हैं। अतएव शङ्कर मिश्र का निम्न-लिखित कथन भी है :—

"अदृश्यमान-धर्मिको यथा—अरण्ये झाटाद्यन्तरिते गो-गवयादि-पिण्डे विषाण-मात्र-दर्शनात् अयं गौः गवयो वेति (एतच्च प्रशस्त-पादोक्तम्)। वस्तुतः तत्राऽपि विषाण-धर्मिक एव सन्देहः—विषाणम् इदं गो-सम्बन्धि गवय-सम्बन्धि वा इति। विवक्षा-मात्रात्तु द्वैविध्याऽभिधानम्[3] ॥"

परन्तु प्रशस्त-पाद तथा भासर्वज्ञ आदि दूसरे पक्ष के अनुयायी हैं।

१. न्या० वा०, पृ० ९८।

२. न्या० मु०, पृ० १६ (मद्रास)।

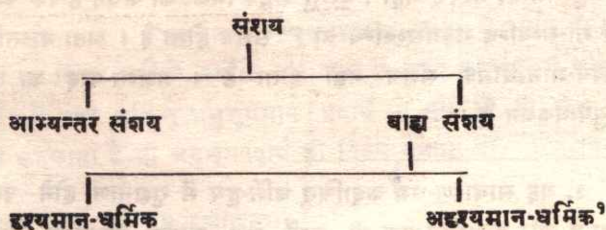
३. उप० २।२।१८।

(ख) विशेषाऽप्रत्यक्षात्=विशेष, अर्थात् परस्पर व्यावर्त्तक धर्म [जैसेः— पुरुष से स्थाणु को व्यावृत्त करनेवाला है कोटर (Hollow of a tree) आदि, और स्थाणु से पुरुष का व्यावर्त्तक धर्म है शिर-पाद-पाणि आदि] के अनुपलम्भ, अर्थात् ज्ञानाभाव से। तात्पर्य यह है कि विशेष-दर्शन संशय का निवर्तक होता है। अतः यदि विशेष-दर्शन होगा तब तो संशय की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है। संशय के कारणों में प्रतिबन्धकाभाव-स्वरूप कारण है विशेषदर्शनाऽभाव।

(ग) विशेष-स्मृतेः = कोटि-द्वय (स्थाणुत्व एवम् पुरुषत्व) की स्मृति से (संशय होता है)। इस स्मृति के मूल-भूत संस्कार का उद्‌बोध समान-धर्म-ज्ञान से ही होता है। परन्तु सर्वत्र कोटि-द्वय का स्मरण ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं है—यह शङ्कर मिश्र आदि का मत है।

उपर्युक्त विवरण का सारांश यह है :—जब प्रमाता इन्द्रियार्थ-संयोग आदि ज्ञान-कारण की सहायता से स्थाणु तथा पुरुष में समान रूप से रहने वाले ऊर्ध्वत्व आदि धर्म से युक्त पुरोऽवस्थित धर्मी का प्रत्यक्ष करता है, परन्तु किसी कारण से स्थाणु तथा पुरुष को परस्पर-व्यावृत्त करनेवाले कोटर-प्रभृति तथा हस्तादि विशेषों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता है और उपर्युक्त सामान्य-धर्म-दर्शन आदि से उपोद्‌बलित परस्पर-विरुद्ध-कोटि-द्वय-विषयक संस्कार से कोटि-द्वय का स्मरण करता है तब उसे पुरोवस्थित धर्मी के विषय में संशय होता है कि यह स्थाणु है अथवा पुरुष, क्योंकि कोटि-द्वय (स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व) में परस्पर विरोध होने के कारण प्रमाता यह भी निर्णय नहीं कर सकता कि पुरःस्थित पदार्थ में दोनों धर्म वर्तमान हैं और स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व के सहचारी ऊर्ध्वत्व आदि धर्मों की सत्ता के निश्चित होने के कारण एकतर कोटि के अभाव का भी निर्णय नहीं कर पाता है।

वैशेषिक-सम्प्रदाय के अनुसार संशय के निम्न-लिखित भेद माने जाते हैं :—



१. बाह्य-संशय का यह विभाजन प्रशस्त-पाद के अनुसार है, शङ्कर मिश्र आदि के अनुसार नहीं।

(क) आभ्यन्तर संशय

किसी ज्योतिषो ने एक बार ग्रह-सञ्चार आदि साधारण निमित्त को देख कर भविष्य-वाणी की कि सूर्य-ग्रहण होगा और वह भविष्य-वाणी सत्य हुई। पुनः कालान्तर में समान ग्रह-सञ्चारादि साधारण-निमित्त को देख कर भविष्य-वाणी की कि सूर्य-ग्रहण होगा, परन्तु वह भविष्य-वाणी असत्य हुई। अब तृतीय बार पुनः समान-ग्रह-सञ्चारादि साधारण-निमित्त के आने पर भविष्य-वाणी करते समय उस ज्योतिषी को अपने ज्ञान के विषय में संशय होगा कि उसका वह ज्ञान—जिसके आधार पर वह भविष्य-ग्रहण का उपदेश दे रहा है—सत्य है या असत्य। आभ्यन्तर-पदार्थ-विषयक होने के कारण यह संशय 'आभ्यन्तर-संशय' कहलाता है।

(ख) बाह्य-संशय

(अ) दृश्यमान-धर्मिक संशयः—

जहाँ साधारण[1]-धर्म-युक्त धर्मी के प्रत्यक्ष के पश्चात् विशेषधर्मावच्छिन्न धर्मी के विषय में संशय होता है उस संशय को दृश्यमान-धर्मिक संशय कहा जाता है। जैसेः—स्थाणु तथा पुरुष में रहने वाले ऊर्ध्वत्व, आदि (साधारण-धर्म) से युक्त पुरोवर्ती धर्मी के प्रत्यक्ष हो जाने पर विशेषाऽप्रत्यक्ष तथा विशेष-स्मरण के होने से "स्थाणुः पुरुषः वा ?" यह दृश्यमान-धर्मिक बाह्य संशय होता है।

(आ) अदृश्यमान-धर्मिक संशयः—

निकुञ्ज में निलीन गवय के शृङ्ग (Horn) आदि गो-साधारण-धर्म को कथञ्चित् देख कर धर्मी के विषय में संशय होता है—"अयं गौः गवयो वा ?" यह संशय अदृश्यमान-धर्मिक इस लिए है कि इसका धर्मी—पशु—शृंगादि-दर्शन से अनुमित है, प्रत्यक्ष नहीं। परन्तु शङ्कर मिश्र का कथन है कि यहाँ भी "इदं शृङ्गं गो-सम्बन्धि गवयसम्बन्धि वा ?" संशय होता है। अतः वास्तविक दृष्टि से अदृश्य-मान-धर्मिक संशय नहीं होता है। प्रशस्त-पाद का प्रतिपादन अभ्युपेत्यकथन है।

---

१. यह साधारण-धर्म कदाचित् धर्मि-द्वय में गृह्यमाण होने पर संशायक होता है और कदाचित् एक ही धर्मी में। क्रमशः उदाहरण हैंः—"स्थाणुः पुरुषो वा ?", "चैत्रः केशवान् तदभाववान् वा ?"। विशेष विवरण के लिए सोपस्कार वै० सू० २।२।१८–१९ द्रष्टव्य हैं।

विपर्यय (Error)

विपर्यय का लक्षण न्याय-वार्त्तिक में निम्नलिखित रूप में किया गया है :—

"कः पुनरयम् विपर्ययः ? अतस्मिंस्तदिति[1] प्रत्ययः ।" इसका स्पष्ट उदाहरण है शुक्ति (Nacre) में रजत का निश्चयात्मक ज्ञान । इसी विपर्यय को मिथ्याज्ञान,[2] अध्यास[3] आदि शब्दों से कहा जाता है । 'इदं रजतम्' इस ज्ञान में इदंपद-बोध्य पुरोऽवस्थित शुक्ति में रजतत्व के सम्बन्ध का ज्ञान होता है । अतः इसे "तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम्" शब्द से भी अभिहित किया जाता है । यहाँ रजतत्वाभावविशिष्ट शुक्ति में रजतत्व-प्रकारक ज्ञान होता है, अतः यह विपर्यय है । परन्तु इस ज्ञान के बाद जब रजतार्थी व्यक्ति की उसके आहरण के लिए प्रवृत्ति होती है और अन्त में प्रवृत्ति विफल हो जाती है तब पूर्व-ज्ञान (शुक्तिमे इदं रजतम्—ज्ञान) में विपर्ययत्व का ग्रहण होता है, पहले नहीं—इस विषय का विवरण प्रामाण्यवाद के प्रकरण में किया किया जायगा ।

विपर्यय होने का प्रकार निम्न-लिखित है :—जिस प्रकार पुरोऽवस्थित धर्मी में ऊर्ध्वत्व आदि साधारण धर्म के ग्रहण होने पर स्थाणु तथा पुरुष में वर्तमान परस्पर-व्यावर्तक (एकतर-पक्ष-निश्चायक) धर्म के अग्रहण तथा साधारणधर्म-दर्शन एवम् अदृष्ट आदि के कारण विशेष (= कोटि-द्वय) के स्मरण से संशय होता है उसी प्रकार पुरोऽवस्थित पदार्थ (शुक्ति) में चाकचिक्य आदि साधारण-धर्म के ग्रहण होने पर एकतर-पक्ष-निश्चायक विशेष के अग्रहण तथा अदृष्टादि के कारण एकतर विशेष (रजतत्व) के स्मरण से विपर्यय होता है—'इदं रजतम्' । संशय में कोटि-द्वय का स्मरण होता है, परन्तु विपर्यय में एक ही कोटि का—यही संशय तथा विपर्यय में प्रधान अन्तर है । संशय-स्थल में कोटि-द्वय-स्मरण तथा विपर्यय-स्थल में एकतर-कोटि-स्मरण का नियामक तो फल-बल-कल्प्य तदनुकूल अदृष्ट ही हो सकता है और विशेषाग्रहण में कारण इन्द्रिय-दोष होता है । "इदं रजतम्" इत्याकारक ज्ञान में प्रतिभासमान रजत स्मृति का विषय नहीं है, क्योंकि इस ज्ञान में रजत का स्फुरण अनुभूत पदार्थ के रूप में नहीं अपि तु अनुभूयमान पदार्थ के रूप में ही होता है । स्मरण वही कहलाता है जो अनुभूतपदार्थ को विषय बनाता हो, अनुभूयमान

---

१. न्या० वा०, पृ० २४ (चौखम्बा)

२. विपर्ययो मिथ्या-ज्ञानम् अतद्रूप-प्रतिष्ठम्—यो० सू० १।८ ॥

३. अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः (अध्यास-भाष्य)

पदार्थ को विषय बनानेवाला ज्ञान तो अनुभव ही होगा। अतः 'इदं रजतम्' यह ज्ञान अनुभवात्मक ही है, स्मृत्यात्मक नहीं। एवञ्च यह स्पष्ट होता है कि शुक्ति का रजत के रूप में ग्रहण दोष-युक्त चक्षु के द्वारा होता है। इसी को 'अन्यथा-ख्याति' (अन्यस्य = शुक्त्यादेः, अन्यथा=रजतादिरूपेण, ख्यातिः= ज्ञानम्) या 'विपरीत-ख्याति' कहा जाता है।

भ्रम के प्रकार के विषय में विभिन्न मत प्रचलित हैं, जिनका निर्देश निम्न-लिखित श्लोकों में मिलता है :—

"आत्म-ख्यातिरसत्-ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथाऽनिर्वचन-ख्यातिरित्येतत् ख्याति-पञ्चकम् ॥
योगाचाराः माध्यमिकाः तथा प्राभाकरा अपि ।
नैयायिका मायिनश्च ख्यातीरेताः क्रमाज्जगुः ॥"

ख्यात्यन्तर-निरास-पूर्वक अन्यथा-ख्याति-व्यवस्थापन के लिए जिज्ञासु-व्यक्तियों को ग्रन्थान्तर[1] का अवलोकन करना चाहिए। न्याय-मञ्जरी का भी अन्यथा-ख्याति-विवरण प्रशस्त है।

अनध्यवसाय

इसका लक्षण निम्नलिखित है :—

"विशेष-संज्ञोल्लेख-शून्यम् किं नामायम् इति ज्ञानम् अनध्यवसायः।" तात्पर्य यह है कि सभी पदार्थों के दो रूप होते हैं:—सामान्य तथा विशेष। जहाँ सामान्य स्वरूप का ज्ञान (अध्यवसाय) होता रहता है परन्तु विशेष-स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है, वही ज्ञान अनध्यवसाय है।

भासर्वज्ञ तथा शिवादित्य मिश्र आदि के अनुसार, अनध्यवसाय अनवधारणात्मक होने से संशय से पृथक् नहीं है। वे लोग स्थूल दृष्टि से "अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः" अथवा "जिज्ञासा-जनकं ज्ञानं संशयः" कहकर अनध्यवसाय तथा संशय को पृथक् नहीं मानते हैं। परन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करने पर तो अनध्यवसाय तथा संशय में अन्तर स्पष्ट है। संशय में अनेक कोटियों का विशेषतः उल्लेख रहता है, जैसेः—"स्थाणुः पुरुषो वा ?" इत्यादि स्थल में; परन्तु अनध्यवसाय में अनेक कोटियों के सामान्यतः 'किम्'-शब्द से उल्लेख

---

१. न्या० म०, पृ० १६१–१७२ (भा० १); न्या० वा० ता० टी०, पृ०८५–९१, न्या० मु०, पृ० २६–६२। ख्यातियों के विवरण के लिए अध्यासभाष्य-भामती भी द्रष्टव्य है।

होने पर भी विशेषतः उल्लेख[1] नहीं होता है।[2] यद्यपि दोनों के कारण में भी[3] अन्तर है तथापि वह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है।

इसका उदाहरण है :—"किं नामाऽयम् वृक्षः ?" कोई व्यक्ति एक वृक्ष (जो वस्तुतः कटहल, का वृक्ष है) को देखता है। उसे देखने पर उस व्यक्ति को उस वृक्ष के विषय में यह एक द्रव्य है, यह एक पार्थिव पदार्थ है, यह एक वृक्ष है इत्यादि सामान्य-विषयक तो यथार्थ-ज्ञान ही होता है; और उस वृक्ष में रहनेवाली पनसत्व जाति का भी निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष होता है। परन्तु निर्विकल्प ज्ञान के अतीन्द्रिय होने से उसका (पनस-ज्ञानानुव्यवसायानपेक्ष) अनुव्यवसाय (= पनसत्व-ज्ञानवानहम्) नहीं होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उसे उस वृक्ष में रहनेवाले द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, वृक्षत्व तथा पनसत्व का ज्ञान, अथवा स्पष्टता के लिए यह कहा जा सकता है कि 'पनस'[4] को छोड़कर उस वृक्ष के अन्य सभी स्वरूपों का परिज्ञान होता ही है। परन्तु किसी कारण से 'यह पनस है' यह ज्ञान नहीं हो पाता है। अतः उसे अनध्यवसाय होता है—"किमिदम् ?" परन्तु इसे अध्यवसायाभाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि 'किमिदम् ?' इस प्रतीति में भावरूपता का अनुभव[5] स्पष्ट है।

इस ज्ञान में अनिश्चयत्व होने से [6]व्यवहाराऽनिर्वाहकत्व-प्रयुक्त अविद्यात्व रहता है, परन्तु यह भ्रम[7] नहीं है।

स्वप्न (Dream)

निद्रा से उद्भ्रान्त अतः-करण से उत्पन्न अनुभवात्मक-ज्ञान स्वप्न है। योगज-धर्म से रहित अन्तःकरण का अदृष्ट-जन्य निरिन्द्रिय-प्रदेशावस्थान ही निद्रा है। विश्राम के लिए मन का अदृष्टादि के कारण 'मनोवह' अथवा

---

१. स० प०, पृ० ७७, कि० प्र०, पृ० ५२४।

२. इस मत (दोनों को पृथक् माननेवाले मत) में जिज्ञासा संशय-कारणक नहीं, अपि तु निश्चय-भिन्न-ज्ञान-कारणक मानी जाती है।

३. न्या० क०, पृ० ४३६; क० र०, पृ० १२१—१२२।

४. पनस = कटहल।

५. व्योम०, पृ० ५४७, किर०, पृ० ५२५।

६. न्या० क०, पृ० ४३७।

७. कि० प्र०, पृ० ५२५।

'स्वप्न-वह' नाड़ी में अवस्थान हो जाता है। तदनन्तर मन का बहिरिन्द्रिय[1] से सम्बन्ध छूट जाता है। यह स्वप्नज्ञान अनर्थज होने से अविद्या है।

यह स्वप्न तीन प्रकार से होता है :—संस्कार की पटुता से जन्य, धातु-दोष-जन्य तथा अदृष्ट-जन्य। कामी पुरुष जिस युवती का साभिनिवेश चिन्तन करते-करते सो जाता है उस युवती का स्वाप्नज्ञान संस्कार-पाटव-जन्य है। धातु का अर्थ है कफ, पित्त तथा वात। समुद्र-सन्तरणादि का स्वप्न कफ-दोष-जन्य है; तेजः-सम्बन्धि-स्वप्न पित्त-दोष से एवम् आकाश-पर्यटन, विश्व-परिभ्रमण आदि का स्वप्न वायु-दोष से उत्पन्न होता है। स्वानुभूत अथवा स्वाननुभूत एवम् प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध विषयों का जो शुभाऽऽवेदक तथा अशुभाऽऽवेदक स्वप्न होता है वह क्रमशः धर्म तथा अधर्म (अदृष्ट) से जन्य स्वप्न है। शुभावेदक गजारोहणादि-विषयक स्वप्न धर्म से एवम् अशुभाऽऽवेदक तैलाभ्यञ्जनादि-विषयक स्वप्न अधर्म से होता है—यह तात्पर्य है।

वस्तुतः तीनों ही प्रकार के स्वप्न में तीनों कारण (संस्कार-पाटव, धातु-दोष तथा अदृष्ट) की सत्ता तो रहती ही है। केवल गुण-प्रधान-भाव में तारतम्य होता है।[2] शिवादित्य के अनुसार स्वप्न विपर्यय ही है।[3]

एक स्वप्नान्तिक ज्ञान भी होता है। इसका अर्थ यह है कि स्वप्न में अनुभूत पदार्थ का स्वप्न में ही स्मरण। अतः यह स्मरण-ज्ञान ही है, पृथक् कोई ज्ञान-प्रकार नहीं।[4]

वस्तुतः अविद्या के भेद में अयथार्थ-स्मृति का भी पृथक् परिगणन करना चाहिए।

विद्या

न्याय-वैशेषिक दर्शन में प्रविविक्षु छात्रों में साधारणतः यह धारणा बनी रहती है कि यथार्थ-शब्द तथा प्रमा-शब्द पर्याय हैं। परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। यथार्थ-शब्द का अर्थ व्यापक है और प्रमा-शब्द का अर्थ सङ्कुचित। यथार्थ-शब्द के अर्थ की परिधि में स्मृति भी आती है जब कि प्रमा के अन्तर्गत नहीं। अतः यह विषय सर्वदा ध्यान मे रखना चाहिए। प्रस्तुत विद्या-शब्द भी यथार्थ-ज्ञान

१. त्वगिन्द्रियातिरिक्त बहिरिन्द्रिय विवक्षित है, क्योंकि जब त्वगिन्द्रिय से भी अन्तः-करण असम्पृक्त हो जाता है, तब तो सुषुप्ति की अवस्था मानी जाती है। द्रष्टव्य—क० र०, पृ० १२०।

२. उप० ९।२।७।

३. स० प०, पृ० ३३।

४. उप० ९।२।८।

का ही पर्याय है। परन्तु प्रमा भी यथार्थ ज्ञानान्तर्गत है, अतः प्रमा के लिए भी यथार्थ-शब्द या विद्या-शब्द का प्रयोग अशुद्ध नहीं है।

विद्या की परिभाषा सूत्र-कारने स्वयम् की है :—"अदुष्टम्[1] विद्या।" जिस वस्तु का जो सामान्य तथा विशेष स्वरूप होता है उसका उसी रूप में ज्ञान 'अदोष' शब्द का अर्थ है। अतः "तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानम्" अथवा "तदवृत्त्यप्रकारकं ज्ञानम्" आदि वाक्यों से विद्या का निर्वचन हो सकता है। कुछ लोग विद्या को 'अविद्या-भिन्न ज्ञान' कहते हैं।

विद्या के तीन प्रकार हैं :—प्रत्यक्ष, अनुमिति तथा स्मृति। कुछ लोग 'आर्ष' तथा 'सिद्ध-दर्शन' को भी विद्या के प्रभेद मानते हैं। परन्तु वृत्तिकार के अनुसार ये दोनों योगि-प्रत्यक्ष के ही[2] स्वरूप-भेद हैं। प्रशस्तपादाचार्य 'आर्ष' को पृथक् प्रकार मानते हैं परन्तु 'सिद्ध-दर्शन' को प्रत्यक्ष तथा अनुमान में ही यथा-सम्भव अन्तर्भावित करते हैं। परन्तु आर्ष-ज्ञान के विषय में वृत्तिकार का मत ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि आर्ष-ज्ञान प्रातिभ, अर्थात् प्रतिभा-जन्य ज्ञान है; और प्रतिभा तो योग-जन्य ऐश्वर्य ही है, जैसा भगवान् पतञ्जलि के "प्रातिभाद्वा सर्वम्" सूत्र से ही स्पष्ट है। अतः आर्ष-ज्ञान को योगि-प्रत्यक्ष से भिन्न मानने की कोई आवश्यकता[3] नहीं है।

उपर्युक्त तीन ज्ञानों में प्रत्यक्ष तथा अनुमिति ही प्रमात्मक ज्ञान हैं। कुछ वैशेषिक शब्द को भी पृथक् प्रमाण तथा शाब्द-ज्ञान को स्वतन्त्र प्रमा मानते हैं, जैसा व्योम-शिवाचार्य के निम्न-लिखित कथन से स्पष्ट है :—

"ननु[4] शाब्द-ज्ञानस्यापि विद्या-रूपत्वात् इहानुपन्यासे किम् प्रयोजनम्? विप्रतिपत्ति-ज्ञापनम् इति। तथा हि शाब्दमनुमानेऽन्तर्भवतीति केचित्। अन्ये तु प्रमाणान्तरमिति वैशेषिकाणाम् विप्रतिपत्तिः, तेन इहाऽनभिधानम्॥"

स्मृति को प्रमा क्यों नहीं माना जाता है—इस विषय का विवेचन स्मृति-प्रकरण में किया जायेगा।

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष-शब्द की व्युत्पत्ति है :—"प्रतिगतम् अक्षम्"॥ "कु-गति-प्रादयः"

---

१. वै० सू० ९।२।१२।

२. उप० ९।१।१३।

३. कुमारिका-ज्ञान भी किसी अलौकिक शक्ति से ही प्रोद्भूत होता है, अतः उसे भी योगि-प्रत्यक्ष कहने में अनौचित्य नहीं प्रतीत होता है।

४. व्योम०, पृ० ५५४।

इस सूत्र से समास हुआ है ।[1] अत एव "द्विगु-प्राप्तापन्नालम्-पूर्वगति-समासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः" इस नियम के अनुसार "परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः" इसका प्रतिषेध होता है, और परिणाम में 'प्रत्यक्षं-ज्ञानम्', 'प्रत्यक्षा बुद्धिः', आदि प्रयोग में प्रत्यक्ष-शब्द में विशेष्यानुरूपलिङ्ग की उपपत्ति होती है । "अक्षमक्षम् प्रतीत्य (प्राप्य) उत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्" यह प्रशस्तदेव आदि का वचन तो अर्थ-कथन-मात्र है, विग्रह नहीं ।

इस प्रसङ्ग में यह विचारणीय है कि प्रत्यक्ष-शब्द का प्रयोग प्रमाण, प्रमा तथा प्रमेय इन तीनों के लिए होता है । प्रमाणार्थक प्रत्यक्ष-शब्द में तो वीप्सा में अव्ययीभाव समास है । विग्रह-वाक्य निम्न-लिखित है :—'अक्षम् अक्षम् प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्' । इसका स्पष्टीकरण न्याय-भाष्य-व्याख्या में किया गया है :—"...वृत्तिः सम्बन्धः[2] (निर्विकल्पक-) बुद्धिर्वा, कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते इति न्यायात् वृत्तमक्षमपि ग्राह्यम् ।" प्रमाण-परक प्रत्यक्ष-शब्द में अव्ययीभाव-समास न्याय-भाष्य-कार, प्रशस्त-पादाचार्य, उद्योतकर तथा वाचस्पति मिश्र का अभिमत है । परन्तु यह ध्यान देना है कि अव्ययी-भाव समास होने पर प्रत्यक्ष-शब्द नित्य-नपुंसक होगा । उदयनाचार्य प्रमाण-वाची प्रत्यक्ष-शब्द को प्रत्यक्ष-ज्ञान-साधक होने के[3] कारण रूढि के आधार पर प्रत्यक्ष-शब्द-वाच्य मानते हैं । इनके मत में 'चक्षुरादिः प्रत्यक्षः' (= प्रत्यक्ष-प्रमा-साधकः) आदि में प्रमाण-परक प्रत्यक्ष-शब्द में विशेष्य-लिङ्गता के उपपादन के लिए अव्ययी-भाव-समास को छोड़कर प्रादि-समास ही मानना चाहिए । यद्यपि प्रादि-समास में प्रमाण-परता की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है तथापि यतः व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही नियमतः प्रवृत्तिनिमित्त नहीं होता है, अतः उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर परिनिष्पन्न प्रत्यक्ष-शब्द को भी उपचार अथवा रूढि-शक्ति के आधार पर प्रमाणार्थक माना जा सकता है । अत एव महा-वैयाकरण कैयट ने भी कहा है :—

१. न्या० भ०, पृ० ८६ (भा० १); न्या० वा०, पृ० २८; न्या० वा० ता० टी, पृ० १०१; व्योम०, पृ० ५५४; किर०, पृ० ५२९–३०; न्या० क०, पृ० ४४४; त० प्र०, पृ० ११८; रस-सार, पृ० १०२–१०३ ।

२. भा० च०, पृ० ५४ ।

३. नह्यत्र प्रत्यक्षम् प्रमाणमधिकृतम्...यदि तदपि...तदा तत्साधनमिति गृह्यताम्—किर०, पृ० ५२१ (ए० सो०), चक्षुरादौ प्रत्यक्ष-शब्दस्य गो-पङ्कजा-दिवत् रूढ्या वृत्त्युपपत्तेः—त० प्र०, पृ० ११८ ।

"(नित्यानां) शब्दानां यथा-कथञ्चित्[1] अन्वाख्यानं कार्यम्, रूढया सर्व-दोष-परिहारः ।"

परन्तु यह मत तभी आवश्यक है यदि प्रमाणार्थक प्रत्यक्ष-शब्द में सर्व-लिङ्गता प्रामाणिक हो । अन्यथा तो अव्ययीभाव समास में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

प्रमा-परक प्रत्यक्ष-पद में सर्व-सिद्ध विशेष्य-लिङ्गता की उपपत्ति के लिए "प्रतिगतम् अक्षम् प्रत्यक्षम्" इस व्युत्पत्ति में प्रादि-समास करना चाहिए। ज्ञान तथा अक्ष में सम्बन्ध के उपपादन के लिए "जन्यत्वेन प्रतिगतम्[2] अक्षम् प्रत्यक्षम्" इस प्रकार से अर्थ करना चाहिए । किन्तु इस अर्थ से भी स्मृति आदि में अति-प्रसक्ति का निवारण नहीं होता है, अतः प्रमाऽर्थक प्रत्यक्ष-पद का भी उपर्युक्त प्रादि-समास से प्रतीयमान अर्थ व्युत्पत्ति-निमित्त है, प्रवृत्ति-निमित्त नहीं । अत एव न्याय-सूत्र-कार के द्वारा प्रत्यक्ष-लक्षण में प्रयुक्त संशयादि-वारक-विशेषण-सार्थक है । इसी रहस्य को स्पष्ट करते हुए तात्पर्य-टीकाकार ने लिखा है :—

"तदिदं प्रत्यक्षमुद्दिष्टमपि सत् प्रमाण-तदाभास-सङ्कीर्णमिति तद्विवेकाय लक्षणमुपयुज्यते । यदि तूद्देश-पदं तद्विवेचयेत्[3] कृतं तर्हि लक्षण-प्रयत्नेन ।"

इसी प्रकार "ज्ञेयतया प्रतिगतमक्षम्" इस व्युत्पत्ति के आधार पर प्रमेय-परता का भी उपपादन करना चाहिए ।

प्रत्यक्ष-प्रमाण

वैशेषिक-सूत्र में किसी भी विषय का क्रम-बद्ध विवरण नहीं-सा है । प्रत्यक्ष की भी यही स्थिति है । तथापि वैशेषिक-सूत्र-कार के अनुसार इन्द्रियार्थ-[4]सन्निकर्ष तथा इन्द्रिय [5]प्रत्यक्ष-प्रमाण-पद-वाच्य हैं । प्रशस्तपाद के प्रत्यक्ष-प्रकरण से सन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक-ज्ञान की प्रतीति प्रत्यक्ष-प्रमाण के रूप में होती है । न्याय-सूत्र में "इन्द्रियार्थ-[6]सन्निकर्ष" शब्द का प्रयोग है ।

---

१. "नृ-नरयोर्वृद्धिश्च" पर कैयट की व्याख्या । व्युत्पत्ति-निमित्त तथा प्रवृत्ति-निमित्त में भेद के लिए "तस्य भावस्त्व-तलौ" इस पाणिनीय-सूत्र का महाभाष्य तथा प्रदीप आदि भी अवश्य अवलोकनीय हैं ।

२. न्या० म०, पृ० ८५ (भा० १) ।

३. न्या० वा० ता० टी०, पृ० १०१ ।

४. वै० सू० ३।१।१८; ३।२।१ आदि ।

५. वै० सू० ४।१।१२ ।

६. न्या० सू० १।१।४ ।

भाष्य [1]तथा वार्त्तिक[2] के अनुसार सन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक-ज्ञान भी प्रत्यक्ष-प्रमाण हैं । तात्पर्य-टीका-[3]कार ने 'वृत्ति' शब्द को व्यापारार्थक मानकर इन्द्रिय को ही प्रत्यक्ष-प्रमाण माना है । भट्ट वादीन्द्र के कथनानुसार[4] किसी मत में केवल इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को और किसी मत में केवल इन्द्रिय को ही प्रत्यक्ष-प्रमाण माना जाता है । उदयनाचार्य[5] तथा विश्वनाथ ने इन्द्रिय को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना है[6] । इस मत का उपपादन "स्वाङ्गमव्यवधायकम्" के सिद्धान्त के[7] आधार पर किया गया है । ज्ञान में प्रत्यक्ष-प्रमाणता का अस्वीकार तो गङ्गेश उपाध्याय ने भी "ज्ञानाऽकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्" शब्द से किया है ।

साधारणतः प्रत्यक्ष-प्रमाण का लक्षण है :—

'प्रत्यक्ष-प्रमा-करणम् प्रत्यक्षम्' । इस लक्षण को समझने से पूर्व हम प्रत्यक्ष-प्रमा को ही समझ लें । प्रत्यक्ष-प्रमा का अर्थ है साक्षात्कारि-ज्ञान, अर्थात् "साक्षात्करोमि" इत्यादि अनुव्यवसाय से प्रसिद्ध साक्षात्कारित्वजात्यवच्छिन्न[8] प्रमा । प्रमा की प्रत्यक्षता में महर्षि गौतम का सूत्र है :—

"ज्ञान-विकल्पानाम् भावाऽभाव-सम्वेदनात् अध्यात्मम्[9] ।"

प्रमाण शब्द के अर्थ में वर्त्तमान करण का अर्थ न्याय-भाष्य-कार आदि के अनुसार "असाधारणं कारणम् करणम्" है जब कि उदयनाचार्य आदि के अनुसार "फलाऽयोग-व्यवच्छिन्न[10] कारणं करणम्" है । उदयनाचार्य ने "फलाऽयोगव्यवच्छेदेन जनकम् कारणं करणम्" यह दूसरा अर्थ भी लौकिक करण की दृष्टि से किया है ।[11] फलायोगव्यवच्छेद-पक्ष में व्यापार की आवश्यकता नहीं

१. न्या० भा० १।१।३ ।

२. न्या० वा०, पृ० २९ ।

३. न्या० वा० ता० टी०, पृ० १०२ ।

४. रस-सार, पृ० १०३-१०४ ।

५. न्या० कु० ३।२० ।

६. कारि० ५८ ।

७. कारि० त० प्र० पृ० १२२ ।

८. कि० प्र०, पृ० ५३०—५३१ ।

९. न्या० सू० ५।१।३१ ।

१०. अयोग-व्यवच्छेदेन सम्बद्धम् । (चक्षुरादीनामपि चरम-सहकारिक्षणे प्रमया अयोग-व्यवच्छेदेन सम्बन्धस्य विद्यमानत्वात्—कु० प्र०, पृ० ४७६) ।

११. कु० प्र०, पृ० ४७७ ।

है। करण तथा प्रमा के बीच कुछ तत्त्व के वर्त्तमान होने पर भी "स्वाङ्गमव्यवधायकम्" के आधार पर अयोग-व्यवच्छेद का विघटन नहीं होता है। किन्तु उदयनाचार्य ने भी किरणावली में "व्यापारवदसाधारणं कारणम् करणम्" का ही समर्थन किया है। इस विषय में जयन्त भट्ट का मत भी अत्यन्त विवेचनीय है।

प्रमा-सम्बन्ध में सामान्य होने पर भी प्रमोत्पत्ति में उपकारातिशय तथा सम्बन्ध-स्वभाव के आधार प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमेय का व्यवहार होता है। इस विषय में विशेष-जिज्ञासुओं को न्या० द० के तृतीय-सूत्र पर न्याय-वार्त्तिक, न्या० वा० तात्पर्य-टीका तथा न्याय-मञ्जरी आदि देखना चाहिए।

प्रत्यक्ष के कारण तथा उसका प्रकार

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है :—बाह्येन्द्रिय-जन्य तथा अन्तरिन्द्रिय-जन्य। बाह्य-प्रत्यक्ष के कारण दो प्रकार के हैं:—साधारण तथा असाधारण। साधारण कारण ये हैं :—आत्ममनः-संयोग, त्वङ्-मनः-संयोग अथवा चर्म-मनः-संयोग,[1] मन-इन्द्रिय-संयोग तथा इन्द्रिय-पदार्थ-सन्निकर्ष। इन चार कारणों में भी प्रथम दो कारण तो ज्ञान-मात्र-साधारण हैं और शेष दो कारण बहिरिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष-मात्र में साधारण कारण हैं।

द्रव्य-प्रत्यक्ष

द्रव्य-विषयक-बाह्य-प्रत्यक्ष में महत्-परिमाणवत्त्व, अनेक-द्रव्यवत्त्व तथा उद्भूत-रूपवत्त्व का सङ्केत तो सूत्र[2]-कारने ही किया है। इन कारणों से अतिरिक्त विषय-प्रकाश-संयोग भी सुवर्णातिरिक्त-तेजोऽतिरिक्त-द्रव्य[3] के चाक्षुष-प्रत्यक्ष में कारण होता है। बहिरिन्द्रिय-जन्य द्रव्य-प्रत्यक्ष की यही स्थिति है।

गुण-प्रत्यक्ष

रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श के प्रत्यक्ष में उद्भूतत्व, अनभिभूतत्व, रूपत्वादिजाति तथा महत्परिमाणवद्द्रव्य-समवेतत्व[4] कारण हैं। गुरुत्व-गुण, प्रशस्त-देव

---

१. द्रष्टव्य—मुक्ता० का० ११५७।

२. वै० सू० ४।१।६–७। नवीन लोग इन सूत्रों में प्रयुक्त उपलब्धि-शब्द को चाक्षुष-प्रत्यक्ष का पर्याय मानकर त्वगिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष में रूप को कारण नहीं मानते हैं। एवञ्च वायु का भी, इन लोगों के मत में, त्वगिन्द्रिय-जन्य-प्रत्यक्ष होता ही है। देखिए—मुक्ता० का० ११५७।

३. इस विषय में अधिक विवरण न्या० सि० म० (पृ० ३७–४०) में दिया गया है।

४. वै० सू० ४।१।८–९।

के अनुसार, अतीन्द्रिय है, परन्तु श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार प्रत्यक्ष है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, वेग—ये गुण उद्भूत-रूपवद्द्रव्य-निष्ठ होने पर चाक्षुष-प्रत्यक्ष एवम् स्पार्शन-प्रत्यक्ष के विषय[1] होते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय-समवेत शब्द श्रावण-प्रत्यक्ष का विषय होता है। आत्म-विशेष-गुण मानस-प्रत्यक्ष-वेद्य होते हैं।

कर्म-प्रत्यक्ष

उद्भूत-रूपवद्द्रव्य-निष्ठ होने पर कर्म का चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं। अतः परमाणु-निष्ठ द्व्यणुकोत्पादनानुकूलादि क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

सामान्य-प्रत्यक्ष

सामान्य का प्रत्यक्ष सामान्यवान् पदार्थ के प्रत्यक्ष पर निर्भर है। अतः प्रत्यक्ष-योग्य-पदार्थ-समवेत सामान्य ही प्रत्यक्ष-विषय होता है। यतः सामान्याश्रय पदार्थों के अन्तर्गत सभी—बाह्य तथा आभ्यन्तर—प्रत्यक्ष के विषय आ जाते हैं अतः सामान्य का सर्वविध प्रत्यक्ष[2] होता है। सामान्य-विशेष (घटत्वादि) का प्रत्यक्ष प्रतिनियत होता है।

सन्निकर्ष

असम्बद्ध पदार्थ का ग्रहण नहीं होता है, अतः अन्वय-व्यतिरेक (सति-सन्निकर्षे ग्रहणम्, सन्निकर्षाभावे ग्रहणाऽभावः) के आधार पर इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष की आवश्यकता सिद्ध है। बौद्ध सम्प्रदाय के अनुसार, चक्षु[3] तथा श्रोत्र (एवम् मन भी) असम्बद्धार्थ-ग्राहक होते हैं। परन्तु न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुसार, कारक (प्रमा-करण) अपने विषय से साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से भी यदि सम्बद्ध न हो तो कार्य कर ही नहीं सकता है। अत एव जयन्त भट्ट का कथन है :—

"कारकं च अ-प्राप्य-कारिचेति चित्रम् !···अ-प्राप्य-कारित्वे च शक्तेर-विशेषात्[4] कुड्यादि-व्यवहितमपि वस्तु चक्षुषा दृश्येत।"

---

१. वै० सू० ४।१।११।

२. वै० सू० ४।१।१३।

३. अ० ध० को० २।४३। इसके उपपादन के लिए न्या० म० टिप्पणी पृ० ५२ (भा० २) द्रष्टव्य है।

४. न्या० म० (भा० २), पृ० ५०।

अतः प्राप्य-कारित्व से सम्पन्न घ्राण आदि की तरह चक्षुरादि में भी, इन्द्रियत्व-सामान्य होने से, प्राप्य-कारित्व का अनुमान होता है।

चक्षुरिन्द्रिय तो सूर्य को भी सङ्क्रान्त कर लेती है, फिर भी तेजोऽन्तर की तरह, प्रतिहत नहीं होती है। यतः सूर्य का प्रत्यक्ष होता है और पूर्व-प्रदर्शित युक्ति से चक्षु में प्राप्य-प्रकाशकत्व भी सिद्ध है, अतः चक्षु कैसे सूर्य से सम्बद्ध होती है तथा कैसे सूर्य-प्रभा से प्रतिहत नहीं होती है—यह प्रश्न ही अनुचित है। अत एव न्याय-सूत्र है :—

"दृष्टानुमितानां[1] हि नियोग-प्रतिषेधाऽनुपपत्तिः प्रमाणस्य तत्त्व-विषयत्वात्" ॥

अत एव जयन्त ने भी कहा है :—

"कार्यं चेदवगम्येत किङ्कारणपरीक्षया ।
कार्यं चेन्नावगम्येत किङ्कारण-परीक्षया[2] ॥"

वैशेषिक-दर्शन के अनुसार भाव-पदार्थ के प्रत्यक्ष में उपयोगी सम्बन्ध पाँच प्रकार के हैं :—संयोग, संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय, समवाय तथा समवेत-समवाय। द्रव्य-प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का पदार्थ के साथ संयोग सम्बन्ध होता है। अतः चक्षु अथवा त्वक् से घटादि द्रव्य के प्रत्यक्ष में संयोग सम्बन्ध है। घट-समवेत नील-रूपादि के चाक्षुष-प्रत्यक्ष में संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष होता है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त है घट, उसमें नील रूप का समवाय है। उस नील रूप में वर्तमान नीलत्व तथा चक्षु के बीच संयुक्त-समवेत-समवाय सम्बन्ध होता है, क्योंकि चक्षु से[3] संयुक्त घट में समवेत नील-रूप में नीलत्व का समवाय है। श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द के प्रत्यक्ष में समवाय सम्बन्ध है, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय आकाश[4] ही है, और शब्द उसका गुण है। शब्दत्व के प्रत्यक्ष में समवेत-समवाय सम्बन्ध है। इसी प्रकार, अन्यत्र भी सम्बन्ध का उपयोग करना चाहिए।

अभाव-प्रत्यक्ष

कुमारिल-भट्ट के अनुयायी मीमांसक अभाव (=अनुपलब्धि) को पृथक् प्रमाण मानते हैं। उनका मत है कि इन्द्रिय में प्राप्य-कारित्व की सिद्धि पूर्वोक्त

१. न्या० सू० ३।१।५३।

२. न्या० म०, पृ० १६७ (भा० १)।

३. "यो गुणो यदिन्द्रिय-ग्राह्यः तन्निष्ठा जातिः तदभावश्च तदिन्द्रियेणैव गृह्यते।"

४. इसका उपपादन ता० टी०, पृ० १०९ में देखें।

युक्ति से निर्बाध है। एवञ्च अभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। मुख्यतः दो ही सम्बन्ध हैं:—संयोग तथा समवाय। संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों के बीच ही होता है। अतः द्रव्य-भिन्न अभाव तथा द्रव्यात्मक इन्द्रिय का सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता है। समवाय-सम्बन्ध भी सम्भव नहीं है, क्योंकि अभाव तथा चक्षुरादि इन्द्रियों में अयुत-सिद्धत्व नहीं है। संयोग तथा समवाय की असम्भावना ही संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय तथा समवेत-समवाय की असम्भावना को प्रमाणित कर देती है। "भूतले घटाऽभावः" और "घटाभाववत् भूतलम्" इन दोनों प्रतीतियों के आधार पर घटाभाव को चक्षुः-संयुक्त-भूतल का विशेषण अथवा विशेष्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि विशेषण-विशेष्य-भाव भी संयोग अथवा समवाय आदि प्रसिद्ध सम्बन्धों पर ही व्यवस्थित होता है। जैसे:—'दण्डी पुरुषः' में दण्ड विशेषण है और पुरुष है विशेष्य, परन्तु यह विशेषण-विशेष्य-भाव दण्ड तथा पुरुष के बीच सम्पन्न संयोग पर आश्रित है। इसी प्रकार 'नीलो घटः' में विशेषण-विशेष्य-भाव समवाय-सम्बन्ध पर निर्भर है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि "यत्र यत्र विशेषण-विशेष्य-भावः तत्र तत्र संयोगादि-सम्बन्धः।" एवञ्च "व्यापक-निवृत्तौ व्याप्य-निवृत्तिः" के अनुसार, भूतल एवं घटाभाव के बीच संयोगादि-सम्बन्ध की व्यावृत्ति तन्निर्भर विशेष्य-विशेषण-भाव की भी व्यावृत्ति कर देती है। दूसरी बात यह है कि विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध के लक्षण—"सम्बधो हि सम्बन्धिभ्याम् भिन्नो द्विष्ठोऽखण्डश्च"—की समन्विति विशेषण-विशेष्य-भाव में[1] नहीं होती है। और भी, चक्षुरादि इन्द्रिय अभाव के प्रतियोगी के प्रत्यक्ष में ही उपक्षीण हो जाती है, अतः उसमें प्रतियोगि-ग्रहण-व्यवहितत्व के कारण अभाव-ग्रहण सामर्थ्य भी नहीं रहता है।

यतः अभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है अतएव अभाव के साथ 'अदर्शन' आदि हेतु की व्याप्ति भी नहीं बन सकती है, क्योंकि व्याप्य तथा व्यापक के ग्रहण होने पर ही व्याप्ति-ग्रहण हो सकता है। अतः भूतल-निष्ठ-घटाभाव को अनुमेय भी नहीं मान सकते हैं। उपमानादि तो वैशेषिक के मत में प्रमाण ही नहीं हैं, फिर उनसे अभावज्ञान की चर्चा तो दूर रही। अतः अभाव-ग्रहण के लिए अनुपलब्धि को पृथक् प्रमाण मानना चाहिए। यह मीमांसकों का अभिप्राय है।

उपर्युक्त पक्ष के उत्तर में वैशेषिकों का कथन है कि अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय में प्राप्य-कारित्व का नियम नहीं है, यह नियम तो केवल भाव-पदार्थ-

---

१. उपपादन के लिए तर्क-भाषा का अभाव-प्रकरण अवलोकनीय है।

विषयक है। अतः चक्षु के द्वारा असम्बद्ध अभाव का भी ग्रहण होगा। सभी सन्निकृष्ट तथा विप्रकृष्ट देशों में वर्तमान अभावों में चक्षु के साथ असम्बद्धत्व की समानता रहने पर भी अव्यवस्था नहीं होगी, क्योंकि अभाव-ग्रहण आश्रय-(भूतलादि-) ग्रहण-[1]सापेक्ष होता है। अतः जहाँ अभावाश्रय का ग्रहण होगा वहीं अभाव भी ग्राह्य होगा, अन्यत्र नहीं।

अथवा जिस अभाव का चक्षु से संयुक्त भूतलादि के साथ विशेषण-भाव होगा वही अभाव प्रत्यक्ष होगा अभावान्तर नहीं। अत एव अभाव के साथ चक्षु का भी स्व-संयुक्त-विशेषणता आदि सम्बन्ध बन ही जाता है।[2] यद्यपि यह विशेषणता "सम्बन्धिभ्याम्भिन्नः" आदि परिभाषा के अनुसार सम्बन्ध-पद-वाच्य नहीं है तथापि विशिष्ट-बुद्धि-नियामक होने के कारण गौण-रूप में सम्बन्ध-पद-वाच्य है। अत एव न्यायकन्दली-कार ने "कश्चित्[3] सम्बन्धः कल्पयिष्यते" कहा है। विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्धान्तर-पूर्वक ही होता है—इस पूर्व-पक्ष के समाधान में जयन्त भट्ट का कथन निम्न-लिखित है :—

"....देशेन सह तावदभावस्य विशेषण[4]-विशेषभावः सम्बन्धः। स तु सम्बन्धान्तर-मूल इति भावेऽयं नियमः, नाऽभावे। न च भावेऽप्येष नियमः—यत्सम्बद्धं तद्विशेषणमेव, पाद-पीडिते शिरसि वा धार्यमाणे दण्डे दण्डीति प्रत्ययाऽनुदयात्। नाप्येवम् यत् विशेषणम् तत्सम्बद्धमेवेति, समवायस्य सत्यपि विशेषणत्वे सम्बन्धान्तराऽभावात्। ([5]नचाऽस्यान्यः समवायः, अनवस्थानात्; न चेन्द्रियेणास्य संयोगः, अद्रव्यत्वात्; नचाऽसम्बद्धस्य ग्रहणम्, इन्द्रियाणाम् प्राप्य-प्रकाश-कारित्व-समर्थनात्...तस्माद्विना सम्बन्धान्तरम् विशेषण-विशेष्य-भाव एषितव्य इति सिद्धम्)...तस्माद्विशेष्य-विशेषण-भाव एव सम्बन्धो देशे भूतलादिना सहाभावस्य सम्बन्धः।"

अभावाधिकरण भूतलादि के प्रत्यक्ष में ही चक्षुरादि की शक्ति उपक्षीण हो जाती है—यह कथन तो अत्यन्त अनुपयुक्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो घट के प्रत्यक्ष में ही उपक्षीण चक्षु के द्वारा घट-गत रूपादि का भी ग्रहण

---

१. न्या० म०, पृ० ४९ (भा० १)।

२. न्या० वा० ता० टी०, पृ० १११। एवञ्च प्राप्य-कारित्व को भाव-मात्र-विषयक मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

३. न्या० क०, पृ० ५४४।

४. न्या० म०, पृ० ५६ (भा० १)।

५. न्या० वा० ता० टी०, पृ० १११।

असम्भव हो जाएगा[1]। दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त रीति से अभाव के विशेषणत्व के उपपन्न हो जाने पर यह स्पष्ट है कि विशेषणीभूत अभाव के ज्ञान के पूर्व विशेष्यभूत भूतल का ज्ञान नहीं होगा—यह व्योम-शिवाचार्य का तर्क है।[2] अतः अभाव का प्रत्यक्ष ही युक्त है। एवञ्च अभाव को प्रमाणान्तर मानने की आवश्यकता नहीं है।

न्याय-सूत्र में जो "शब्दे [3]ऐतिह्यानर्थान्तरभावात् अनुमानेऽर्थापत्ति-सम्भवा-ऽभावाऽनर्थान्तर-भावाच्चाऽप्रतिषेधः" तथा प्रशस्त-पाद के पदार्थ-धर्म-संग्रह में जो "अभावोऽप्यनुमानमेव" कहा गया है वह स्थल-विशेष के अभिप्राय से। तात्पर्य यह है कि जिस अभाव का प्रतियोगी प्रत्यक्ष-योग्य नहीं है उस अभाव का तो प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता है। परन्तु जिस अभाव का प्रतियोगी प्रत्यक्ष-योग्य है उस अभाव का यथा-परिस्थिति[4] प्रत्यक्षादि हो सकता है।

अतः "यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि भूतलवत् दृष्टोऽपि स्यात्" इत्याकारक अनुपलम्भ-सनाथ तर्क से अनुगत होने पर यथा-यथ अभाव का प्रत्यक्ष भी हो[5] सकता है।[6]

अभाव-प्रत्यक्ष का विशद विवेचन 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' के तृतीय-स्तबक में (का० २०–२२) किया गया है। अतः वह अंश अवश्य अवलोकनीय है।

अभाव-प्रत्यक्ष में अपेक्षित विशेषणता भाव-प्रत्यक्ष में वर्णित पञ्च-विध सम्बन्धों में अन्यतम से उपस्कृत होती है। तात्पर्य यह है कि अभाव अपने अनुयोगी अर्थात् अधिकरण में तो स्वरूपतः (सम्बन्धान्तरानपेक्ष) ही विशेषण होता है परन्तु चक्षुरादि इन्द्रिय के साथ उसका सम्बन्ध संयोगादि-सम्बन्धान्य-तम-सम्बन्धगर्भित होता है। "घटाभाववत् भूतलम्" यहाँ अभाव का प्रत्यक्ष चक्षुः-संयुक्त-विशेषणता-सम्बन्ध से होता है (चक्षु में संयुक्त भूतल में अभाव विशेषण होता है)। चक्षुः संयुक्त-(= घटादि-) समवेत नील रूप में पीत रूप

---

१. न्या० वा० ता० टी०, पृ० ११२, न्या० कु० ३।२१, किर०, पृ० ५९८।

२. व्योम० पृ० ५९२।

३. न्या० सू० २।२।२।

४. न्या० म०, पृ० ५०–५१ (आ० १)।

५. देखिए—मुक्ता० का० ११६२।

६. अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में अभाव के अनुयोगी (अभाव के अधिकरण) की प्रत्यक्ष-योग्यता अपेक्षित होती है, परन्तु संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में अभाव के प्रतियोगी (जिसका अभाव होता है) की प्रत्यक्ष-योग्यता आवश्यक है।

का अभाव संयुक्त-समवेत-विशेषणता से प्रत्यक्ष होता है। चक्षुः-संयुक्त-घट-समवेत-नील-समवेत-नीलत्व में पीत-रूप के अभाव का प्रत्यक्ष संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेषणता सम्बन्ध से होता है। श्रोत्र-समवेत शब्द में रूपत्वाभाव का प्रत्यक्ष समवेत-विशेषणता से तथा शब्दत्व में रूपत्वाऽभाव का प्रत्यक्ष समवेत-समवेत-विशेषणता से होता है।

इस विषय में विश्वनाथ का मत है:—"अत्र यद्यपि[1] विशेषणता नानाविधा...तथापि विशेषणतात्वेन रूपेणैकैव सा गण्यते; अन्यथा षोढ़ा सन्निकर्ष इति प्राचाम्प्रवादो व्याहन्येत।"

परन्तु विशेषणता के समान "भूतले घटाऽभावः" इत्यादि-प्रतीति-सिद्ध विशेष्यता का अपलाप नहीं हो सकता है। अतः उपर्युक्त युक्ति से भी "षोढ़ा सन्निकर्षः" की रक्षा कठिन है।

शङ्कर मिश्र का मत कुछ और है :—

"वैशेषिकैस्तु[2] विशेषण-विशेष्य-विषयकं ज्ञानमेव सम्बन्धत्वेन अभिमतम् इति न सम्बन्धाऽऽनन्त्यम्।"

विश्वनाथ की अपेक्षा तो यह मत उत्कृष्ट अवश्य है, परन्तु यह भी निर्विवाद नहीं प्रतीत होता है।

अन्तरिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष

इसी को मानस-प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। आत्मा के योग्य विशेष-गुणों का तथा अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष इसका उदाहरण है।

निर्विकल्पक तथा सविकल्पक

अब तक हम देख चुके हैं कि प्रत्यक्ष, इन्द्रियों के षड्विधत्व के कारण, षड्विध होता है :—चाक्षुष-प्रत्यक्ष, रासन-प्रत्यक्ष, घ्राणज-प्रत्यक्ष, श्रावण-प्रत्यक्ष, स्पार्शन-प्रत्यक्ष तथा मानस-प्रत्यक्ष।

प्रकारान्तर से इस प्रत्यक्ष के दो स्वरूप होते हैं :—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। विकल्प का अर्थ होता है वैशिष्ट्य, अर्थात् दो पदार्थों का परस्पर-सम्बन्ध, अतः निर्विकल्पक का अर्थ होता है पदार्थ का पदार्थान्तर से सम्बन्ध को विषय नहीं बनानेवाला ज्ञान। अतएव इस ज्ञान को "वैशिष्ट्यानवगाहि" अथवा "विशेषण-विशेष्य-सम्बन्धाऽनवगाहि" आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। अभिप्राय यह है कि कोई भी पदार्थ जब तक स्वतन्त्र (पदार्थान्त-

१. मुक्ता० का० ११६२।

२. न्या० ली० क०, पृ० ७२२।

राऽसम्बद्ध) रहता है तब तक वह विशेषण या विशेष्य नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनों ही शब्द सापेक्ष-शब्द हैं। किसी को विशेषण कहने का अर्थ होता है कि उसका विशेष्य कोई पदार्थान्तर है। असम्बद्ध पदार्थ विशेष्य नहीं हो सकता है। यही स्थिति विशेष्य कहने में भी आती है। अतः स्पष्ट है कि जिस ज्ञान में एक पदार्थ का पदार्थान्तर से सम्बन्ध विषय नहीं होता है उस ज्ञान में विशेषण-विशेष्य-भाव या प्रकारता (= विशेषण-भाव = विशेषणता) अथवा विशेष्यता का अवगाहन नहीं हो सकता है। अतः निर्विकल्पक ज्ञान को प्रकारताऽदि-शून्य या विशेषण-विशेष्यभाव-शून्य ज्ञान कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

इस निर्विकल्पक ज्ञान में पदार्थ के सभी स्वरूप—जैसे घट, घटत्व आदि—प्रतिभासित होते हैं। उन स्वरूपों में कुछ तो पदार्थ के विशेष-रूप होते हैं, कुछ सामान्य। परन्तु अनेक पदार्थों में किसी तत्त्व की अनुवृत्ति को देखकर ही उस तत्त्व में सामान्य बुद्धि होती है और व्यावृत्ति को देखकर विशेष-बुद्धि होती है। निर्विकल्पक-ज्ञान के समय पदार्थान्तर के अनुसन्धान[1] के अभाव होने के कारण पदार्थ के स्वरूपों में "यह सामान्य-स्वरूप है और यह विशेष-रूप है" इस प्रकार की विशेष-प्रतिपत्ति नहीं होती है। अतएव श्लोक-वार्त्तिक-कार का भी कथन है :—

"निर्विकल्पक-बोधेऽपि द्व्यात्मकस्याऽपि वस्तुनः।
ग्रहणं लक्षणाऽऽख्येयं ज्ञात्रा शुद्धन्तु गृह्यते॥"

[······ज्ञात्रा पुनः शुद्धमेव अनुवृत्ति-व्यावृत्ति-रहितं गृह्यते; न स्वसाधारण्येन, परेभ्यो व्यक्त्यन्तरेभ्यो व्यावृत्तेरकल्पनात्; तथा व्यक्त्यन्तरानुवृत्तेरकल्पनाच्च न सामान्यमपि गृह्यते—न्याय-रत्नाकर-काराः]

एवञ्च यह स्पष्ट है कि निर्विकल्पक-ज्ञान में भी पदार्थ के दोनों स्वरूप अविविक्त-रूप में प्रतिपन्न होते ही हैं, केवल "इदमस्य सामान्यं रूपम्", "इदमस्य विशेष-स्वरूपम्" इस प्रकार की विविक्त-प्रतिपत्ति नहीं होती है।

यह निर्विकल्पक-ज्ञान यद्यपि निष्प्रकारक होने से[2] प्रत्यक्ष-प्रमाण-सिद्ध नहीं है तथापि सविकल्पक-ज्ञान के आधार पर इसका अनुमान होता है। तात्पर्य यह है कि सविकल्पक-ज्ञान का अर्थ होता है एक पदार्थ का पदार्थान्तर के साथ सम्बन्ध को विषय बनाने वाला ज्ञान। अतएव इसे विशिष्ट-ज्ञान कहा जाता है। विशिष्ट-ज्ञान की उत्पत्ति में विशेषण का ज्ञान कारण होता है।

---

१. न्या० क०, पृ० ४४६-४७।

२. मुक्ता० का० ५८।

जिस व्यक्ति को नील-गुण का ज्ञान नहीं है उसे नील-गुण-युक्त घटादि का ज्ञान कथमपि नहीं होता है। एवञ्च सविकल्पक-ज्ञान—'अयम् घटः' अर्थात् यह घटत्व-विशिष्ट है, क्योंकि घटत्व से हीन कोई भी पदार्थ घट नहीं हो सकता है—अपनी उत्पत्ति में स्व-विषयीभूत घट के विशेषण—घटत्व—के ज्ञान की आवश्यकता रखता ही है। अतः "घटमहं जानामि" इत्याकारक मानस-प्रत्यक्ष से सिद्ध "अयं घटः" यह सविकल्पक-ज्ञान अपने मूल-भूत निर्विकल्पक-ज्ञान का अनुमापक होता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर ही उभय-विध-ज्ञान का विवरण निम्न-लिखित प्रकार से किया जाता है :—

(१) परिभाषा :—"नाम-जात्यादि-योजना-हीनं निर्विकल्पकम्",
स्वरूप :—"इदं किञ्चिदस्ति"।

(ख) परिभाषा :—"नाम-जात्यादि-योजना-सहितं सविकल्पकम्",
स्वरूप :—"अयं घटः", "अयम् पटः", इत्यादि।

प्रत्यक्ष के प्रकरण में अलौकिक-सन्निकर्ष का निरूपण, प्रविविक्षु व्यक्तियों के लिए उसके अनुपयोग के कारण, तथा योगि-प्रत्यक्ष का निरूपण, ऐह-लौकिक व्यवहारानपेक्षित होने के कारण, नहीं किया गया है। विशेष जिज्ञासुओं को न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली, पदार्थ-धर्म-संग्रह आदि देखना चाहिए।

अनुमान

वैशेषिक-मत के अनुसार दूसरा प्रमाण है अनुमान। अनुमान-शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्ति होती है। प्रथम व्युत्पत्ति है:—"अनुमीयते अनेन इति अनुमानम् (कारणाऽधिकरणयोश्चेति करणे ल्युट् प्रत्ययः) प्रमाणम्"। दूसरी व्युत्पत्ति—"अनुमितिः अनुमानम्"—के अनुसार इस अनुमान-शब्द का अर्थ है अनुमित्यात्मक ज्ञान। इस द्वितीय व्युत्पत्ति में "कृत्य-ल्युटो बहुलम्" इस पाणिनीय-सूत्र से भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय किया गया है।

उभयविध अनुमान शब्द में से प्रमाणार्थक (करण-व्युत्पन्न) अनुमान-शब्द का विवरण इस प्रकार है :—

न्याय-भाष्यकार के अनुसार अनुमान का अर्थ है व्याप्ति-ज्ञान, अर्थात् पक्ष-धर्मता-ज्ञानानन्तर-भावी व्याप्ति-स्मरण ही अनुमान है, क्योंकि वही व्याप्ति-स्मरण परामर्श के द्वारा अनुमिति का[1] उत्पादन करता है। श्रीधराचार्य की दृष्टि से[2] प्रशस्तपादाचार्य पक्षधर्मताज्ञान को, उदयनाचार्य की दृष्टि से, परा-

---

१. भा० च०, पृ० ७४।

२. न्या० क०, पृ० ४९१।

मृष्यमाण[1] लिङ्ग को, और व्योम-शिवाचार्य की दृष्टि से, परामर्श को ही[2] अनुमान मानते हैं। हानादि-बुद्धि को यदि फल माना जाय तब तो साध्य-ज्ञान ही अनुमान है। गङ्गेश उपाध्याय ने भी [3]लिङ्ग-परामर्श को अनुमान-प्रमाण माना है। जयन्त भट्ट[4] ने तो लिङ्ग-विषयक ज्ञान, ज्ञान-विषयीभूत लिङ्ग तथा लिङ्गि-ज्ञान (साध्य-ज्ञान) को यथा-स्थल अनुमान माना है। न्याय-वार्त्तिक-कार व्याप्ति-ज्ञान तथा लिङ्ग-परामर्श इन दोनों को, अन्वय-व्यतिरेकानु-विधायी होने के कारण, अनुमान-शब्द-वाच्य मानते हैं, परन्तु दोनों में लिङ्ग-परामर्श की अनुमानता को अधिक उचित समझते हैं, क्योंकि लिङ्ग-परामर्श में [5]फलाऽयोग-व्यवच्छेद है। वाचस्पति मिश्र ने भी इसी का समर्थन किया है।

सभी मतों के मूल में करण-लक्षण में वैमत्य ही है। जो लोग "व्यापार-वद-साधारणं कारणं करणम्" के समर्थक हैं उन्हें तो परामर्श में अनुमानत्व का निराकरण अवश्य करना होगा, परन्तु जो लोग "फलायोग-व्यवच्छिन्नं कारणम् करणम्" मानते हैं उनके लिए परामर्श को अनुमान मानना अधिक उपयुक्त है। परन्तु उदयनाचार्य का मत विचारणीय है, क्योंकि उन्होंने कुसुमाञ्जलि में तो "फलायोग-व्यवच्छिन्नं कारणं करणम्" का प्रतिष्ठापन किया है, जब कि किरणावली में "व्यापारवदसाधारणं कारणंक रणम्" का उपपादन किया है। सम्भवतः ईश्वर में प्रमाणत्व के उपपादन तथा "स्वाङ्गमव्यवधायकम्" के आधार पर लोक-व्यवहार में फलाऽयोग-व्यवच्छेद तथा व्यापारवत्त्व को समन्वित करने के उद्देश्य से ही दोनों ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न लक्षण का समावेश किया गया है। "तदयोग-व्यवच्छेदः प्रामाण्यम् गौतमे नये" में 'गौतमे नये' पर अवधारण करना तो बहुत उचित नहीं प्रतीत होता है। विशेष विचार विद्वज्जन-सापेक्ष है। यहाँ केवल मत-मतान्तरों का उल्लेख किया गया है, उनका विवेचन तत्तत् ग्रन्थों में देखना चाहिए।

उपर्युक्त मतों में अनुमिति-प्रयोजक तत्त्वों के लिए तीन पारिभाषिक शब्दों—

---

१. किर०, पृ० ५४६ (ए० सो०), उपस्कार ९।२।१।

२. व्योम०, पृ० ५६३।

३. त० चि०, पृ० ४३ (ए० सो०) यद्यपि सेतु (पृ० १००) में "अनुमानन्तु व्याप्तिज्ञानमिति चिन्तामणिकृतः" लिखा है तथापि त० चि० के अनुमिति-प्रकरण में यह मत उपलब्ध नहीं होता है।

४. न्या० म०, पृ० १०१ (भा० १)।

५. न्या० वा०, पृ० ४५।

व्याप्ति, पक्ष-धर्मता तथा परामर्श—का प्रयोग किया गया है । अतः यहाँ संक्षेप में तीनों पदार्थों का परिचय देना आवश्यक है :—

व्याप्ति

इस व्याप्ति का विवेचन नव्य-न्याय में अब भी चल रहा है, अतः इसका अत्यन्त-निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत करना कठिन है । जो भी उपयुक्त लक्षण नव्य-न्याय-शास्त्र में उपात्त हैं वे भी साधारण-जिज्ञासुओं (जिनके लिए इस निबन्ध की प्रवृत्ति हुई है) के लिए उपयोगी नहीं हैं । अतः समझाने के लिए, रेखा-गवयन्याय के अनुसार, एक साधारण प्रकार का अनुसरण किया जाता है :—

"शङ्कित-निश्चितोभय-विध-व्यभिचाराभाव-पूर्वकः हेतोः साध्येन सहचारो व्याप्तिः" ।

साध्य के साथ हेतु का वैसा सहचार, जिसके व्यभिचार का निश्चय अथवा सन्देह भी न हो, व्याप्ति है । यद्यपि व्यभिचार की शङ्का तो सर्वत्र हो सकती है तथापि यदि अनुकूल तर्क के द्वारा शङ्का की निवृत्ति हो जाती है तो उस स्थिति में व्यभिचार-सन्देह का अभाव माना जाता है । तर्क के द्वारा व्यभिचार का भी निश्चय हो सकता है और व्यभिचाराभाव का भी । यदि व्यभिचार का निश्चय हो जाय तब तो व्याप्ति नहीं बन पाती, यदि व्यभिचाराभाव का निश्चय हो जाय तब व्याप्ति की सिद्धि हो जाती है । धूम की व्याप्ति वह्नि के साथ है, क्योंकि महानस आदि में धूम का वह्नि के साथ सहचार है और किसी भी स्थान में वह्नि के अभाव में धूम की सत्ता का निश्चय न होने से निश्चित-व्यभिचार का अभाव भी है । यद्यपि व्यभिचार शङ्कित हो सकता है कि इस विशाल जगत् तथा अनन्त काल में कहीं किसी समय धूम की सत्ता वह्नि के अभाव में भी हो सकती है, तथापि तर्क के आधार पर शङ्कित-व्यभिचार की निवृत्ति हो जाती है । तर्क का स्वरूप यह होगा :—

"धूमो यदि वह्नि-व्यभिचारी स्यात् तर्हि वह्नि-जन्यो न स्यात् ।"

इसका तात्पर्य यह है कि कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है । अतः कार्य की सत्ता कारण की सत्ता को प्रमाणित करती है । प्रकृत में धूम है कार्य एवं वह्नि है कारण—यह असन्दिग्ध है । एवञ्च इस स्थिति की कभी भी सम्भावना नहीं रह जाती है कि धूम रहेगा पर वह्नि नहीं । यदि वह्नि के अभाव में भी धूम की उपलब्धि हो तब तो धूम में वह्निजन्यत्व—जो सर्वानुभव-सिद्ध है—का अपलाप हो जायगा । अतः धूम में शङ्कित वह्नि-व्यभिचारित्व का निरास उपर्युक्त तर्क जिसे, "कार्य-कारण-भाव-भङ्ग-प्रसङ्ग" भी कहा जाता है,

के साहाय्य से हो जाता है। एवञ्च उभयविध-व्यभिचार के अभाव से अनुगत सहचार के कारण धूम की व्याप्ति वह्नि के साथ बन जाती है, और इसलिए धूम को देखकर यदि "वह्निमान् पर्वतः" इस प्रकार का अनुमान किया जाता है तो यह यथार्थ अनुमान होता है।

यहाँ प्रसङ्गात् सम्बन्ध के प्रतियोगी तथा अनुयोगी को समझाने के लिए एक सरल मार्ग बतलाया जा रहा है :—

सम्बन्ध-शब्दार्थ से ही दो पदार्थों का अनुगम हो जाता है। अतएव सन्बन्ध को द्विष्ठ अथवा उभयनिष्ठ कहा जाता है। जिन दो पदार्थों के बीच सम्बन्ध होता है उन दोनों में से एक उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है और दूसरा अनुयोगी। प्रतियोगी तथा अनुयोगी शब्दों के अर्थ का सरलता से अवगम प्रविविक्षु छात्र के लिए कठिन है। अतः पहचान के लिए यदि हम ऐसा कहें—जिससे षष्ठी-विभक्ति अथवा प्रथमा का प्रयोग होता है वह सम्बन्ध का प्रतियोगी है और जिससे ("सहयुक्तेऽप्रधाने" सूत्र से) तृतीया-विभक्ति का अथवा सप्तमी का प्रयोग होता है वह सम्बन्ध का अनुयोगी कहलाता है—तो बहुत कुछ काम निकल सकता है। उदाहरण के लिए, "घटस्य पटेन सह (पटे) संयोगः" अथवा "घटः पटेन संयुक्तः" आदि वाक्य में घट तथा पट के बीच जो संयोग सम्बन्ध है उसका प्रतियोगी घट है, जब कि पट अनुयोगी है। परन्तु संयोग आदि सम्बन्ध में प्रतियोगी तथा अनुयोगी का व्यत्यास भी हो सकता है। घट तथा पट के संयोग के विषय में हम "घटः पटेन संयुक्तः" भी कह सकते हैं, और "पटः घटेन संयुक्तः" भी। प्रथम पक्ष में घट-प्रतियोगिक-पटानुयोगिक-संयोग है, जब कि द्वितीय पक्ष में पट-प्रतियोगिक-घटानुयोगिक-संयोग है। परन्तु समवाय के प्रसङ्ग में प्रतियोगी तथा अनुयोगी में यह यदृच्छा नहीं है। वहाँ हम "घटस्य कपालयोः समवायः" अथवा "घटः कपालयोः समवेतः" यही कह सकते हैं; कदापि यह नहीं कह सकते—"घटे कपालौ समवेतौ" अथवा "घटेन कपालयोः समवायः"—यद्यपि साधारण व्यवहार में यही प्रतीत होता है। प्रकृत व्याप्ति भी एक सम्बन्ध है, अतः यहाँ भी इसके जो दो सम्बन्धी—हेतु तथा साध्य—हैं उनमें एक अनुयोगी तथा एक प्रतियोगी होगा। यहाँ भी अनुयोग्यादि में स्वेच्छा नहीं अपि तु, समवाय के समान, नियम है कि हेतु ही प्रतियोगी होगा और साध्य ही अनुयोगी। अतः सामान्य रूप में हम "हेतोः साध्येन सह व्याप्तिः" और प्रकृत उदाहरण को लेकर "धूमस्य वह्निना व्याप्तिः" कह सकते हैं "वह्नेः धूमेन व्याप्तिः" नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर अनुमान में दोष आ जायगा, जिसका निरूपण आगे उपाधि के प्रसङ्ग में किया जायगा।

जहाँ हेतु सम-व्याप्त भी होता है वहाँ भी हेतुत्वेन अभिमत पदार्थ ही व्याप्ति का प्रतियोगी माना जाता है (यद्यपि साध्य को भी सम-व्याप्त स्थल में प्रतियोगी मानने से कोई अनुपपत्ति नहीं होती है)। अत एव कुमारिल भट्ट का कथन है :—

"तेन यत्राप्युभौ धर्मौ व्याप्य-व्यापक-सम्मतौ।
तत्रापि व्याप्यतैव स्यादङ्गं न व्यापिता मितेः॥"

यदि सम-व्याप्त-स्थल में एक पक्ष में साध्य के रूप में प्रस्तुत पदार्थ को दूसरे अनुमान में हेतु मान कर और प्रथमानुमानगत हेतु को दूसरे अनुमान में साध्य मानकर वाक्य-प्रयोग हो तो अनुमान में कोई अनुपपत्ति नहीं होती है। परन्तु जो हेतु के रूप में प्रयुक्त होता है वही व्याप्य (= व्याप्ति का प्रतियोगी) कहलाता है और जो साध्य के रूप में प्रयुक्त होता है वही व्यापक (= व्याप्ति का अनुयोगी)।

उपाधि-निरूपण

अस्तु। हम यह देख चुके हैं कि शङ्कित तथा निश्चित व्यभिचार के अभाव से अनुगत सहचार ही व्याप्ति है। यह शङ्कित-व्यभिचार दो विषयों पर आधारित हो सकता है:—सन्देह-युक्त बुद्धि (=अयोग्योपाधि) तथा शंकित उपाधि। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक शंकित-व्यभिचार शंकित-अयोग्योपाधि-मूलक होता है और दूसरा शंकित-योग्योपाधि-मूलक। प्रथम प्रकार के शंकित-व्यभिचार[1] की निवृत्ति तो अनुकूल तर्क से होती है, जैसा पहले बतलाया गया है; परन्तु दूसरे प्रकार का शंकित-व्यभिचार अनुमान का प्रतिरोध कर देता है। द्वितीय प्रकार को दृष्टि में रख कर ही श्लोक-वार्त्तिक में कहा गया है :—

"यावच्चाऽव्यतिरेकित्वम् शतांशेनाऽपि शङ्क्यते।
विपक्षस्य (= विपक्षे) कुतस्तावद्धेतोर्गमनिका-बलम्॥"

इसी प्रकार निश्चित-व्यभिचार निश्चितोपाधिमूलक होता है। अतः यहाँ संक्षेप में उभय-विध उपाधि के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है। उपाधि का लक्षण निम्न-लिखित है :—

"साध्य-व्यापकः सन् साधनाऽव्यापक उपाधिः"।

साध्य-व्यापक का अर्थ है साध्याधिकरण-निष्ठ[2] अत्यन्ताऽभाव का अप्रतियोगी, अर्थात् साध्य के साथ-साथ सर्वत्र वर्त्तमान पदार्थ;

१. न्या० कु० ३।७।
२. कु० प्र०, पृ० ३५२।

और साधनाऽव्यापक का अर्थ है हेत्वधिकरण-निष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी, अर्थात् हेतु के साथ-साथ सर्वत्र नहीं रहनेवाला पदार्थ । साध्यव्यापक होते हुए साधनाऽव्यापक पदार्थ को उपाधि इसलिए कहा जाता है कि उपाधि-निर्भर व्याप्ति हेतु में स्वाभाविक रूप में नहीं अपि तु, जैसे जपा-कुसुम की रक्तता सन्निकट-स्थ स्फटिक में प्रति-बिम्बित होती है उसी प्रकार, हेतु में प्रतिबिम्बित होकर रहती है। उपर्युक्त लक्षण के दोनों अंश जहाँ निश्चित होते हैं वह उपाधि निश्चित उपाधि होती है; यदि किसी भी अंश में सन्देह रहता है तो उपाधि शंकित कहलाती है। अर्थात् यदि उपाधित्वेन अभिमत पदार्थ में साध्य-व्यापकत्व का सन्देह अथवा साधनाऽव्यापकत्व का सन्देह (अथवा दोनों अंशों का सन्देह हो) रहता है वैसी स्थिति में उपाधि सन्दिग्ध होती है ।

शङ्कित-उपाधि

एक मित्रा नाम की स्त्री थी। उसने अपनी दुरवस्था में हरित-शाक आदि खाकर चार पुत्रों को उत्पन्न किया। शाकादि-भोजन के परिणाम स्वरूप उसके चारो ही पुत्र काले निकले। इसी स्थिति में यज्ञदत्त के साथ देवदत्त कहीं दूर-देश चला जाता है। ५ वर्षों के बाद देवदत्त सुनता है कि मित्रा ने पञ्चम पुत्र को जन्म देया। इसकी चर्चा देवदत्त अपने मित्र से करता है। उसका मित्र यज्ञदत्त देवदत्त से पूछ बैठता है कि मित्रा का यह पुत्र किस वर्ण का होगा। यज्ञदत्त के प्रश्न के उत्तर में देवदत्त निम्न-लिखित अनुमान-वाक्य को प्रस्तुत करता है :—

"स मित्रातनयः श्यामः मित्रा-तनयत्वात्, दृष्ट-मित्रा-तनयवत् ॥"

इस अनुमान के मूल में व्याप्ति है :—

"यत्र यत्र मित्रा-तनयत्वम् तत्र तत्र श्यामत्वम् ।"

इस व्याप्ति में शाकादिभोजन-जन्यत्व उपाधि है, क्योंकि इसमें साध्य-व्यापकत्व तथा साधनाऽव्यापकत्व भी वर्त्तमान है। प्रकृत स्थल में साध्य है श्यामत्व, इसके साथ-साथ शाकादिभोजन-जन्यत्व अवश्य ही हैं। अतः हम कह सकते हैं :—"यत्र यत्र श्यामत्वम् तत्र तत्र शाकादि-भोजन-जन्यत्वम्"। दूसरा अंश भी है परन्तु सन्दिग्ध है, क्योंकि मित्रा का पञ्चम पुत्र, जिसे देवदत्त ने देखा नहीं है, गौरवर्ण भी हो सकता है, यदि भाग्य-वश उस (मित्रा) की आर्थिक स्थिति अनुकूल हो गई हो और इस प्रकार अच्छा भोजन कर मित्रा ने उस पञ्चम पुत्र को उत्पन्न किया हो। अतः "यत्र यत्र मित्रा-तनयत्वम् तत्र तत्र शाकादि-भोजन-जन्यत्वम्" इस साधनाऽव्यापकत्व का

निश्चय न होने से यह उपाधि शंकित[1] उपाधि है; परन्तु अनुमान का प्रतिबन्ध तो होगा ही, जैसा पहले बतलाया जा चुका है। अतः देवदत्त का अनुमान[2] प्रामाणिक नहीं है। इसी प्रकार उदाहरणान्तर का अवगम करना चाहिए।

निश्चित-उपाधि

निश्चित उपाधि का उदाहरण है:—"पर्वतो धूमवान् वह्नेः"। इस अनुमान के मूल में व्याप्ति है:—"यत्र यत्र वह्निः तत्र तत्र धूमः।" यह व्याप्ति अप्रामाणिक है, क्योंकि इसमें निश्चित उपाधि है। यह उपाधि है "आर्द्र (Wet) द्रव्य का संयोग", क्योंकि हम लोग प्रत्यक्ष देखते है कि जहाँ वह्नि का संयोग भींगी लकड़ी (आर्द्रेन्धन) से रहता है वहीं धूम की स्थिति होती है, परन्तु जहाँ आर्द्र-पदार्थ के साथ अग्नि का संयोग नहीं रहता है वहाँ अग्नि के रहने पर भी धूम नहीं रहता है; जैसे सन्तप्त लौह-खण्ड में आर्द्रता नहीं रहने के कारण वह्नि के रहने पर भी धूम की स्थिति नहीं होती है। अतः धूम के साथ वह्नि की व्याप्ति (वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति नहीं, क्योंकि इसका अर्थ दूसरा होता है, जिसका निर्देश सम्बन्ध-प्रतियोग्यादि-निरूपण-प्रसङ्ग में किया जा चुका है) तभी बनती है यदि वह्नि आर्द्र-पदार्थ से संयुक्त हो अन्यथा नहीं, यह निश्चित है। अत एव आर्द्र-पदार्थ-संयोग, वह्नि हेतु से धूम के अनुमान के मूल में अपेक्षित व्याप्ति में, निश्चित उपाधि है, और इससे "धूमवान् वह्नेः" इस अनुमान का प्रतिरोध होता है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि उपहित हेतु से किया गया अनुमान सर्वत्र भ्रान्त ही नहीं होता है परन्तु भ्रमत्व की सम्भावना को भी परोक्ष-ज्ञान में विघटक मानना ही उचित है; इसलिए उपहित हेतु से अनुमान नहीं करना

---

१. तात्पर्य यह है कि हेतु (= मित्रातनयत्व) के अधिकरण (= मित्रा के पाँच पुत्रों) के अन्तर्गत आनेवाले पञ्चम-पुत्र में शाकादि-भोजन-जन्यत्व है या नहीं इसका निर्णय नहीं है, क्योंकि पाँच वर्षों से मित्रा से दूर रहनेवाले देवदत्त को यह परिज्ञान नही है कि मित्रा की आर्थिक दशा पूर्ववत् दयनीय है या इस अवधि में अच्छी हो गई है।

२. श्यामत्व घटादि में भी है परन्तु वहाँ शाक-पाक-जन्यत्व नहीं है। अतः इसे साधन-धर्मावच्छिन्न (मित्रा-तनयत्वावच्छिन्न) साध्य का व्यापक माना जाता है। विशेष विवरण के लिए आकर-ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

चाहिए। उपर्युक्त विवरण से सहचार-दर्शन तथा व्यभिचाराऽदर्शन में व्याप्ति-ग्राहकता[1] की सिद्धि भी हो जाती है।

व्याप्ति के प्रकार

उपर्युक्त व्याप्ति के दो प्रकार होते हैं :—अन्वय-व्याप्ति तथा व्यतिरेक-व्याप्ति।

अन्वय-व्याप्ति

जिस व्याप्ति की विधि-मुख से ही प्रतिपत्ति होती है वह अन्वय-व्याप्ति है। वैशेषिक मत में ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व आदि केवलान्वयी पदार्थ हैं। जहाँ साध्य तथा हेतु, अथवा कम से कम साध्य, केवलान्वयि-पदार्थ होता है वहाँ अन्वय-व्याप्ति ही बनती है, व्यतिरेक नहीं, क्योंकि केवलान्वयी का अर्थ ही होता है अभावाऽप्रतियोगित्व। इसके उदाहरण में हम "घटः अभिधेयः प्रमेयत्वात्" को रख सकते हैं। यहाँ अन्वय-व्याप्ति—"यत्र यत्र प्रमेयत्वम् तत्र तत्र अभिधेयत्वम्"—तो बन जाती है, परन्तु व्यतिरेक-व्याप्ति—"यत्र यत्र अभिधेयत्वाभावः तत्र तत्र प्रमेयत्वाभावः"—नहीं बन पाती है, क्योंकि अभिधेयत्व तथा प्रमेयत्व का अभाव अत्यन्त अप्रसिद्ध है। "वह्निमान् धमात्" में भी अन्वय-व्याप्ति होती है—"यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः।"

व्यतिरेक-व्याप्ति

जिस व्याप्ति का अवगम केवल निषेध-मुख से होता है उसे व्यतिरेक-व्याप्ति या केवल-व्यतिरेक-व्याप्ति कहा जाता है। जहाँ हेतु के सभी अधिकरण पक्ष-वर्ग में ही प्रविष्ट हो जाते हैं वहीं केवल-व्यतिरेक-व्याप्ति की स्थिति होती है। तात्पर्य यह है कि अनुमान-वाक्य में प्रयुक्त साध्य तथा हेतु के स्वरूपों के अभाव को आधार मान कर व्यतिरेक-व्याप्ति का निर्माण किया जाता है। यदि "जीवच्छरीरं सात्मकम् प्राणादिमत्त्वात्" यह अनुमान-वाक्य है तो यहाँ सात्मकत्वाऽभाव तथा प्राणादिमत्त्वाभाव के बीच व्याप्ति बनेगी :—"यत्र यत्र सात्मकत्वाऽभावः तत्र तत्र प्राणादिमत्त्वाभावः, यथा घटादिः।" परन्तु यदि अनुमान-वाक्य में ही साध्यादि अभावात्मक हो तब तो व्यतिरेक-व्याप्ति अभावाऽभाव, अर्थात् प्रथमाऽभाव-प्रतियोगी, के साथ बनेगी। जो लोग अभावाऽभाव को अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं उनकी दृष्टि में अभाव के आधार पर ही व्यतिरेक-व्याप्ति बनती है।

---

१. व्याप्ति-ग्रहण प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से भी हो सकता है :—

आगमेनाऽनुमानेन तर्क-व्युत्पादनेन वा।
प्रत्यक्षेण गृहीतो वा सम्बन्धो न विशिष्यते॥

न्या० म०, पृ० ११२ (भा० १)

अतः यह स्पष्ट है कि जो लोग अभावाऽभाव को स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं उनकी दृष्टि में व्यतिरेक-व्याप्ति नियमतः निषेध-मुख-प्रतिपन्न होगी; परन्तु जो लोग अभावाऽभाव को प्रथमाऽभाव-प्रतियोगि-स्वरूप मानते है उनके मत में व्यतिरेक-व्याप्ति में निषेध-मुख-प्रतिपत्ति का नियम नहीं है। अत एव जयन्त भट्ट का कथन है :—

"साध्य-साधन[1]-भावस्तु भवेद् यत्राऽव्यभावयोः ।
तयोरेवान्वयस्तत्र व्यतिरेकस्तु भावयोः ॥"

"वह्निमान् धूमात्" में व्यतिरेक-व्याप्ति का स्वरूप है :—"यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाऽभावः, यथा महा-ह्रदादिः"।

व्याप्ति-वाक्य-निर्माण-प्रकार

यह अनुभव-सिद्ध विषय है कि व्याप्य वस्तु व्यापक वस्तु की सत्ता का नियमन करती है। व्याप्य वस्तु अपने व्यापक का साथ नहीं छोड़ सकती है। परन्तु व्यापक अपने व्याप्य के बिना भी प्रस्तुत हो सकता है। धूम है व्याप्य और वह्नि है व्यापक। धूम वह्नि के बिना रह ही नहीं सकता है परन्तु वह्नि धूम के बिना भी रह सकती है। अत एव व्याप्ति-वाक्य में व्याप्य का प्रयोग पहले किया जाता है और व्यापक का प्रयोग पश्चात्। एवञ्च धूम तथा वह्नि की व्याप्ति का विवरण करते समय हमें पहले व्याप्य धूम को रखना चाहिए और बाद में वह्नि को—"यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः।" अत एव कुमारिल भट्ट का कथन है :—

"व्याप्यस्य वचनम् पूर्वम् व्यापकस्य ततः[2] परम् ।
एवम् परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः ॥"

यहाँ अन्वय तथा व्यतिरेक के प्रतिपादन में अन्तर समझना आवश्यक है। अन्वय-व्याप्ति में हेतु व्याप्य होता है और साध्य व्यापक। अल्प-देश-वृत्तित्व के कारण हेतु में व्याप्यता रहती है। वह्नि के क्षेत्र से धूम का क्षेत्र छोटा है, क्योंकि अयो-गोलक-आदि में वह्नि है, परन्तु धूम नहीं। इसी से यह भी स्पष्ट है कि धूम की अपेक्षा वह्नि का क्षेत्र बड़ा है, अतः वह्नि व्यापक है। व्याप्ति-वाक्य में व्याप्य का पहले और व्यापक का पश्चात् निर्देश होना चाहिए— यह बतलाया जा चुका है। अत एव अन्वय-व्याप्ति में हेतु का निर्देश पहले होता है। परन्तु व्यतिरेक-व्याप्ति में हेत्वभाव तथा साध्याभाव की व्याप्ति बनती है। इन दोनों अभावों में साध्याभाव का क्षेत्र छोटा होता है, क्योंकि साध्य के भाव का क्षेत्र बड़ा है। यह तो स्पष्ट है कि जिस पदार्थ

१. न्या० म०, पृ० ११२ (भा० १)।
२. श्लो० वा० १२३।

की सत्ता व्यापक होती है उसकी असत्ता अव्यापक, अर्थात् व्याप्य, होगी। हेत्वभाव का क्षेत्र बड़ा होता है, क्योंकि हेतु के भाव का क्षेत्र छोटा है, जैसा अन्वय-व्याप्ति के समय स्पष्ट हो चुका है। अत एव मानमेयोदय में कहा गया है :—

"अग्नेः भावस्य भूयस्त्वात् तदभावोऽल्पतां व्रजेत्।[1]
धूम-भावस्य चाल्पत्वात् तदभावो महत्तरः॥"

एवञ्च "व्याप्यस्य वचनम् पूर्वम्" आदि नियम के अनुसार, व्यतिरेक-व्याप्ति-वाक्य में साध्याभाव का पहले तथा व्यापकीभूत हेत्वभाव का निर्देश पश्चात् करना चाहिए :—"यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाऽभावः।" सम-व्याप्त हेतु में भी यही प्रकार माना जाता[2] है, यद्यपि व्यत्यास करने पर भी वहाँ कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। व्यतिरेक-व्याप्ति की उपर्युक्त स्थिति को देखकर ही कहा गया है :—

"अन्वये साधनम् व्याप्यम् साध्यम् व्यापकमिष्यते।
साध्याऽभावोऽन्यथा[3] व्याप्यो व्यापकः साधनाऽत्ययः॥"
"इयानेव विशेषस्तु भावयोर्यादृशी ययोः।
व्याप्य-व्यापकता, सैव व्यत्यस्ता तदभावयोः॥"[4]

पक्ष-धर्मता

हेतु की पक्ष में सत्ता ही पक्ष-धर्मता है; और पक्ष-वृत्तित्वेन हेतु का ज्ञान ही पक्ष-धर्मता-ज्ञान है, जिससे "एक-सम्बन्धि-ज्ञानमपर-सम्बन्धि-स्मारकम्" के आधार पर सम्बन्ध-विधया व्याप्ति की स्मृति के मूल-भूत संस्कार का उद्बोध होता है। इस विषय में जयन्त भट्ट की निम्न-लिखित पंक्ति से ही इष्ट-सिद्धि हो जाती है:—

"गृहीते नियमे (नियमः = व्याप्तिः)[5] यावत् पुनः क्वचित् धर्मिणि धूमादेर्लिङ्गस्य ग्रहणं न वृत्तम् तावत् न भवति लिङ्गिनः (= साध्यस्य) अवगतिरिति सम्बन्ध-ग्रहण-(= व्याप्ति-ग्रहण-) कालाऽपेक्षया द्वितीयं[6] तल्लिङ्ग-दर्शनमपेक्षितव्यम्, सैवेयम् पक्ष-धर्मतोच्यते।"

---

१. मा० मे०, पृ० ५४ (प्रमाण-प्रकरण)।
२. श्लो० वा० अ० प्र० श्लो० ९।
३. श्लो० वा० १२२ (अन्यथा = व्यतिरेक-व्याप्तौ, अत्ययः=अभावः।)
४. न्या० म०, पृ० ११२ (भा० १)।
५. वही, पृ० ११२ (भा० १)।
६. कुछ लोग पक्ष-धर्मता-ज्ञान-जन्य व्याप्ति-स्मरण को ही द्वितीय-लिङ्ग-दर्शन मानते हैं—न्या० को० (लिङ्ग-परामर्श)

परामर्श

परामर्श का लक्षण है—"व्याप्त-विशिष्ट-पक्ष-धर्मता-ज्ञानम् परामर्शः।' व्याप्ति ज्ञान तथा पक्ष-धर्मता-ज्ञान का जो मिश्रित रूप होता है वही परामर्श है। व्याप्ति के उपर्युक्त स्वरूप पर ध्यान देने से यही स्पष्ट होता कि व्याप्ति-ज्ञान का स्वरूप है "साध्य-व्याप्यो हेतुः" और पक्ष-धर्मता-ज्ञान का "हेतुमान् पक्षः"। अब दोनों को यदि मिलावें तो "साध्य-व्याप्य-हेतुमान् पक्षः" यही ज्ञान का स्वरूप होता है। इसी ज्ञान को परामर्श कहा जाता है। इसे विशिष्ट-वैशिष्ट्या-वगाहि-ज्ञान भी कहा जाता है, क्योंकि इस ज्ञान में व्याप्ति-विशिष्ट हेतु का पक्ष में वैशिष्ट्य का अवगम होता है। न्यायावयव, अनुसन्धान (= उपनय), की उपपत्ति के लिए परामर्श अपेक्षित है—ऐसा उदयनाचार्य आदि का मत है। श्रीधराचार्य[1] का कथन है कि पक्ष-धर्मता के प्रतिपादन में ही 'अनुसन्धान' की आवश्यकता है, क्योंकि अवयवान्तर से पक्ष-धर्मता की प्रतिपत्ति नहीं होती है। साध्य के स्थान का प्रतिनियम भी लिङ्ग-दर्शन से ही हो जाएगा। अतः परामर्श का अनुमिति में कोई उपयोग नहीं है।

परन्तु परामर्श के नहीं मानने से एक समस्या हो जाती है:—हम देख चुके हैं कि आत्मा में एक साथ दो ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यह भी देख चुके हैं कि अपेक्षा-ज्ञान को छोड़कर अन्य सभी जन्य-ज्ञान अपनी उत्पत्ति के तृतीय-क्षण में विनष्ट हो जाते हैं। वस्तु-स्थिति तो यह है कि दो ज्ञान की स्थिति भी एक-क्षण में नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रथम-ज्ञान की स्थिति-के क्षण में द्वितीय-ज्ञान की उत्पत्ति होती है, और यह द्वितीय ज्ञान उत्पन्न होकर पूर्व-ज्ञान को विनष्ट कर देता है, अर्थात् द्वितीय-ज्ञान के स्थिति-क्षण में प्रथम-ज्ञान का विनाश हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि एक ज्ञान की स्थिति और दूसरे ज्ञान की उत्पत्ति एक क्षण में हो सकती है। परन्तु यह दशा भी तभी हो सकती है यदि दोनों ज्ञान अनुभवात्मक हों। यदि एक ज्ञान अनुभवात्मक है और दूसरा स्मृत्यात्मक तब तो दोनो ज्ञान की उत्पत्ति या स्थिति में समान-कालिकत्व कथमपि नहीं होगा, क्योंकि पूर्व-ज्ञान प्रथम-क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय-क्षण में संस्कारोद्‌बोध कर सकता है और पूर्व-(ज्ञान की दृष्टि से द्वितीय-)क्षण में उत्पन्न संस्कार अग्रिम क्षण में स्मृति का उत्पादन तथा पूर्व-ज्ञान का नाश कर देता है। एवञ्च अनुभव तथा स्मृति में तो उपर्युक्त स्थिति की भी सम्भावना नहीं है। प्रकृत में व्याप्ति-ग्रहण के पश्चात् कदाचित् पर्वत में धूम का दर्शन होता है। इसीको पक्ष-धर्मता-ज्ञान कहते हैं।

---

१. न्या० क०, पृ० ४९१–९२।

इस क्षण में अन्य किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति या स्मृति नहीं हो सकती है। द्वितीय-क्षण, अर्थात् पक्ष-धर्मता-ज्ञान की स्थिति के क्षण, में व्याप्ति-विषयक-संस्कार का उद्‌बोध होगा और तृतीय-क्षण में व्याप्ति-स्मृति तथा पक्ष-धर्मता-ज्ञान का विनाश उसी संस्कार से होगा। अतः जिस समय हमें "धूमवान् पर्वतः" ऐसा ज्ञान रहता है उस समय "यो यो धूमवान् स स वह्निमान्" यह व्याप्ति-ज्ञान नहीं रहता है, अत एव पक्ष-धर्मता-ज्ञान के द्वारा अग्रिम-क्षण में "पर्वतो वह्निमान्" यह अनुमिति नहीं हो सकती है। जिस समय व्याप्ति-स्मरण होता है, अर्थात् "यो यो धूमवान् स स वह्निमान्" इस प्रकार का स्मृत्यात्मक व्याप्ति-ज्ञान होता है उस समय "पर्वतो धूमवान्" यह ज्ञान नहीं रहता है; अतः उस व्याप्ति-स्मरण से "पर्वतो वह्निमान्" यह ज्ञान नहीं हो सकता है। एवञ्च केवल पक्ष-धर्मता-ज्ञान या केवल व्याप्ति-स्मरण से ही अनुमिति की उपपत्ति असम्भव है। अत एव दोनों ज्ञानों को मिलाकर एक ज्ञान बना दिया जाता है जिससे 'वह्नि-व्याप्य-धूमवान् पर्वतः' इस तरह का ज्ञान एक ही क्षण में उत्पन्न होकर अग्रिम-क्षण में "पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमिति का उत्पादन करता है। यही मिश्रित-ज्ञान परामर्श कहलाता है। यतः यह ज्ञान एक होता है, अत एव इस ज्ञान की स्वीकृति कर लेने पर पूर्वोक्त कोई भी अनुपपत्ति नहीं आती है। अतः परामर्श की स्वीकृति अनुमिति की उपपत्ति के लिए आवश्यक है।

इस विषय में विशेष विचार तत्त्व-चिन्तामणि के परामर्श-प्रकरण में देखना चाहिए।

पक्षता

उपर्युक्त ज्ञानोत्पत्ति-प्रक्रिया के प्रस्तुत होने पर पुनः एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है :—

कारण के रहने पर कार्य अवश्य होता है। ऊपर यह कहा गया है कि परामर्श-ज्ञान प्रथम-क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय-क्षण में "पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमिति का उत्पादन करता है। इसी प्रकार द्वितीय क्षण में भी तो परामर्श की सत्ता रहती है। अतः जिस तरह प्रथम-क्षणोत्पन्न परामर्श द्वितीय-क्षण में अनुमिति का उत्पादन करता है उसी प्रकार द्वितीय-क्षण में वर्त्तमान परामर्श तृतीय-क्षण में भी "पर्वतो वह्निमान्" इस अनुमिति का उत्पादन क्यों नहीं करता है? (तात्पर्य यह है कि अव्यवहित रूप में "पर्वतो वह्निमान्" "पर्वतो वह्निमान्" इन दो अनुमितियों की उत्पत्ति, कारण-स्थिति के आधार पर, होनी चाहिए, परन्तु यह कुछ अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। अतः क्या कारण है कि पूर्वानुमिति के उत्तर-क्षण में पुनः समान-विषयक द्वितीय अनुमिति नहीं

होती है ?) इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि केवल एक दो कारणों से ही कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है; कार्योत्पत्ति के लिए कारण-कूट अपेक्षित होता है। प्रकृत में अनुमिति के कारणों के अन्तर्गत 'पक्ष' (जहाँ साध्य की सिद्धि की जाती है) केवल वही पदार्थ हो सकता है जिसमें 'पक्षत्व' या 'पक्षता' हो। घट वही होता है जिसमें घटत्व रहता है। साध्य की सिद्धि जहाँ एक बार हो चुकी है वहाँ 'पक्षता' नहीं रहती है, अतः उस पदार्थ में पुनः साध्य की अनुमिति नहीं होती है। प्रकृत-स्थल में जब प्रथमक्षणोत्पन्न परामर्श से द्वितीय क्षण में पर्वत में वह्नि की सिद्धि हो जाती है तब उसी पर्वत में तृतीय-क्षण में पुनः वह्नि की सिद्धि नहीं की जा सकती है, क्योंकि पूर्वानुमिति के हो जाने के बाद पर्वत उस वह्नि के पुनः साधन के समय 'पक्षता' से हीन हो जाता है, फलतः पक्ष नहीं रहता है।

अब प्रश्न यह है कि यह 'पक्षता' क्या है ? प्राचीन-सम्प्रदाय में यह माना जाता है :—

"साध्य-सन्देहः पक्षता।"

साध्य के विषय में जो सन्देह है वही 'पक्षता' है। जब तक पर्वत में "वह्निः अस्ति न वा" यह सन्देह बना रहता है तब तक पर्वत पक्षता-सम्पन्न है; परन्तु जब एक बार किसी प्रमाण से "पर्वतः वह्निमान्" यह निश्चय हो जाता है तब पर्वत पक्षता-शून्य हो जाता है, अत एव उसमें पुनः "वह्निमान्" यह अनुमिति नहीं होती है।

यह मत किस आचार्य का था, इसका निश्चय करना कठिन है। न्याय-भाष्य-कार ने यद्यपि "नाऽनुपलब्धे न[1] निर्णीतेऽर्थे न्यायः-प्रवर्त्तते, किन्तर्हि ? संशयितेऽर्थे" कहा है, जिससे पहले तो यही प्रतीत होता है कि न्याय-भाष्य-कार इस पक्ष के अनुयायी या प्रतिष्ठापक रहे, तथापि "किन्पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसम्प्लवन्ते उत प्रति-प्रमेयम् व्यवतिष्ठन्ते ?" इस प्रश्न के उत्तर में "उभयथा दर्शनम्[2]" इस न्याय-भाष्य-स्थित वचन से स्पष्ट है कि वात्स्यायन "साध्य-सन्देहः पक्षता" के समर्थक नहीं थे। अस्तु। इनकी प्रथम-पंक्ति से हमें "साध्य-सन्देहः पक्षता" इस मत का कुछ संकेत अवश्य ही मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि न्याय-भाष्य-कार के अनुसार 'पक्षता' का अर्थ है साध्य-साधनेच्छा। साधारणतः अनिश्चित वस्तु को सिद्ध करने की इच्छा होती है, परन्तु कभी-कभी सामान्य रूप में ज्ञात

---

१. न्या० भा० १।१।१।

२. न्या० भा० १।१।३।

पदार्थ को भी विशेष रूप में सिद्ध करने की इच्छा भी अनुभव-सिद्ध ही है। अतः सन्दिग्ध-साध्य की सिद्धि की इच्छा को ही पक्षता कहना उचित नहीं, प्रत्युत साध्य को सिद्ध करने की इच्छा (= सिषाधयिषा) को ही 'पक्षता' मानना चाहिए। न्याय-वार्त्तिक-कार[1], जयन्त भट्ट[2] वाचस्पति मिश्र[3] तथा उदयनाचार्य[4] प्रभृति महा-तार्किकों ने इसी मत का उपस्थापन किया है। प्रशस्त-पादाचार्य का भी यही मत है।[5]

परन्तु गङ्गेश उपाध्याय ने अपने पक्षता-प्रकरण में यह बतलाया है कि कोई व्यक्ति अपने घर में अपने कार्य में व्यस्त होने पर भी घन-गर्जन सुनकर आकाश में घन का अनुमान करता है, परन्तु वहाँ न तो साध्य-सन्देह है (क्योंकि जिज्ञासा के बाद विशेषानुपलम्भ से संशय होता है, यहाँ तो घन की जिज्ञासा ही नहीं है फिर संशय होने का प्रश्न ही नहीं उठता है) और न साध्य-साधनेच्छा ही। परन्तु अनुमान सर्वानुभव-सिद्ध है; अतः साध्य-सन्देह या सिषाधयिषा को पक्षता नहीं कहकर सिषाधयिषा-विरह-विशिष्ट-सिद्ध्यभाव को पक्षता कहना चाहिए। इस लक्षण में सिद्धि (अर्थात् साध्य-निश्चय) का अभाव अपेक्षित है और उस सिद्धि में एक विशेषण लगा दिया गया है—सिषाधयिषा-विरह। एवञ्च स्पष्ट अर्थ यह है :—"साध्य-साधन की इच्छा के अभाव से युक्त जो साध्य की सिद्धि उसका अभाव पक्षता है"। यहाँ अन्तिम अभाव के प्रतियोगी (सिद्धि) में दो अंश हैं:—विशेषण तथा विशेष्य।

सिषाधयिषाऽभाव—	विशेषण।
सिद्धि—	विशेष्य।

विशिष्टाऽभाव की स्थिति तीन प्रकार से होती है:—विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव, विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव तथा उभयाऽभाव-प्रयुक्त विशिष्टाऽभाव।

१. प्रज्ञापनीय-धर्म-विशिष्टो धर्मी—न्या० वा० १।१।३३ (पृ० १०८)।

२. सिषाधयिषित-धर्म-विशिष्टो धर्मी पक्षः—न्या० म०, पृ० १०१।

३. जिज्ञासित-धर्मणो धर्मिणः प्रचयमाणत्वेन पक्षत्वम्—ता० टी०, पृ० ४३।

४. न्याय-चर्चेयमीशस्य मनन-व्यपदेश-भाक् (न्या० कु० १।३) इस कथन से यही मत स्पष्ट होता है। पक्षता के विषय में अन्य मतों का परिचय तत्त्वचिन्तामणि के पक्षता-प्रकरण से करना चाहिए।

५. प्रतिपिपादयिषित-धर्म-विशिष्टस्य धर्मिणः········ प० भ० सं०, पृ० ५६५। व्योम-शिवाचार्य (व्योम०, पृ० ५६२) तथा श्रीधराचार्य (न्या० कं०, पृ० ४७८) आदि भी इसी का समर्थन करते हैं।

(क) विशेषणाऽभाव-प्रयुक्त विशिष्टाऽभाव :—

किसी घर में एक नील घट है। इसमें दो अंश हैं :—नील (= विशेषण) तथा घट (= विशेष्य)। यदि किसी को यह पूछा जाय कि उस घर में पीत घट है या नहीं, तो वह उत्तर देगा नहीं। यहाँ प्रश्न-वाक्य में भी दो अंश हैं—पीत (= विशेषण) तथा घट (= विशेष्य)। अब घर की स्थिति को सामने रखने से स्पष्ट है कि उस घर में प्रश्न के अन्तर्गत आए हुए विशेष्य—घट—की सत्ता रहने पर भी केवल विशेषण—पीत—के अभाव से ही उत्तर में पीत घट का अभाव बता दिया गया। इसी को विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव कहा जाता है।

(ख) विशेष्याऽभाव-प्रयुक्त विशिष्टाऽभाव :—

किसी घर में नील घट के रहने पर भी 'नीलः पटः नास्ति' यह प्रतीति अनुभव-सिद्ध है। इस प्रतीति में नील रूप-विशिष्ट पट का अभाव प्रतीयमान है। यह विशिष्टाऽभाव स्पष्टतः विशेष्य—पट—के अभाव के कारण ही है, क्योंकि विशेषण—नील रूप—तो नील-रूप-विशिष्ट-घट-युक्त गृह में वर्त्तमान ही है।

(ग) उभयाऽभाव-प्रयुक्त विशिष्टाऽभाव :—

नील घट के रहने पर भी 'पीतः पटः नास्ति' इस प्रतीति में भासमान पीत-रूप-विशिष्ट-पटाभाव विशेषण—पीत रूप—तथा विशेष्य—पट—इन दोनों के अभाव के कारण प्रतीत होता है।

पक्षता में भी सिषाधयिषाऽभाव-विशिष्ट सिद्धि का अभाव उपर्युक्त तीनों ही प्रकारों से हो सकता है। जहाँ विशेषण—सिषाधयिषाऽभाव—नहीं है[1] किन्तु विशेष्यभूत सिद्धि है, वहाँ भी विशेषणाऽभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव—सिषाधयिषाऽभाव-विशिष्ट सिद्ध्यभाव—होगा, फलतः पक्षता बनेगी। एवञ्च 'पर्वतः वह्निमान्' इस सिद्धि के रहने पर भी यदि सिषाधयिषाऽभाव-स्वरूप विशेषण का अभाव, अर्थात् सिषाधयिषा, होगी तो अनुमिति होगी हो, उसमें कोई प्रतिबन्धक नहीं होगा। यदि विशेषण—सिषाधयिषाऽभाव—है परन्तु सिद्धि नही है (जैसे, उपर्युक्त घन-गर्जन से मेघानुमान में) वहाँ विशेष्य—सिद्धि—के अभाव के कारण ही विशिष्टाऽभाव, अर्थात् सिषाधयिषाऽभाव-विशिष्ट-सिद्ध्यभाव, रहेगा और पक्षता बन जाएगी। जहाँ विशेषण—सिषाधयिषाऽभाव—भी नहीं है और विशेष्य—सिद्धि—भी नहीं है वहाँ तो स्पष्ट

---

१. सिषाधयिषाऽभाव नहीं है—इसका अर्थ है सिषाधयिषा है, क्योंकि दो अभाव से प्रथमाऽभाव-प्रतियोगी की प्रतीति होती है।

ही सिषाधयिषाऽभाव-विशिष्ट-सिद्ध्यभाव रहेगा और इसलिए पक्षता रहने में कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। परन्तु जहाँ विशेषण भी होगा और विशेष्य भी वहाँ तो पक्षता होने की कोई भी स्थिति नहीं आती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त गर्जन-हेतुक मेघानुमान की उपपत्ति 'साध्य-सन्देहः पक्षता' या 'सिषाधयिषा पक्षता' इन दो मतों में से किसी भी मत में नहीं हो पाती है, जब कि "सिषाधयिषाऽभाव-विशिष्ट-सिद्ध्यभावः पक्षता" के मानने पर विशेष्य—सिद्धि—के अभाव के कारण विशिष्टाभाव के उपपादन हो जाने से पक्षता की उपपत्ति के द्वारा गर्जन-हेतुक मेघानुमान की सुतराम् उपपत्ति हो जाती है। अतः उपर्युक्त दोनों मतों की उपेक्षा कर तृतीय मत में ही आस्था रखनी चाहिए।

यहाँ यह देखना चाहिए कि सिषाधयिषा तथा अनुमिति में समान-विषयकत्व होना चाहिए, अर्थात् "पर्वतो वह्निमात् धूमात्" इस अनुमिति में "धूमेन पर्वते वह्न्यनुमितिः जायताम्" यही सिषाधयिषा तादृश-सिद्ध्यभाव-रूप पक्षता का (विशेषण—सिषाधयिषा-विरह—के विघटन द्वारा) प्रयोजक होती है, जो कोई सिषाधयिषा नहीं। इससे अधिक विवरण पक्षता-प्रकरण के ऊपर उपनिबद्ध नव्य-न्याय के ग्रन्थों में ही देखना चाहिए। संक्षेप में समझने के लिए सिद्धान्त-मुक्तावली का भी उपयोग किया जा सकता है।

अनुमिति के प्रकार

प्रशस्त-पादाचार्य ने अनुमिति के दो भेद किए हैं :—दृष्ट तथा सामान्यतोदृष्ट। जिस साध्य के साथ व्याप्ति-ग्रहण होता है उसी[1] जाति से सम्पन्न साध्य की अनुमिति दृष्ट अनुमिति है। तात्पर्य यह है कि पक्ष-वृत्ति-साध्य तथा सपक्ष-वृत्ति-साध्य में यदि समान-जातीयत्व हो तो हम अनुमान को दृष्ट अनुमान कह सकते हैं। जैसे :—महानस में वह्नि के साथ धूम की व्याप्ति गृहीत होती है। तदनन्तर पर्वत में पुनः पक्षधर्मताऽदि-ज्ञान से अनुमिति होती है :—"पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः, यथा महानसम्, तथा चायम्, तस्मात्तथा"। यहाँ स्पष्ट है कि पक्ष—पर्वत—मे वह्नित्व-जाति-विशिष्ट वह्नि साध्य है और सपक्ष में गृहीत-व्याप्तिक वह्नि भी वह्नित्व-जाति-विशिष्ट है। अतः इसे हम दृष्ट अनुमान कहते हैं। यही अनुमान पूर्ववत् अनुमान भी कहलाता है।

व्योम-शिवाचार्य का कथन है कि पक्ष तथा सपक्ष में वर्त्तमान साध्य में जाति की समता अपेक्षित नहीं अपि तु धर्म की समता अपेक्षित है। उपर्युक्त

१. जाति पद उपाधि-साधारण है।

अनुमान में भी वह्नित्व-जाति में साम्य नहीं देखना है अपि तु सपक्ष—महानस—में वर्त्तमान साध्य में धूमवत्व है और पक्ष—पर्वत—में साध्यमान साध्य में भी धूमवत्व है। अतः दृष्ट अनुमिति में पक्ष तथा सपक्ष में वृत्ती साध्य में धर्म-गत अभेद, अर्थात् हेतु-सम्बन्ध-साम्य, अपेक्षित है, जाति-गत साम्य[1] नहीं। परन्तु सामान्यतो-दृष्ट-प्रकार से सङ्कीर्ण होने के कारण यह मत चिन्त्य है।

सामान्यतो-दृष्ट अनुमान का अर्थ वह अनुमान है जिसमें [2]पक्ष-वृत्ति-साध्य तथा सपक्ष-वृत्ति-साध्य में विजातीयत्व हो। कृषक आदि की ऐह-लौकिक प्रवृत्तियों में सफलता को देखकर यह सामान्य-व्याप्ति बन जाती है :—"यत्र यत्र प्रवृत्तित्वम् तत्र तत्र सफलत्वम्"। अब वर्णाश्रम-धर्मादि के अनुष्ठाताओं की प्रवृत्ति में भी सफलत्व का अनुमान उसी सामान्य-व्याप्ति पर की जाती है :—"इयं यज्ञादि-प्रवृत्तिः सफला प्रवृत्तित्वात्, कृषकादि-प्रवृत्तिवत्।" इस अनुमिति का साध्य स्वर्गादि है परन्तु कृषक आदि का साध्य है शस्यादि। एवञ्च पक्ष-वृत्ती साध्य तथा सपक्ष-वृत्ती साध्य में विजातीयत्व स्पष्ट है। अतः इसे सामान्यतो-दृष्ट-अनुमिति-शब्द से अभिहित किया जाता है। इस विषय में श्रीधराचार्य का कथन अत्यन्त स्पष्ट है :—

"...अनुमानोदयस्तु[3] प्रवृत्तित्व-सामान्यस्य फलवत्त्व-सामान्येन अविनाभावात्। अत एव चेदं सामान्यतो-दृष्टमित्युच्यते, सामान्येन नियम-दर्शनात्"।

उपर्युक्त दोनों प्रकार अन्वयनुमान के हैं। व्यतिरेकाऽनुमान की स्थिति स्वतन्त्र मानना ही अच्छा है। किसी प्रकार से सामान्यतो-दृष्ट अनुमान में भी व्यतिरेकानुमान का अन्तर्भाव हो सकता है, परन्तु प्रकिया बहुत उपपन्न नहीं लगती है। अतएव सूत्र-कारने भी आकाशाऽनुमान के प्रसङ्ग में "परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य" लिखा है।

स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान

प्रकारान्तर से यह अनुमिति पुनः दो प्रकार की होती है:—स्वार्थ तथा परार्थ। स्व-प्रतिपत्ति-निमित्त अनुमान स्वार्थानुमान है। परार्थानुमान के विषय में प्रशस्तपादाचार्य का कथन है :—

---

१. विशेष-विवरण के लिए देखिए—व्योम०, पृ० ५७४।

२. वस्तुतः इस प्रसङ्ग में तथा दृष्टानुमान-प्रसङ्ग में भी, पक्ष तथा सपक्ष से कोई तात्पर्य नहीं है, व्याप्ति-ग्रहण-विषयी-भूत पदार्थ तथा अनुमिति विषयीभूत पदार्थ में ही साजात्य (दृष्ट में) तथा वैजात्य (सामान्यतो-दृष्ट में) अपेक्षित है।

३. न्या० क०, पृ० ५०९।

"पञ्चावयवेन वाक्येन[१] स्व-निश्चितार्थ-प्रतिपादनम् परार्थानुमानम् ।"

इस वाक्य में प्रयुक्त 'स्व-निश्चित' शब्द के कई अर्थ किए जाते हैं। मुख्य रूप में इसके दो अर्थ हैं :—हेतु और साध्य। प्रथम अर्थ के अनुसार, साध्याऽविनाभूत (साध्य-व्याप्य) हेतु का प्रतिपादक पञ्चावयव-वाक्य-प्रयोग ही परार्थानुमान है। द्वितीय अर्थ के अनुसार, लिङ्ग-प्रतिपादन के द्वारा साध्य-प्रतिपादक-पञ्चावयव-वाक्य-प्रयोग परार्थानुमान[२] है।

पञ्चावयव

वैशेषिक दर्शन के अनुसार, अनुमान-वाक्य के पाँच अवयव (अवयवा इव अवयवाः) होते हैं :—
प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान तथा प्रत्याम्नाय।

(क) प्रतिज्ञा

प्रमाणाविरुद्ध साध्य-विशिष्ट पक्ष का निर्देश ही प्रतिज्ञा है। यथाः—"पर्वतो वह्निमान्"। हेतु का प्रयोग आश्रय-सामान्य में साध्य की सिद्धि के लिए नहीं होता है, क्योंकि आश्रय-सामान्यान्तर्गत महानसादि आश्रय में साध्य—वह्नि—के प्रसिद्ध रहने के कारण पुनः तत्प्रसिद्ध्यर्थं हेतु-प्रयोग निष्फल हो जायगा। अतः किसी आश्रय-विशेष में ही साध्य की सिद्धि के लिए हेतु का प्रयोग स-प्रयोजन होता है। एवञ्च यदि धर्मि-विशेष (= आश्रय-विशेष) पर्वत आदि का उपन्यास नहीं हो तब तो निराश्रित हेतु की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, फलतः हेतु-प्रवृत्त्यभाव में साध्य की सिद्धि असम्भव हो जाएगी। अतः प्रतिज्ञा, साध्य-साधन के लिए अत्यावश्यक हेतु के प्रयोग की उपपत्ति के लिए, हेतु के आश्रय-विशेष का प्रमापक होती है—यही इस (प्रतिज्ञा) की, अनुमान-वाक्य में, उपयोगिता है।

(ख) अपदेश

हेतु का निर्देश अपदेश कहलाता है। इसी अवयव को न्याय-दर्शन में 'हेतु' कहा गया है। हेतु का अर्थ प्रशस्त-देव ने निम्न-लिखित रूप में किया है :—

"अनुमेयेन सम्बद्धम् प्रसिद्धञ्च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्[3] ॥"

---

१. पदार्थ-धर्म-संग्रह, पृ० ५५८।
२. देखिए—व्योम०, पृ० ५९४; न्या० क०, पृ० ५५९।
३. प० ध० सं०, पृ० ४०८।

पक्ष, अर्थात् उपर्युक्त पक्षता से सम्पन्न धर्मी, में वर्तमान, सपक्ष, अर्थात् निश्चित-साध्यवान् पदार्थ, में प्रसिद्ध (अर्थात् गृहीत-व्याप्तिक) एवम् विपक्ष, अर्थात् निश्चित-साध्याभाववत्पदार्थ, से अत्यन्त असम्बद्ध पदार्थ ही हेतु कहलाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हेतु में पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व एवम् विपक्ष-व्यावृत्तत्व की अपेक्षा होती है। हेतु तीन प्रकार का होता है :—केवलान्वयी, अर्थात् अन्वय-व्याप्ति मात्र से सम्पन्न; केवल-व्यतिरेकी, अर्थात् व्यतिरेक-व्याप्ति मात्र से सम्पन्न; एवम् अन्वय-व्यतिरेकी, अर्थात् उभय-व्याप्तिक। उपर्युक्त त्रिविध हेतु का सामान्य लक्षण तो है साध्य-साधन-क्षमत्व (क्षमता भी व्याप्ति-प्रयुक्त होनी चाहिए)। "अनुमेयेन सम्बद्धम्" आदि से उपात्त लक्षण का समन्वय उपर्युक्त त्रिविध हेतु से निम्न-लिखित रूप में करना चाहिए :—

(१) पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व—केवलान्वयी,

(२) पक्ष-सत्त्व, विपक्ष-व्यावृत्तत्व—केवल-व्यतिरेकी,

(३) पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्ष-व्यावृत्तत्व—अन्वय-व्यतिरेकी।

प्रमेयत्वादि हेतु केवलान्वयी हैं। समस्त जीवित शरीर को साध्य बनाने पर प्राणादिमत्त्व हेतु तथा तत्समान हेत्वन्तर केवल-व्यतिरेकी हेतु हैं। धूमादि हेतु अन्वय-व्यतिरेकी हैं।

उपर्युक्त तीन धर्मों से अंशतः-च्युत होने पर भी हेतु सद्धेतु नहीं, अपितु हेत्वाभास हो जाता है। हेत्वाभास का विवरण पञ्चावयव-निरूपण के पश्चात् किया जाएगा।

(ग) निदर्शन

व्याप्ति-निर्देश-सहित दृष्टान्त का प्रतिपादन निदर्शन है। यथा:—"(पर्वतो वह्निमान् धूमात्) यो यो धूमवाद् स स वह्निमान् , यथा महानसम्।" इसी अवयव को न्याय-दर्शन में 'उदाहरण' कहा जाता है। निदर्शन दो प्रकार का हो सकता है :—अन्वय तथा व्यतिरेक। अन्वय-व्याप्ति के आधार पर प्रतिपादित निदर्शन अन्वय-निदर्शन है। इसका उदाहरण उपर्युक्त है। व्यतिरेक-व्याप्ति पर आश्रित निदर्शन व्यतिरेक-निदर्शन है। जैसे उपर्युक्त "पर्वतः ह्निमान् धूमात्" का निम्न-निर्दिष्ट निदर्शनः—"यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः, यथा महा-ह्रदः।" केवल-व्यतिरेकी का केवल व्यतिरेक-निदर्शन तथा अन्वय-व्यतिरेकी हेतु के दोनों ही प्रकार के निदर्शन होते हैं। उपर्युक्त दोनों निदर्शनों को ही क्रमशः साधर्म्य-निदर्शन तथा वैधर्म्य-निदर्शन कहा जाता है।

(घ) अनुसन्धान

व्याप्ति-विशिष्ट हेतु का धर्मी में प्रतिपादन करनेवाला वाक्यांश 'अनुसन्धान' है । इसी को न्याय-दर्शन में 'उपनय' कहा जाता है । इसे 'अनुसन्धान' इसलिए कहा जाता है कि इसके द्वारा पूर्वाऽवगत व्याप्ति-ज्ञान तथा पक्षधर्मता-ज्ञान का ही (समन्वित रूप में) उपादान होता है । अनुसन्धान भी, निदर्शन के समान, साधर्म्य तथा वैधर्म्य के भेद से दो प्रकार का होता है :— 'तथा चायम् = वह्निव्याप्य-धूमवांश्चायम् पर्वतः'—साधर्म्य अनुसन्धान है और "न चायं तथा = वह्न्यभाव-व्यापकीभूतधूमाभाववान् अयम्पर्वतः[1] न" वैधर्म्य अनुसन्धान है । इसकी उपयोगिता परामर्श की उपयोगिता, जिसका विवरण पहले किया जा चुका है, पर निर्भर है ।

(ङ) प्रत्याम्नाय

व्याप्ति-विशिष्ट-पक्ष-धर्म (= हेतु) के कथन के द्वारा प्रतिज्ञा-वचन से पक्ष मे अनिश्चित साध्य का निश्चायक वचन ही 'प्रत्याम्नाय' है । यथा :— "तस्माद्धूमवान् पर्वतो वह्निमान् ।" यही प्रत्याम्नाय समान-तन्त्र में 'निगमन' शब्द से व्यवहृत होता है ।

सभी न्यायावयवों के उपयोग के लिए न्याय-भाष्य आदि तथा तत्त्व-चिन्तामणि का व्याख्योपबृंहित अवयव-प्रकरण द्रष्टव्य हैं ।

हेत्वाभास

अपदेश का निरूपण करते हुए हेतु के तीन धर्मों—पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व तथा विपक्ष-व्यावृत्तत्व —का उल्लेख किया गया है । इन तीन धर्मों में में से किसी भी धर्म से रहित हेतु वस्तुतः हेतु नहीं अपि, तु हेत्वाभास हो जाता है । अत एव पशस्त-पादाचार्य का कथन है :—

> "विपरीतमतो यत् स्यात्[2] एकेन द्वितयेन वा ।
> विरुद्धाऽसिद्ध-सन्दिग्धम् अलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥"

हेत्वाभास के विषय में न्याय-भाष्यकार का कथन है :—"हेतु-लक्षणाऽभावादहेतवः, हेतु-सामान्यात् हेतुवत् आभासमानाः[3] (हेत्वाभासाः) ।" हेतु

---

१. अन्वयानुसन्धान में व्याप्य की सत्ता का अवगाहन होता है, परन्तु व्यतिरेकानुसन्धान में व्याप्य के विपरीत व्यापक—धूमाभाव, और सत्ता के विपरीत अभाव (= न) का अवगाहन होना तो स्वाभाविक ही है ।

२. प० भा० सं०, पृ० ४८० ।

३. न्या० भा० १।२।४ ।

तथा हेत्वाऽभास में सामान्य, अर्थात् सारूप्य तथा वैरूप्य, का विवरण न्याय-वार्त्तिक में बड़े ही स्पष्ट रूप में किया गया है :—

"किम्पुनः हेतुभिः अहेतूनां सामान्यम्, येन हेतुवत् आभासन्ते ? प्रतिज्ञानन्तरम् प्रयोगः सामान्यम्, यथैव हेतवः प्रतिज्ञाऽनन्तरम् प्रयुज्यन्ते एवमेव हेत्वाभासा अपि इत्येव सामान्यम् । अन्यतम-लिङ्गधर्मानुविधानम् वा; यद्वा[1] यत्साधनस्य लिङ्गस्य त्रैविध्यम् (पक्ष-सत्वम्, सपक्ष-सत्वम्, विपक्ष-व्यावृत्तत्वञ्च, एतच्च अन्वय-व्यतिरेकिणश्प्रकृत्य) । तदेकतमधर्मानुविधानम्, द्विलक्षणस्य (= पक्ष-सत्व-विपक्ष-व्यावृत्तत्व-सम्पन्नस्य केवल-व्यतिरेकिणः, पक्ष-सत्व-सपक्ष-सत्व-सम्पन्नस्य केवलान्वयिनः हेतोः) अन्यतर-धर्माऽनुविधानम्वा विवक्षितम् । साधकाऽसाधकत्वे तु विशेषः, हेतोः साधकत्वं धर्मः, असाधकत्वं हेत्वाभासस्य । किम्पुनस्तत् ? समस्त-लक्षणोपपत्तिः[2] (हेतौ), असमस्त-लक्षणोपपत्तिः (हेत्वाभासे) ।"

इन हेत्वाभासों की संख्या के विषय में न्याय-वार्त्तिक का कथन है—"द्वे सहस्रे[3] द्वात्रिंशके (२०३२), असिद्धादि-समुच्चयेन अनन्तो भेदः ।"

तथापि संक्षेप में व्यवहार-निर्वाह के लिए काणाद-दर्शन में तीन—विरुद्ध, [4]असिद्ध, अनैकान्तिक—अथवा अनध्यवसित, अर्थात् असाधरणानैकान्तिक, को लेकर चार[5] हेत्वाभास माने गए हैं ।

(१) विरुद्ध

सपक्ष में अवर्त्तमान परन्तु विपक्ष में वर्त्तमान व्याप्ति के आधार पर साध्य के विपरीत तत्व को सिद्ध करनेवाला हेत्वाभास विरुद्ध है । यथाः—"शब्दः नित्यः जन्यत्वात्" । यह जन्यत्व हेतु सपक्ष, अर्थात् सिद्ध-नित्य-भाव आकाश आदि, में वर्त्तमान भी नहीं है और "यत्र यत्र जन्यत्वम् तत्र तत्र अनित्यत्वम्" इस प्रामाणिक व्याप्ति के आधार पर साध्य (= नित्यत्व) से विपरीत अनित्यत्व का साधक भी है, अतः विरुद्ध हेत्वाभास है । विरुद्ध हेत्वाभास में विपक्ष-वृत्तित्व आंशिक भी हो सकता है और व्यापक भी, अर्थात् विपक्ष के अन्तर्गत आनेवाले कुछ ही पदार्थों में विरुद्ध हेत्वाभास की वर्त्तमानता हो सकती है अथवा विपक्ष-

---

१. "अन्यतम-लिङ्गधर्मानुविधानम् वा" का ही विवरण इस "यद्वा···" से किया गया है ।

२. न्या० वा०—१।२।४ ।

३. न्या० वा० १।२।४ ।

४. अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः । वै० सू० ३।१।१५ ॥

५. पदार्थ-धर्म-संग्रह, पृ० ५७६; न्या० ली०, पृ० ६०६ ।

मात्र में भी वर्त्तमानता हो सकती है; उभयथा हेत्वाभासत्व में कोई अनुपपत्ति नहीं होती है।

(२) असिद्ध

प्रशस्त-पाद के[1] अनुसार, असिद्ध चार प्रकार के हैं—उभयाऽसिद्ध, अन्यतराऽसिद्ध, तद्भावाऽसिद्ध, तथा अनुमेयाऽसिद्ध।

(क) वादी तथा प्रतिवादी—दोनों के लिए असिद्ध हेत्वाभास उभयाऽसिद्ध कहलाता है। जैसेः—"शब्दः अनित्यः सावयवत्वात्"। यहाँ शब्द-स्वरूप पक्ष में सावयवत्व वादी तथा प्रति-वादी—दोनों के लिए असिद्ध है।

(ख) वादी अथवा प्रति-वादी में एकतर के लिए असिद्ध हेत्वाभास अन्यतराऽसिद्ध है। यथाः—"शब्दः अनित्यः कार्यत्वात्"। यहाँ कार्यत्व हेतु के पक्ष, अर्थात् शब्द, से सम्बन्ध के विषय में मीमांसक लोगों की सम्मति नहीं है, केवल नैयायिक लोग ही शब्द में कार्यत्व मानते हैं।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार—उभयाऽसिद्ध तथा अन्यतराऽसिद्ध—स्वरूपाऽसिद्ध के ही प्रभेद माने जा सकते हैं। परन्तु स्वरूपाऽसिद्ध के इतने ही भेद नहीं है, ये तो केवल उपलक्षण हैं।

(ग) तद्भावाऽसिद्ध वह हेतु है जिसमें हेतुताऽवच्छेद का ही अभाव रहता है। जैसेः—"पर्वतो वह्निमान् काञ्चनमय-धूमात्"। यहाँ हेतु में हेतुतावच्छेदक-घटक काञ्चनमयत्व का अभाव है। यह व्याप्यत्वाऽसिद्ध का ही प्रभेद है; और इसे ही साधनाऽप्रसिद्ध भी कहा जाता है।

(घ) अनुमेयाऽसिद्ध हेत्वाभास उसे कहा जाता है जिसका अनुमेय, अर्थात् पक्ष या आश्रय, असिद्ध होता है। जैसेः—"गगन-कमलं सुरभि, कमलत्वात्"। यहाँ पक्ष, अर्थात् गगन-कमल, असिद्ध है। अत एव इसे आश्रयाऽसिद्ध भी कहा जाता है।

(३) अनैकान्तिक अथवा सन्दिग्ध हेत्वाभास

जो पक्ष, सपक्ष तथा तथा विपक्ष में वर्त्तमान होता है उसे अनैकान्तिक कहा जाता है। यथाः—"शब्दः नित्यः प्रमेयत्वात्"। यहाँ प्रमेयत्व, केवलान्वयी होने के कारण, शब्द, आकाशादि तथा घटादि में वर्त्तमान है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि यदि साध्य भी केवलान्वयी ही हो तब केवलान्वयी हेतु सन्दिग्ध हेत्वाभास नहीं होता।

इसी हेत्वाभास को साधारणानैकान्तिक या साधारण सव्यभिचार भी कहा जाता है। यह सन्देह का उद्भावक है, अतः सन्दिग्ध कहलाता है।

---

१. प० भा० सं०, पृ० ५७७।

(४) अनध्यवसित हेत्वाभास

जो पक्ष-मात्र में वर्त्तमान रहता है वह अनध्यवसित है। यथाः—"पृथिवी नित्या गन्धवत्त्वात्"। यहाँ गन्धवत्त्व हेतु सपक्ष आकाशादि तथा विपक्ष स्थूल जलादि से व्यावृत्त है, केवल पक्ष (= पृथिवी) में ही वर्त्तमान है; अतः इस हेतु के आधार पर कोई अध्यवसाय नही, अपि तु अनध्यवसाय (= अनिश्चय = निश्चयाभाव) ही बना रहता है पृथिवी की नित्यता के विषय में। इसे सन्दिग्ध हेत्वाभास के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह सन्देह का उद्भावक नहीं, अपि तु अनध्यवसाय, अर्थात् निश्चयाभाव, का ही प्रयोजक है। निश्चयाऽभाव और संशय एक पदार्थ नही अपि तु भिन्न पदार्थ हैं। एकत्र अथवा अनेकत्र गृहीत साधारण धर्म ही संशय का प्रयोजक होता, असाधारण धर्म नहीं—यह तो संशय के विवरण के प्रसङ्ग में बतलाया जा चुका है। अतः अनध्यवसित हेत्वभास स्वतन्त्र है, सन्दिग्ध का भेद-मात्र नहीं।

यदि तु, असाधारण धर्म को भी संशय का कारण मान लिया जाय तब तो अनध्यवसित का सन्दिग्ध हेत्वाभास में अन्तर्भाव हो सकता है। परन्तु हेत्वाभासों में आनन्त्य रहने के कारण प्रपञ्च तो अभीष्ट ही है; अतः अन्तर्भाव करने का प्रयास अपेक्षित नहीं है।

हेत्वाभास का उपर्युक्त विवरण तो महा-समुद्र में जल-बिन्दु-पात-मात्र है। समान-तन्त्र, अर्थात् न्याय-दर्शन, का अध्ययन अत्यावश्यक है, अन्यथा इनके भेद-प्रभेदों का संक्षिप्त परिचय भी प्राप्त करना असम्भव सा है।

स्मृति

स्मृति की परिभाषा न्याय-भाष्य-कार ने की है:—"स्मरणं खलु[1] पूर्वज्ञानस्य समानेन ज्ञात्रा ग्रहणम्।" स्मरण के प्रयोजक के विषय में महर्षि कणाद का कथन है:—"आत्म-मनसोः संयोग-विशेषात्[2] संस्काराच्च स्मृतिः।" गुण के उत्पादन में संयोग सापेक्ष कारण होता है, अतः स्मृति के उत्पादन में भी आत्म-मनः-संयोग-विशेष को पदार्थान्तर-सापेक्ष होना आवश्यक है। ये अपेक्षणीय पदार्थ न्याय-सूत्र में बतलाए गए हैं:—

"प्रणिधान-निबन्धाऽभ्यास-लिङ्ग[3]-लक्षण-सादृश्य-परिग्रहाश्रयाश्रित-सम्बन्धानन्तर्य-वियोगैककार्य-विरोधातिशय-प्राप्ति-व्यवधान-सुख-दुःखेच्छा-द्वेष-भयार्थित्व-क्रिया-राग-धर्माऽधर्म-निमित्तेभ्यः।"

---

१. न्या० भा० ३।२।३९।

२. वै० सू० ९।२।६।

३. न्या० सू० ३।२।४१।

इनसे अतिरिक्त, उन्माद[1] आदि भी स्मृति के प्रयोजक होते हैं।

स्मृति का विषय वही पदार्थ होता है जिसका अनुभव पहले हुआ रहता है। अत एव प्रशस्त-पादाचार्य का कथन है :—"अतीत-विषया[2] स्मृतिः"। तात्पर्य यह है कि स्मृति स्व-कारणीभूत पूर्वानुभव पर ही सर्वथा निर्भर रहती है।

स्मृति के अ-प्रमात्व का कारण

जैसा हम पहले देख चुके हैं, विद्या, या यथार्थ-ज्ञान, एवम् प्रमा—ये दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। प्रमा के लिए विद्या होना अनिवार्य है, पर विद्या के लिए प्रमा होना अनिवार्य नहीं है। प्रमा-शब्द यथार्थ-अनुभव-मात्र का उपस्थापन करता है। अत एव स्मृति, जो यथार्थ होकर भी अनुभव नहीं है, प्रमा नहीं कहलाती है। अब हमें यह देखना है कि यथार्थ अनुभव ही प्रमा-पद-वाच्य क्यों है, अथवा यथार्थ-स्मृति प्रमा-पद-वाच्य क्यों नहीं है।

स्मृति में प्रमात्व के अभाव को प्रमाणित करने के लिए तीन मत प्रचलित है :—

(क) अनर्थज (अर्थात् जिस वस्तु की स्मृति होती है वह वस्तु स्मृति-काल में वर्त्तमान नहीं रहती है) होने के कारण स्मृति[3] प्रमा नही है;

(ख) स्मृति का यथार्थत्व तथा अयथार्थत्व पूर्वानुभव पर आश्रित रहता है, अत एव[4] स्मृति प्रमा नहीं है; और,

(ग) लोक-व्यवहार में स्मृति में प्रमा-शब्द का अथवा स्मृति-कारण में प्रमाण-शब्द का व्यवहार नहीं होता है, अतः[5] स्मृति प्रमा नहीं है।

उपर्युक्त सभी मतों में द्वितीय मत, मेरी दृष्टि से, अधिक युक्ततर प्रतीत होता है। स्मृति के विषय में कुछ विवरण, मैंने अपने निबन्ध—"न्याय-वैशेषिकयोः स्मृतेः अप्रमात्वम्[6]"—में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव

शब्द-प्रमाण-वादी नैयायिकों के अनुसार, पदों से "एक-सम्बन्धि-ज्ञानम-पर-सम्बन्धि-स्मारकम्" के आधार पर स्मारित पदार्थों का आकांक्षा-भास्य

---

१. न्या० वा० ता० टी०, पृ० ५७६; न्या० म०, पृ० ८३–८४ (भा० १)।

२. प० ध० सं०, पृ० ६२६।

३. न्या० म०, पृ० २१।

४. न्या० क०, पृ० ६२७; न्या० क०, पृ० ४५६।

५. न्या० वा० ता० टी०, पृ० २१; न्या० कु०, पृ० ४५५।

६. डा० सत्करी मुकर्जी अभिनन्दन-ग्रन्थ में प्रस्तुत निबन्ध।

संसर्ग ही वाक्यार्थ है। तात्पर्य यह है कि वाक्य में प्रयुक्त पदों से ही पदार्थों का पृथक्-पृथक् उपस्थापन हो जाता है। वाक्यार्थ में विशकलित पदार्थों से अतिरिक्त उन पदार्थों का सम्बन्ध (किसी का कर्त्ता के रूप में, किसी का कर्म के रूप में, इसी प्रकार करण, क्रिया आदि के रूप में परस्पर-सम्बन्ध) ही अधिक प्रतीत होता है। अतः पदार्थों का परस्पर-संसर्ग ही वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ के प्रमापण के लिए ही आप्त-वाक्यात्मक शब्द-प्रमाण की आवश्यकता है।

परन्तु वैशेषिक-सम्प्रदाय का कथन है कि इस पदार्थ-संसर्ग-स्वरूप वाक्यार्थ की प्रतीति तो अनुमान-प्रमाण से ही हो जाती है। अतः शब्द को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। इसका स्पष्टी-करण इस प्रकार है :— "देवदत्तः पुस्तकम् आनयति" एक वाक्य है। यहाँ विशकलित पदार्थ हैं :— देवदत्त, कर्तृत्व, पुस्तक, कर्मत्व, आनयन, कृति। इन सभी पदार्थों के संसर्ग— जिसके कारण "पुस्तक-कर्मकानयनानुकूल-कृतिमान् देवदत्तः" यह वाक्यार्थ प्रतीत होता है—के बोध के लिए वाक्य का कोई प्रयोजन नहीं है, अपि तु अनुमान ही पर्याप्त है। अनुमान का स्वरूप निम्न-लिखित है :—

"एते (देवदत्तादयः) पदार्थाः, वक्तृ-तात्पर्य-विषयीभूत-परस्पर-संसर्गवन्तः आप्तोक्ताऽऽकांक्षादिमत्पद-स्मारितत्वात्, गामभ्याजेत्याप्तोक्ताऽऽकांक्षादिमत्पदस्मारित-पदार्थवत्॥"

दूसरा अनुमान भी हो सकता है :—

"एतानि पदानि स्व-स्मारित-वक्तृ-तात्पर्य-विषयीभूत-पदार्थ-परस्पर-संसर्गज्ञान-पूर्वकाणि (= ······ज्ञान-पूर्वकोच्चारणविषयाणि) आकांक्षादिमत्त्वे सति आप्तोक्त-पदत्वात्, गामभ्याजेत्याप्तोक्त-पद-कदम्बवत्।"

यद्यपि द्वितीय अनुमान का विषय संसर्ग-ज्ञान है (तात्पर्य यह है कि वाक्यार्थ संसर्ग है, अतः अनुमान संसर्ग का यदि होता तो संसर्ग-ज्ञान, अर्थात् वाक्यार्थ-ज्ञान, हो जाने से इष्ट-सिद्धि हो जाती, परन्तु प्रकृत अनुमान संसर्ग का नहीं अपि तु संसर्ग-ज्ञान का हो रहा है; अर्थात् वाक्यार्थ-ज्ञानात्मक अनुमान नहीं अपि तु वाक्यार्थ-ज्ञान-विषयक अनुमान हो रहा है, अतः इस अनुमान से संसर्ग—वाक्यार्थ—का ज्ञान असम्भव है) तथापि ज्ञान का ज्ञान प्रथम-ज्ञान के साथ-साथ उसके विषय को भी अपना विषय बनाता ही है; एवञ्च प्रकृत अनुमान संसर्ग-ज्ञान के साथ-साथ उसके विषय—संसर्ग—वाक्यार्थ—को भी विषय बनाता है। अतः इस द्वितीय अनुमान से भी संसर्गात्मक वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। यही संक्षेप में शब्द-प्रमाण के अनुमानान्तर्भाव का विवरण है। यह कलह नैयायिकों के साथ है, इसलिए यह

विचार अधिक गम्भीर है। वैशेषिक-मत की विशेष-प्रतिपत्ति के लिए किरणावली तथा कणाद-रहस्य आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

उपमान, अर्थापत्ति, चेष्टा, सम्भव तथा ऐतिह्य का भी अन्तर्भाव-प्रकार न्याय-कन्दली, किरणावली आदि में देखना चाहिए। विस्तर-भय से यहाँ उन युक्तियों का उपनिबन्ध नहीं किया जा रहा है।

प्रामाण्य-वाद

भारतीय दर्शन में 'प्रामाण्य-वाद' एक बहुत महत्त्व-पूर्ण विषय रहा है। सभी सम्प्रदायों ने इसके ऊपर यथा-स्थल विचार किया है। परन्तु मीमांसा तथा न्याय-वैशेषिक-शास्त्र में इसके ऊपर सर्वाधिक विचार किया गया है। यहाँ हम संक्षेप में मीमांसक-मत का निरास करते हुए न्याय-वैशेषिक मत का प्रतिपादन करेंगे।

ज्ञान-ग्राहक-सामग्री

जब चक्षु से घट का संयोग होता है तो "अयं घटः" इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति होती है। परन्तु सभी ज्ञान हमारी आत्मा के द्वारा गृहीत नहीं हो पाते हैं। यही कारण है कि रास्ते में आने के समय अनेक पदार्थों के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर भी हम उन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते हैं। अतः ज्ञान को आत्मा के द्वारा गृहीत करानेवाला कोई साधन है—यह सिद्ध है। ज्ञान को आत्मा के द्वारा गृहीत करानेवाला साधन ही 'ज्ञान-ग्राहक-सामग्री' शब्द से अभिहित किया जाता है।

यह ज्ञान-ग्राहक-सामग्री क्या है ? इस विषय में निम्न-लिखित मत हैं।

(क) न्याय-वैशेषिक-मतः—

इस मत के अनुसार, "अयं घटः" शब्द से अभिव्यज्यमान ज्ञान 'व्यवसाय' कहलाता है और उसको आत्मा के द्वारा गृहीत करानेवाला साधन, 'व्यवसाय' के पश्चात् होने के कारण, 'अनु-व्यवसाय' कहलाता है, जिसका स्वरूप होता है—"घटमहं जानामि" अथवा, "घट-विषयक-ज्ञानवानहम्"। एवञ्च यह स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक-सिद्धान्त के अनुसार, ज्ञान-ग्राहक-सामग्री है 'अनु-व्यवसाय'।

(ख) भाट्ट-मीमांसक-मतः—

कुमारिल भट्ट का कहना है कि "अयं घटः" इस ज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् "ज्ञातो घटः" इस प्रकार की प्रतीति होती है। यह प्रतीति घट में 'ज्ञातता' की सिद्धि करती है। इनके मत का सारांश निम्न-लिखित हैः—

"अयं घटः" इस ज्ञान का विषय घट होता है, पट आदि पदार्थ नहीं—यह सभी मानते हैं। अब यहाँ प्रश्न है कि 'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय घट ही होता है, पट नहीं—इसमें युक्ति क्या है ? साधारणतः ज्ञान तथा विषय के सम्बन्ध—विषय-विषयिभाव—के उपपादन के लिए "तदुत्पत्ति-सिद्धान्त" तथा "तादात्म्य-सिद्धान्त" का अवलम्बन किया जाता है। प्रथम पक्ष का अभिप्राय यह है कि यतः घट से ही "अयं घटः" इस ज्ञान की उत्पत्ति होती है अतः घट ही "अयं घटः" इस ज्ञान का विषय होता है, पदार्थान्तर नहीं। परन्तु इस पक्ष में यह अनुपपत्ति है कि जैसे "अयं घटः" इस ज्ञान में घट प्रयोजक है उसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय, घट-चक्षुः-सन्निकर्ष आदि भी प्रयोजक हैं। एवञ्च यदि प्रयोजक (उत्पादक) होने के कारण घट "अयं घटः" इस ज्ञान का विषय होता है तो उसी आधार पर चक्षु आदि को भी "अयं घटः" इस ज्ञान का विषय होना चाहिए, परन्तु ऐसा होता तो नहीं है। अतः 'तदुत्पत्ति-पक्ष' का अवलम्बन उचित नहीं है। दूसरे पक्ष के अनुसार, ज्ञान तथा घटादि पदार्थ में तादात्म्य होता है। यतः "अयं घटः" इस ज्ञान का घट के साथ ही तादात्म्य है अतएव घट ही "अयं घटः" इस ज्ञान का विषय माना जाता है, पदार्थान्तर नहीं। परन्तु इस पक्ष में यह अनुपपत्ति है कि बाह्य-पदार्थ तथा ज्ञान में तादात्म्य अनुभव-विरुद्ध है। अतः इस पक्ष के अवलम्बन से भी "विषय-विषयि-भाव" का उपपादन असम्भव है। जब तक विषय-विषयि-भाव का निर्धारण नहीं हो जाता है तब तक वैशेषिकों का "अनु-व्यवसाय" भी नहीं हो सकता है, क्योंकि 'अनुव्यवसाय' में घट-विषयक-ज्ञान विषय होता है।

अतः "अयं घटः" इस ज्ञान की उत्पत्ति के बाद "ज्ञातो घटः" इस प्रतीति से घट में ज्ञातता की सिद्धि होती है, क्योंकि जिस प्रकार घट वही होता है जो घटत्व से युक्त हो उसी प्रकार ज्ञात वही पदार्थ होगा जो ज्ञातता से युक्त हो (तात्पर्य यह है कि ज्ञात पदार्थ में वर्त्तमान धर्म ही ज्ञातता है)। यतः ज्ञात घट प्रत्यक्ष है अत एव घट-निष्ठ ज्ञातता भी, घट-निष्ठ घटत्वादि की तरह, प्रत्यक्ष-वेद्य है। परन्तु "ज्ञातो घटः" यह प्रतीति सर्वदा नहीं होती है अपि तु यदा-कदाचित्। इससे यह सिद्ध होता है कि घट में ज्ञातता कोई नित्य धर्म नहीं है, यदि वह नित्य-धर्म होती तो सर्वदैव "ज्ञातो घटः" यह प्रतीति होती रहती। एवञ्च "ज्ञातो घटः" इस प्रतीति का कादाचित्कत्व यह सिद्ध करता है कि घट में ज्ञातता की उत्पत्ति होती है। किसी पदार्थ की उत्पत्ति कारण के बिना नहीं हो सकती है, अतः उत्पन्न ज्ञातता का भी कोई कारण अवश्य होगा—यह निश्चित है। इसके कारण के ऊपर विचार करने पर स्पष्ट होता है

कि "अयं घटः" यह ज्ञान ही घट में ज्ञातता का उत्पादक है, क्योंकि उसी ज्ञान के बाद घट के विषय में 'ज्ञातः' यह प्रतीति होती है। अब विषय-विषयि-भाव का उपपादन सुकर है, क्योंकि "अयं घटः" इस ज्ञान के द्वारा घट में ही 'ज्ञातता' उत्पन्न होती है, पटादि में नहीं। अतः घट ही "अयं घटः" इस ज्ञान का विषय होगा, पटादि नहीं। एवञ्च प्रत्यक्ष-वेद्य घट-निष्ठ-ज्ञातता तत्प्रयोजकीभूत 'अयं घटः' इत्याकारक अतीन्द्रिय ज्ञान के बिना अनुपपन्न होकर अर्थापत्ति-प्रमाण से "अयं घटः" इस ज्ञान को सिद्ध करती है। इसी को "ज्ञातताऽन्यथाऽ (अन्यथा = अयं घट इत्याकारक-ज्ञानमन्तरा) नुपपत्ति-प्रसूताऽर्थापत्त्या अयं घट इति ज्ञानम् आत्मनि गृह्यते" शब्द से अभिव्यक्त किया जाता है। एवञ्च यह सिद्ध होता है कि भाट्ट-मीमांसक के मत में ज्ञान-ग्राहक-सामग्री है "ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्ति-प्रसूता अर्थापत्ति"।

(ग) प्राभाकर-मतः—

प्राभाकर-सम्प्रदाय के अनुसार, ज्ञान स्व-प्रकाश (स्व-विषयक) है। इनका कहना है कि "घटमहं जानामि" यही ज्ञान का स्वरूप है। इसके विषय के अन्तर्गत 'घटम्' पद से उपात्त घटात्मक प्रमेय, 'अहम्' पद से उपात्त आत्म-स्वरूप प्रमाता तथा 'जानामि'-पदोपात्त ज्ञान आते हैं। एवञ्च यह स्पष्ट है कि ज्ञान प्रमाता, प्रमेय तथा स्व (= प्रमा) को विषय बनाता है। प्रमाता तथा प्रमेय का प्रकाशन ज्ञान के अधीन है परन्तु ज्ञान अपने को स्वयम् प्रकाशित करता है, उसके प्रकाश के लिए अन्य तत्व की अपेक्षा नहीं है—जैसा "घटमहं जानामि" इस प्रतीति से ही सिद्ध है। प्रत्येक ज्ञान में प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमा की प्रतीति होने के कारण ही प्राभाकर-सम्प्रदाय "त्रिपुटी-भान" (त्रि = प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमा) की प्रक्रिया का प्रख्यापन करता है। अतः प्रभाकर-सम्प्रदाय के अनुसार, ज्ञान-ग्राहक-सामग्री स्वयम् ज्ञान ही है।

(घ) मुरारि-मिश्र-मतः—

मुरारि मिश्र के अनुसार, "अयं घटः" इस ज्ञान का ग्रहण "घटमहं जानामि" इस[1] अनुव्यवसाय से ही होता है।

---

१. गुरु-मते स्व-प्रकाशाऽऽदिना, मुरारि-मते अनुव्यवसायादिना, भट्ट-नये.........त० चि० आ०, पृ० ६०।

मनसैव ज्ञान-स्वरूपवत् तत्प्रामाण्य-ग्रह इति मुरारि-मिश्राः—कु० प्र०, पृ० २२०।

उपर्युक्त मतों का सारांश निम्न-लिखित है :—

ज्ञान-स्वरूप	ज्ञान-ग्राहक-सामग्री	सम्प्रदाय
(क) अयं घटः	"घटमहं जानामि" इत्याकारक अनुव्यवसाय	न्याय-वैशेषिक
(ख) ,,	"ज्ञातोघटः" इत्याकारक प्रत्यक्ष-विषयीभूत-ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्ति-प्रसूता अर्थापत्ति,	कुमारिल-भट्टानुयायी,
(ग) घटत्वेन घटमहं जानामि	स्वयम् ज्ञान	प्रभाकरा-नुयायी,
(घ) अयं घटः	"घटत्वेन घटमहं जानामि" इत्याकारक अनुव्यवसाय	मुरारि-मिश्रानुयायी।

प्रामाण्य-ग्रहण-विषयक विभिन्न मत

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जिस स्थिति में "अयं घटः" इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है वही स्थिति शुक्ति में "इदं रजतम्" इन ज्ञान में भी साधारणतः प्रतिभासित होती है। परन्तु "अयं घटः" इस ज्ञान से जब ज्ञाता की घट-विषयक प्रवृत्ति होती है तो वह सफल होती है, किन्तु "इदं रजतम्" इस ज्ञान के बाद रजतार्थी की प्रवृत्ति विफल होती है। अतः दोनों प्रकार के ज्ञान में तारतम्य मानना होगा। इस तारतम्य का आधार है प्रमात्व तथा अ-प्रमात्व। प्रथम ज्ञान—अयं घटः—मे प्रमात्व है और द्वितीय ज्ञान—इदं रजतम्—मे अप्रमात्व। इस प्रमात्व (प्रामाण्य) तथा अप्रमात्व (अप्रामाण्य) का ज्ञान कैसे होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भारतीय दर्शन में विभिन्न मत हैं। सभी मतों का वर्गीकरण स्वतः-प्रामाण्य-वाद तथा परतः-प्रामाण्य-वाद के रूप में किया गया है :—

(१) साङ्ख्य-मत—प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः।

(२) बौद्ध-मत—अप्रामाण्य स्वतः, प्रामाण्य परतः।

(३) जैन-मत—उत्पत्ति में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य परतः, ज्ञप्ति में दोनों स्वतः।

(४) वेदान्त-मत तथा मीमांसा-मत—प्रामाण्य स्वतः, अप्रामाण्य परतः।

(५) न्याय-वैशेषिक-मत—प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य परतः।

मीमांसकों का स्वतः-प्रामाण्य-वाद

जैसा पहले बतला जा चुका है, यहाँ मीमांसा-मत की आलोचना तथा न्याय-वैशेषिक-मत की स्थापना की जाएगी। प्रामाण्य-प्रकरण में 'स्व' शब्द का अर्थ होता है ज्ञान-ग्राहक-सामग्री और 'पर' शब्द का अर्थ होता है ज्ञान-ग्राहक-सामग्री से भिन्न पदार्थ। अतः स्वतः-प्रामाण्य का अर्थ होगा ज्ञान-ग्राहक सामग्री-ग्राह्यत्व और परतः-प्रामाण्य का अर्थ होगा ज्ञान-ग्राहक-सामग्री-भिन्न-पदार्थ-ग्राह्यत्व।

मीमांसकों के स्वतः-प्रामाण्य का अभिप्राय यह है कि उनके अनुसार वेद अपौरुषेय है। अतः उसका प्रामाण्य परतः तो हो नहीं सकता अपि तु स्वतः ही मानना पड़ेगा। इसी स्वतः-प्रामाण्य के उपपादन के लिए मीमांसकों ने ज्ञान-मात्र में स्वतः-प्रामाण्य मान लिया है। मीमांसकों के अनुसार सभी ज्ञान प्रामाण्य के साथ ही उत्पन्न होते हैं। अतएव ज्ञान स्वरूपतः अप्रमाण नहीं होता। प्राभाकरों ने तो भ्रम-ज्ञान—इदं रजतम्—में भी अ-ख्याति ही मानी है। उनका तर्क है कि पुरोऽवस्थित शुक्ति के साथ चक्षु के सन्निकर्ष होने से 'इदम्' इस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, जो यथार्थ है, क्योंकि यह ज्ञान पुरोऽवस्थित-विषयक है। पुरोऽवस्थित पदार्थ में चाकचिक्य आदि के प्रत्यक्ष से चाकचिक्यादि-सम्पन्न-रजत-विषयक संस्कार का उद्बोध हो जाता है, जिससे रजत की स्मृति होती है—रजतम्। एवञ्च 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम-स्थल में दो ज्ञान हैं—'इदम्' (अनुभव) तथा 'रजतम्' (स्मृति)। दोनों ही ज्ञान स्वरूपतः यथार्थ है। परन्तु दोष-वशात् अनुभव—इदम्—तथा स्मृति—रजतम्—में जो भेद है उसका ग्रहण नहीं हो पाता है जिसके परिणाम में हम लोग दोनों ज्ञान को एक समझने लगते हैं। अनुभव तथा स्मृति में भेद (विवेक) का अग्रहण[1] ही ज्ञान में भ्रमत्व है। वस्तुतः ज्ञान यथार्थ ही होता है। इसी को 'अ-ख्याति' कहते हैं। एवञ्च प्रमात्व अर्थात् प्रामाण्य, ज्ञान का धर्म है। अतः जिस प्रकार घट के आनयन में तद्गत नील-रूपादि का भी आनयन हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा ज्ञान (स्व) के ग्रहण होने पर ज्ञान-धर्म-स्वरूप प्रामाण्य का भी ग्रहण हो ही जाता है। अतः ज्ञान-गत-प्रामाण्य में ज्ञान-ग्राहक-सामग्री-ग्राह्यत्व (ज्ञान-ग्राह्यत्व) होने के कारण स्वतः-प्रामाण्य है। अ-प्रामाण्य तो इन्द्रिय-दोष आदि के कारण विवेकाऽग्रहण-प्रयुक्त है, अतः 'परतः' है।

---

१. विवेकाऽग्रह-निबन्धनो भ्रमः।

कुमारिल भट्ट भ्रम-स्थल' में 'अन्यथा[1]-ख्याति' को मानकर भी इतना तो मानते ही हैं कि ज्ञान प्रथमतः यथार्थ ही रहता है। अतएव रज्जु में सर्प के ज्ञान होने पर भय, कम्पन आदि की उपपत्ति होती है। यदि ज्ञान में उस समय यथार्थत्व नहीं रहता तो भय-कम्पादि की उपपत्ति नहीं होती। पीछे उस ज्ञान में भ्रमत्व आ जाता है—यह दूसरी बात है। अतः ज्ञान प्रथमतः प्रामाण्य-सम्बलित ही होता है। इसलिए ज्ञान-ग्राहक-सामग्री से ही ज्ञान तथा तद्गत प्रामाण्य का ग्रहण होता है। अतः प्रामाण्य स्वतः है। अप्रामाण्य तो अन्यान्य-कारण-वश प्रसिद्ध होने के कारण परतः है। मुरारि मिश्र का मत है कि अनुव्यवसाय घट, घटत्व तथा इन दोनों के सम्बन्ध को भी विषय बनाता है। अतः घटत्व-विशिष्ट में घटत्व-वैशिष्ट्य-विषयकत्व-स्वरूप प्रामाण्य अनुव्यवसाय से ही गृहीत हो जाता है। ज्ञान-ग्राहक-सामग्री में कुमारिल भट्ट ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्ति-प्रसूता अर्थापत्ति को तथा मुरारि मिश्र अनुव्यवसाय को मानते हैं—यह तो पहले बतलाया जा चुका है।

स्वतः-प्रामाण्य-वाद का खण्डन

उपर्युक्त तीनों मीमांसकों के स्वतः-प्रामाण्य-पक्ष के विरुद्ध नैयायिक-वैशेषिकों का कथन है कि यदि स्वतः-प्रामाण्य-वाद माना जाय तब अनभ्यास-दशाऽऽपन्न ज्ञान में सर्व-जनानुभव-सिद्ध संशय की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। तात्पर्य यह है:—ज्ञान दो प्रकार का होता है—अभ्यास-दशापन्न तथा अनभ्यासदशापन्न। जब ज्ञान के ग्रहण (अनुव्यवसाय) के बाद ज्ञाता की प्रवृत्ति हो जाती तब वह ज्ञान अभ्यास-दशाऽऽपन्न और प्रवृत्ति से पहले वह ज्ञान अनभ्यास-दशापन्न कहलाता है। अभ्यास-दशाऽऽपन्न ज्ञान में प्रवृत्ति की सफलता या विफलता के निश्चित हो जाने से प्रामाण्य-सन्देह नहीं होता है। परन्तु अनभ्यास-दशापन्न ज्ञान में संशय—इदं ज्ञानं प्रमा अप्रमा वा ?—अवश्य ही होता है—ऐसा सबों का अनुभव है। यदि मीमांसकों के मत के अनुसार, यह मान लिया जाय कि ज्ञान-ग्रहण-समकाल ही ज्ञान-गत-प्रामाण्य-ग्रहण भी हो जाता है तब तो प्रवृत्ति से पूर्व ही अनुव्यवसायादि के द्वारा ज्ञान-ग्रहण के साथ तद्गत-प्रामाण्य-ग्रहण भी हो ही जाएगा, फिर ज्ञान में प्रामाण्य-संशय—जो सर्वानुभव-सिद्ध है—की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। अतः स्वतः-प्रामाण्य-पक्ष अश्रद्धेय है।

---

१. प्राभाकरेण प्रपञ्च-ज्ञाने अन्यथा-ख्यातित्व-मात्रस्याप्यस्वीकारात् प्राभाकरो भाट्टाऽपेक्षया न्यूनः—न्या० र०, पृ० ११३; ···भट्ट-मते मुरारि-मते च अन्यथा-ख्यात्यभ्युपगमात्··· त० चि० आ०, पृ० ९१।

ज्ञातता-खण्डन

कुमारिल भट्ट ज्ञातताऽन्यथाऽनुपपत्ति-प्रसूता अर्थापत्ति से ज्ञान तथा तद्गत प्रामाण्य का ग्रहण मानते हैं। परन्तु ज्ञातता नाम का कोई पदार्थ प्रमाण-सिद्ध नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से जो उन्होंने ज्ञातता की सिद्धि की है वह अयुक्त है। विशिष्ट-प्रत्यक्ष-ज्ञान में विशेषण, विशेष्य तथा दोनों के सम्बन्ध से अतिरिक्त पदार्थ विषय नहीं होता है। 'दण्डी पुरुषः', 'नीलो घटः' आदि विशिष्ट-प्रत्यक्ष में दण्ड, पुरुष तथा दण्ड-पुरुष-संयोग एवम् नील, घट तथा नील-घट-समवाय से अतिरिक्त किसी भी पदार्थ का ज्ञान अनुभव-सिद्ध नहीं है। इसी प्रकार, "ज्ञातो घटः" यह भी विशिष्ट-प्रत्यक्ष है। अतः इसमें भी ज्ञान (विशेषण), घट (विशेष्य) तथा ज्ञान-घट-सम्बन्ध (विषयता) से अतिरिक्त ज्ञातता की प्रतीति नहीं हो सकती है। और भी, यदि 'ज्ञातो घटः' इस प्रत्यक्ष का विषय घट-निष्ठ-ज्ञातता भी हो तब तुल्य-युक्ति से "इष्टो घटः", "कृतो घटः" इत्यादि प्रतीतियों से घट में 'इष्टता' तथा 'कृतता' आदि की भी सिद्धि माननी पड़ेगी। अतः ज्ञातता की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। अत एव "ज्ञातो घटः" यह प्रत्यक्ष-ज्ञान ज्ञातता का अनुमापक भी नहीं हो सकता है।

ज्ञातता की सिद्धि में मीमांसक निम्न-लिखित प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं :—घट ज्ञान-क्रिया का कर्म है। नैयायिकों के कर्म का लक्षण है :—"पर-समवेत-क्रिया-जन्य-फल-शालित्वं कर्मत्वम्"। इससे स्पष्ट है कि पर (आत्मा) समवेत-ज्ञान-क्रिया अपने कर्म—घट—में किसी फल को उत्पन्न करती है और वही फल तो ज्ञातता है। अनुमान वाक्य है :—"ज्ञानं घट-निष्ठ-किञ्चिज्जनकं क्रियात्वात्, पाकादि-क्रियावत्"। परन्तु इस युक्ति से भी ज्ञातता की सिद्धि नहीं होती है। क्रिया का अर्थ यदि धात्वर्थ करें तो "शरेण गगनं युनक्ति" यहाँ गगन कर्म नहीं हो सकेगा, क्योंकि युज्-धात्वर्थ संयोग के द्वारा गगन में किसी फल का उत्पादन नहीं होता है। अतः "ज्ञानं घट-निष्ठ-किञ्चिज्जनकम् क्रियात्वात्" इस अनुमान में धात्वर्थ-सामान्यवाची क्रियात्व-हेतु किञ्चिज्जनकत्व-रूप साध्य का व्यभिचारी है। यदि क्रिया पद का अर्थ करण-व्यापार किया जाय तब भी उपर्युक्त क्रियात्व हेतु व्यभिचरित ही है, क्योंकि इन्द्रिय-संयोगादि में क्रियात्व के रहने पर भी इन्द्रिय-संयोगादि रूप करण-व्यापार से घटादि-कर्म में किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होने से घटादि-निष्ठ-किञ्चिज्जनकत्व नही है। अथ चेत् क्रिया का अर्थ 'स्पन्द' किया जाय तब तो उपर्युक्त अनुमान में प्रयुक्त क्रियात्व हेतु स्वरूपाऽसिद्ध (यः पक्षे न वर्त्तते स हेतुः स्वरूपाऽसिद्धः) हो जाता है, क्योंकि उपर्युक्त अनुमान के पक्ष—ज्ञान—

में स्पन्द (गति) नहीं है। अतः क्रियात्व हेतु से भी ज्ञान के द्वारा घटादि में ज्ञातता का जनन उपपन्न नहीं है।

एवञ्च "ज्ञातो घटः" इस प्रतीति के आधार पर विषयता-सम्बन्ध से ज्ञान में घट-विशेषणत्व-मात्र की प्रतीति होती है, अन्य किसी पदार्थ—ज्ञातता—की नहीं[1]। अत एव "पर-समवेत-क्रिया-जन्य-फल-शालित्वं-कर्मत्वम्" यह लक्षण भी अनुपादेय है। इस लक्षण के मानने पर "अभावः पटमाश्रयते" की अनुपपत्ति हो जाएगी, क्योंकि आश्रयण-क्रिया 'पर', अर्थात् अभाव, में समवेत नहीं है। इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए यदि यह कहा जाय कि 'समवेत-'शब्द सम्बन्ध-मात्रार्थक है, तब भी 'आत्मानं जानाति' में ज्ञान-क्रिया में पर-समवेतत्वाभाव के कारण आई हुई अनुपपत्ति के आधार पर उपर्युक्त कर्म-लक्षण का परित्याग कर "करण-व्यापार-विषयत्वं कर्मत्वम्" का ही अनुसरण करना उचित है।

विषय-विषयि-भाव के उपपादन के लिए (अर्थात यदि ज्ञातता न मानें तो "अयं घटः" इस ज्ञान का विषय घट ही क्यों होता है, इस प्रश्न का समाधान नहीं हो सकेगा; अतः विषय-नियम के उपपादन के लिए ज्ञातता की सत्ता मानना अनिवार्य है—इस अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली विषय-त्वान्यथाऽनुपपत्ति-प्रसूता अर्थापत्ति से) भी ज्ञातता की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि विषय-नियम का उपपादन ज्ञातता के आधार पर सम्भव नहीं है। मीमांसकों ने यह माना है कि "अयं घटः" इत्याकारक ज्ञान से घट में ज्ञातता की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि घट का धर्म है ज्ञातता। धर्म की उत्पत्ति धर्मी में होती है, अतः ज्ञातता की उत्पत्ति के समय धर्मी की सत्ता आवश्यक है। एवञ्च जहाँ ज्ञान का विषय (अतएव ज्ञातता का भावी आश्रय) वर्त्तमान है वहाँ तो धर्मी की उपस्थिति (वर्त्तमानता) के कारण उसमें ज्ञातताख्य धर्म की उत्पत्ति उपपन्न है, परन्तु जहाँ ज्ञान का विषय अतीत अथवा अनागत पदार्थ है वहाँ धर्मी के अभाव होने से धर्म—ज्ञातता—की उत्पत्ति कैसे होगी ? एवञ्च अतीतादि-विषय-स्थल में ज्ञातता के

---

१. इस विषय के विशेष विवरण के लिए—

अनैकान्त्यादसिद्धेर्वा न च लिङ्गमिह क्रिया।
तद्वैशिष्ट्य-प्रकाशत्वान्नाध्यक्षाऽनुभवोऽधिके ॥
अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्।
क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम् ॥ (न्या० कु० ४।३-४।)

की व्याख्या देखनी चाहिए।

अनुत्पाद के कारण ज्ञातता भी विषय-नियम का उपपादन करने में समर्थ नहीं है—यह सिद्ध है। अतः विषय-नियम का उपपादन ज्ञातता से अतिरिक्त किसी कारणान्तर के आधार पर ही करना उचित है। वह आधार अन्यानुपलब्धि के कारण स्वभाव को ही मानना होगा। एवञ्च विषय-नियमोपपादन के आधार पर भी ज्ञातता की सिद्धि नहीं हो पाती है। अतएव उदयनाचार्य ने कहा है :—

"स्वभाव-नियमाभावादुपकारो हि दुर्घटः।
सुघटत्वेऽपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा[1] ॥"

और भी, ज्ञातता यदि घट-वृत्ती धर्म है तो घट के समान, वह भी ज्ञान का विषय है। एवञ्च जैसे घट-विषयक ज्ञान घट में ज्ञातता का उत्पादन करता है उसी प्रकार घट-निष्ठ-ज्ञातता-विषय ज्ञान भी उस ज्ञातता में दूसरी ज्ञातता का उत्पादन करेगा—इस क्रम से अनवस्था आ जाती है। एवञ्च "अनवस्थादयो दोषाः सत्तां निघ्नन्ति वस्तुनः" के आधार पर भी ज्ञातता छिन्न-मूल हो जाती है। अतः इसके आधार पर विषय-नियम अनुचित है।

ज्ञातता के मानने पर भी अनुपपत्ति

यदि किसी प्रकार ज्ञातता को मान भी लिया जाय तब भी स्वतः-प्रामाण्य का उपपादन नहीं हो सकता है। स्वतः-प्रामाण्य में स्व-शब्द का अर्थ 'ज्ञान-ग्राहक-सामग्री' अभिप्रेत है। एवञ्च ज्ञान-ग्राहक-सामग्री तथा प्रामाण्य-ग्राहक-सामग्री एक नहीं हो सकती है, क्योंकि ज्ञान-मात्र से उत्पन्न ज्ञातता की अन्यथाऽनुपपत्ति से प्रसूत अर्थापत्ति ज्ञान-ग्राहक-सामग्री है परन्तु यथार्थ-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता की अन्यथाऽनुपपत्ति से प्रसूत अर्थापत्ति प्रामाण्य-ग्राहक-सामग्री है।

और भी, यदि यथार्थ-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता की अन्यथाऽनुपपत्ति से प्रसूत अर्थापत्ति ही यथार्थ-ज्ञान तथा तन्निष्ठ प्रामाण्य का ग्रहण कराती है, तब तो यह भी मानना उचित है कि अयथार्थ-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता की अन्यथाऽनुपपत्ति से प्रसूत अर्थापत्ति अयथार्थ-ज्ञान तथा तन्निष्ठ अप्रामाण्य का भी ग्रहण कराती है। एवञ्च प्रामाण्य में स्वतस्त्व के समान अप्रामाण्य में भी स्वतस्त्व ही मानना चाहिए। अतः सभी युक्तियों से यही सिद्ध होता है कि स्वतः-प्रामाण्य-वाद-मूल-भूत ज्ञातता अप्रामाणिक है।

अतः ज्ञातता के आधार पर प्रतिष्ठित स्वतः-प्रामाण्य-वाद अनुपादेय है।

---

१. न्या० कु० ४।२।

प्रभाकर तथा मुरारि मिश्र के मत में प्रसिद्ध स्वतः-प्रामाण्य के निरास के लिए पूर्वोक्त संशयानुपपत्ति-प्रदर्शन ही, संक्षेप में, पर्याप्त है।

परत:-प्रामाण्य-वाद

उपर्युक्त रीति से स्वतः-प्रामाण्य-वाद के निरास हो जाने पर न्याय-वैशेषिक-सम्प्रदाय परतः-प्रामाण्य का समर्थन करता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार, ज्ञान के अनुव्यवसाय होने पर सन्देह से ही ज्ञाता की प्रवृत्ति होती है। तदनन्तर यदि प्रवृत्ति में उसे सफलता मिल जाती है तो वह अनुमान करता है—"मदीयं ज्ञानं प्रमाणम्, सफल-प्रवृत्ति-जनक-त्वात्, यन्न प्रमाणं तन्न सफल-प्रवृत्ति-जनकम्, यथा शुक्तौ रजत-ज्ञानम्"। यदि प्रवृत्ति में विफलता होती है तो अप्रामाण्य का अनुमान करता है—"मदीयं ज्ञानमप्रमाणम्, विफल-प्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्न अप्रमाणं तन्न विफल-प्रवृत्ति-जनकम्, यथा प्रमात्मकं घटादि-ज्ञानम्"। यह तो अभ्यास-दशापन्न ज्ञान की स्थिति है, क्योंकि वहाँ अनुव्यवसाय के बाद ज्ञाता की प्रवृत्ति हुई रहती है जिससे प्रवृत्ति में सफलता अथवा विफलता निश्चित रहती है। अत एव प्रवृत्ति-साफल्य अथवा प्रवृत्ति-वैफल्य प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य की अनुमिति में हेतु का कार्य करता है। अभ्यास-दशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य व्यतिरेक-व्याप्ति के आधार पर सम्पन्न अनुमान से गृहीत होता है, ज्ञान-ग्राहक-सामग्री—अनुव्यवसाय—से नहीं। अतः परतः-प्रामाण्य तथा परत:-अप्रामाण्य उपपन्न हैं।

अनभ्यास-दशापन्न ज्ञान में तो अनुव्यवसाय के पश्चात् ज्ञाता की प्रवृत्ति नहीं हुई रहती है, अतः वहाँ प्रवृत्ति की सफलता या विफलता प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य की अनुमिति में यद्यपि हेतु नहीं हो सकती है तथापि अभ्यास-दशापन्न ज्ञान के साथ सादृश्य (सजातीयत्व) के आधार पर प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का अनुमान करना चाहिए—"इदं ज्ञानं प्रमाणं सफल-प्रवृत्ति-जनक-ज्ञान-सजातीयत्वात्, यन्न प्रमाणं तत् सफल-प्रवृत्ति-जनक-ज्ञान-सजातीयं न, यथा शुक्ति-रजतादि-ज्ञानम्"। अथवा—"इदं ज्ञानम्प्रमाणम् सफल-प्रवृत्ति-जनक-ज्ञान-सजातीयत्वात्, यत् सफल-प्रवृत्ति-जनक-ज्ञान-सजातीयं तत् प्रमाणम्, यथा रजतत्वावच्छिन्ने रजत-ज्ञानम्"। इसी प्रकार, विफल-प्रवृत्ति-जनक-ज्ञान-सजातीयत्व हेतु से अनभ्यास-दशापन्न ज्ञान में अप्रमाण्य की भी अनुमिति करनी चाहिए। अब यह स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक-मत में ज्ञान-ग्राहक-सामग्री है अनुव्यवसाय जब कि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य को ग्रहण कराने वाली सामग्री है सफल-प्रवृत्ति-जनकत्व-हेतुक अनुमिति आदि। अतः ज्ञान-ग्राहक-सामग्री-भिन्न-सामग्री-ग्राह्यत्व होने के कारण इस मत में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य परतः माने जाते हैं।

प्रामाण्य-वाद का उपर्युक्त विवरण अत्यन्त संक्षिप्त है। तथापि साधारण जिज्ञासुओं की दृष्टि से यह विवरण प्रस्तुत किया गया है। विशेष ज्ञान के लिए तत्त्व-चिन्तामणि एवम् "प्रमायाः परतन्त्रत्वात्[1]" आदि कारिका पर उदयनाचार्य की व्याख्या आदि का अवगम करना चाहिए।

(१७) सुख

जिस गुण की अनुभूति अनुकूल हो वही गुण सुख है। तात्पर्य यह है कि अभीष्ट वस्तु—माला, चन्दन आदि—के समीपस्थ होने पर उस वस्तु के ज्ञान तथा उसके साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष के द्वारा, धर्म की सहायता से सम्पन्न आत्म-मनः-संयोग से जिस पदार्थ की आत्मा में उत्पत्ति होती है वही सुख कहलाता है। अतीत-विषय का सुख तो अतीत-विषय-विषयक स्मरण से उत्पन्न होता है और अनागत-विषय से जो सुख की उत्पत्ति होती है वह सङ्कल्प—इदम् मे भविष्यति—से। स्मरण तथा सङ्कल्प इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-स्थानीय हैं। शेष कारण भूत, भविष्य तथा वर्तमान विषयों से सुख की उत्पत्ति में समान ही हैं।[2]

कुछ लोग सुख तथा दुःख दोनों को ज्ञान-स्वरूप मानते हैं। परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि सुख तथा दुःख में स्व-समानाधिकरण-स्व-विजातीय-असाधारण-कारण-जन्यत्व (अर्थात् सुख एवं दुःख के अधिकण आत्मा में वर्तमान सुख-दुःख-विजातीय धर्माऽधर्म, स्रक्, चन्दन, कण्टक विष-आदि के ज्ञान से सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है) है और ज्ञान में धर्माधर्म की असाधारण-कारणता नहीं होती है; एवम् स्व-समानाधिकरण-विजातीयासाधारण-कारण-जन्यत्व भी नहीं होता है। अतः सुख तथा दुःख को ज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ मानना चाहिए।[3]

सुख को दुःखाभाव-रूप एवम् दुःख को सुखाभाव-स्वरूप मानना भी उचित नहीं हैं, क्योंकि सुख, अर्थात् दुःखाभाव, के ज्ञान के लिए तत्प्रतियोगि-भूत दुःख-ज्ञान की पूर्वापेक्षा होगी और दुःख, अर्थात् सुखाभाव, को जानने के लिए सुख, अर्थात् दुःखाभाव, के ज्ञान की अपेक्षा होगी, जिससे सुख-ज्ञान तथा

---

१. न्या० कु० २।१।

२. आत्म-ज्ञानियों को जो सुख होता है वह तो विषयादि की अपेक्षा नहीं रखता है, प्रत्युत उस व्यक्ति के आत्म-ज्ञान, जितेन्द्रियत्व, सन्तोष (= अपरिग्रह) और निवृत्ति-लक्षण-धर्म से ही उत्पन्न होता है।

३. इस विषय के विशेष विवरण के लिए वै० सू० दशम अध्याय के प्रथम आह्निक को देखना चाहिए। और भी देखिए—व्योम०, पृ० ६२७–६२८।

दुःख-ज्ञान में अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा। अतः सुखादि-पदार्थों को परस्पराभाव-रूप नहीं माना जा सकता है। अतएव वाचस्पति मिश्र ने कहा है :—

"परस्पराऽभावात्मकत्वे तु परस्पराऽऽश्रयाऽऽपत्तेः[1] एकस्याऽप्यसिद्धेरुभयाऽसिद्धिः।"

इस युक्ति के अतिरिक्त, "सुखमनुभवामि" इत्यादि प्रतीतियों से भी सुखादि की भावरूपता सिद्ध होती है। कभी-कभी दुःखाभाव में सुख का प्रयोग तो औपचारिक है।

(१८) दुःख

जिस गुण की प्रतीति प्रतिकूल हो वह दुःख है। अनिष्ट वस्तु—सर्प, विष आदि—के सान्निध्य होने पर उस वस्तु के ज्ञान तथा उसके साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष के द्वारा, अधर्म-सहकृत आत्म-मनः-संयोग से आत्मा में दुःख की उत्पत्ति होती है। अतीत पदार्थों की स्मृति से दुःख की उत्पत्ति होती है, और भविष्य पदार्थों से तो, सुख के समान ही, संकल्प—'इदमनिष्टं मे भविष्यति'—से दुःख की उत्पत्ति होती है। इसके विषय में विशेष विचार सुख के प्रसङ्ग में किया जा चुका है।

(१९) इच्छा

अपने लिए या दूसरों के लिए जो अप्राप्त, अर्थात् अनागत, वस्तु की प्रार्थना—'इदं मे भूयात्', 'इदं तस्मै भूयात्' आदि—है वही इच्छा है। सुखादि-सापेक्ष आत्म-मनः-संयोग से इच्छा की उत्पत्ति होती है। यद्यपि सुख-साधनी-भूत अनागत-वस्तु के विषय में इच्छा होती है, इसलिए अनागत-वस्तु से उत्पत्स्यमान (अनागत) सुख वर्त्तमान-कालिक इच्छा की उत्पत्ति में निमित्त कारण नहीं हो सकता है—ऐसा प्रतीत होता है तथापि बुद्धि में पूर्व-सिद्ध होने के कारण अनागत-सुख भी निमित्त-कारण माना जाता[2] है।

इच्छा से इच्छा-विषयी-भूत वस्तु के ग्रहण करने में अपेक्षित प्रयत्न, स्मरणेच्छा से स्मरण, धर्म तथा अधर्म की उत्पत्ति होती है। काम आदि इच्छा के ही [3]प्रकार-विशेष हैं।

(२०) द्वेष

जिस गुण की उत्पत्ति होने पर जीवात्मा अपने को प्रज्वलित सा सोचने

---

१. सां० त० कौ०, का० १२।
२. न्या० क०, पृ० ६३५।
३. प० ध० सं०, पृ० ६३५–३६।

लगता है उसी का नाम द्वेष है। दुःख-सहकृत आत्म-मनः-संयोग से इसकी उत्पत्ति आत्मा में होती है। अतीत-वस्तु-विषयक द्वेष की उत्पत्ति तो दुःख-स्मृति-सापेक्ष आत्म-मनः-संयोग से होती है। द्वेष से यथायनुकूल प्रयत्न की, द्वेष-विषयीभूत पदार्थ की स्मृति की और धर्म तथा अधर्म की उत्पत्ति होती है। अनुचित-पदार्थ-विषयक द्वेष धर्म-जनक होता है जब कि उचित-पदार्थ-विषयक द्वेष अधर्म-जनक होता है।

(२१) प्रयत्न

"स यतते", "अहं यते" इत्यादि प्रतीतियों का असाधारण कारण तथा प्रयत्नत्व-जाति से सम्पन्न पदार्थ को प्रयत्न कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है :—जीवन-योनि, इच्छा-पूर्वक तथा द्वेष-पूर्वक।

(क) जीवन-योनि प्रयत्न :—

जीवन-योनि-शब्द का अर्थ है जीवन[1]-कारणक। जीवन-योनि प्रयत्न प्राण-सञ्चार का कारण होता है। यह प्रयत्न अतीन्द्रिय होता है, तथापि सुषुप्ति-काल में प्राण-सञ्चार से अनुमित होता है।[2] अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष-प्रयत्न के उत्कर्ष से दौड़ते हुए व्यक्ति के प्राण-सञ्चार में उत्कर्ष (= दीर्घ-श्वास-प्रश्वास-क्रिया) तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है। एवञ्च उपर्युक्त दृष्टान्त में प्राण-सञ्चार में प्रयत्न-साध्यत्व के दृष्टान्त से सामान्य-व्याप्ति बन जाती है :—"यत्र यत्र प्राण-सञ्चारः तत्र तत्र प्रयत्नः"। इसी व्याप्ति के आधार पर सुषुप्ति-काल में प्राण-सञ्चार के प्रत्यक्ष-ज्ञान होने पर तत्प्रयोजक प्रयत्न का भी अनुमान होता है।[3]

(ख) इच्छा-पूर्वक प्रयत्न :—

हित-साधक-वस्तु-ग्रहण-विषयक प्रयत्न इच्छा-पूर्वक प्रयत्न कहलाता है।

(ग) द्वेष-पूर्वक प्रयत्न :—

दुःख-साधक-वस्तु के परित्याग के लिए जो प्रयत्न होता है वह द्वेष-पूर्वक-प्रयत्न कहलाता है।

सप्त[4]-पदार्थी-कार के अनुसार, प्रयत्न के निम्न-लिखित तीन भेद माने जाते हैं :—

---

१. सदेहस्यात्मनो विपच्यमान-कर्माशय-सहितस्य मनसा सह संयोगः सम्बन्धः जीवनम्—न्या० क०, पृ० ६३८।

२. जीवन-योनिश्च यत्नः अतीन्द्रियः प्राण-सञ्चारानुमेयः, कथमन्यथा सुषुप्त्यवस्थायामपि श्वास-प्रश्वास-गताऽऽगतमिति भावः—उप० ५।२।१६।

३. नवीन नैयायिक लोग जीवन-योनि-प्रयत्न को नहीं मानते हैं।

४. प्रयत्नोऽपि विहित-प्रतिषिद्धोदासीन-विषयः—स० प०, पृ० ३५।

(क) विहित-विषयक प्रयत्न, (ख) प्रतिषिद्ध-विषयक प्रयत्न तथा (ग) उदासीन-विषयक प्रयत्न। देव-यात्रादि-विषयक प्रयत्न, परदारादि-गमन-विषयक प्रयत्न तथा जल-ताड़नादि-विषयक प्रयत्न को क्रमशः उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। वस्तुतः पूर्वोक्त मत तथा सप्त-पदार्थी-मत में अधिक भेद नहीं है।

(२२) धर्म

धर्म का लक्षण सूत्र-कारने स्वयम् किया है :—"यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः[1]।" धर्म के साधारणतः दो रूप हैं :—प्रवृत्ति-धर्म तथा निवृत्ति-धर्म। प्रवृत्ति-धर्म से अभ्युदय होता है तथा निवृत्ति-धर्म से मोक्ष (निःश्रेयस)। इस विषय में मनुस्मृति के निम्न-लिखित वचन द्रष्टव्य हैं :—

"सुखाऽऽभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥
इह चाऽमुत्र वा काम्यम् प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञान-पूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति[2] पञ्च वै॥"

प्रकारान्तर से धर्म के छे प्रकार माने गये हैं:—वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, वर्णाश्रम-धर्म, गुण-धर्म, निमित्त-धर्म तथा [3]साधारण-धर्म। इन सभी धर्मों के स्वरूप का परिज्ञान स्मृति-ग्रन्थों से [4]करना चाहिए।

(२३) अधर्म

कर्त्ता के अहित के साधक गुण को अधर्म कहा जाता है। अत एव गीता में कहा गया है :—

"उत्सन्न-कुल-धर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतम् वासो [5]भवतीत्यनुशुश्रुम॥"

---

१. वै० सू० १।१।२।

२. म० सं० १२।८८—९०।

३. मिता० (या० स्मृ०) १।१।

४. विहित कर्म के अनुष्ठान से धर्म की उत्पत्ति होती है। यही मीमांसकों के यहाँ अपूर्व कहलाता है। अपूर्व की आवश्यकता उदयनाचार्य ने सरल शब्दों में बतलाई है :—"चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयम् विना" न्या० कु० १।९।

५. गीता-१।४४; और भी देखिए :—या० स्मृ० २।२२१—२२५।

अधर्म की उत्पत्ति के विषय में निम्न-लिखित स्मृति-वचन भी अवलोकनीय हैं :—

"विहितस्याननुष्ठानात् निन्दितस्य च सेवनात्[1] ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥"

तथा :—

"अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्[2] ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥"

धर्म तथा अधर्म फलदर्शनानुमेय पदार्थ हैं ।

(२४) संस्कार

संस्कार के तीन भेद होते हैं :—वेग (Impulse), भावना (Impression) तथा स्थिति-स्थापक (Elasticity) ।

(क) वेग :—

यह गुण पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन मे रहता है । साधारणतः क्रिया से वेग की उत्पत्ति होती है, किन्तु कदाचित् यदि वेगवान् अवयव (कपाल आदि) से अवयवी (घट आदि) का आरम्भ हो तो वेग से भी (कारण-गुण-पूर्वक-क्रम से) वेग की[3] उत्पत्ति होती है । वैशेषिक-सिद्धान्त के अनुसार[4] यह वेग अन्तिम-कर्मोत्पत्ति-पर्यन्त एक ही माना जाता है । नैयायिक लोग कर्म-सन्तान की तरह वेग-सन्तान भी मानते हैं, परन्तु गौरव-ग्रस्त होने के कारण उनका मत वैशेषिकाचार्य को मान्य नहीं है । जैसे अन्तिम-कर्मोत्पत्ति-पर्यन्त एक ही वेग माना जाता है वैसे एक ही कर्म अन्तिम-प्रदेश-संयोग-पर्यन्त नहीं माना जा सकता है, क्योंकि कारणान्तर के अनुपलम्भ होने से स्वोत्पन्न उत्तर-प्रदेश-संयोग में ही कर्म-नाशकत्व युक्ति-सिद्ध है । एवञ्च यदि अवान्तर-प्रदेश-संयोगों में कर्म-नाशकत्व नहीं मानकर केवल अन्त्य-देश-संयोग में ही कर्म-नाशकत्व माना जाय (और इसी के आधार पर शरादि में कर्म-नानात्व का प्रतिषेध कर वेग के समान एक ही कर्म की कल्पना की जाय) तो उत्तर-देश-संयोग में वैजात्य की अप्रामाणिक कल्पना करनी पड़ेगी । अतः कर्म-सन्तान मानना चाहिए[5] । अत्यन्त-निविडावयव स्पर्शवान् द्रव्य में वर्त्तमान संयोग से

---

१. या० स्मृ० ३।२१९ ।

२. म० सं० ११।४४ ।

३. प्र० पा० भा०, पृ० ६४७; न्या० क०, पृ० ६४८; व्योम०, पृ० ६३५ ।

४. विशेष-विवरण के लिए सोपस्कार वै० सू० ५।१।१७ द्रष्टव्य है ।

५. वै० सू० ५।१।१६ (सोपस्कार) ।

तीव्र वेग का नाश होता है और मन्द वेग का नाश स्पर्शवान् द्रव्य के संयोग-मात्र से होता है[1]।

(ख) भावना :—

स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान[2] का हेतु जो संस्कार है वही भावना है। यह संस्कार पटु-प्रत्यय, आदर-प्रत्यय तथा अभ्यास-प्रत्यय से उत्पन्न होता है। आश्चर्यजनक अनुभूति को पटु-प्रत्यय कहा जाता है। जैसे :—दक्षिण देश में ऊँट के अभाव होने से कदाचित् जब दाक्षिणात्य को ऊँट का प्रत्यक्षानुभव होता है तो आश्चर्य होने लगता है। अतः इस आश्चर्यजनक पटु-प्रत्यय की अपेक्षा रखनेवाले आत्म-मनः-संयोग-विशेष-रूप असमवायि-कारण से उष्ट्र-विषयक संस्कार की उत्पत्ति आत्मा (= समवायि-कारण) में होती है। यह संस्कार दृढ़ होने के कारण, स्मृत्यतिशय का प्रयोजक होता है। अतएव दाक्षिणात्य को उष्ट्रदर्शन-जन्य संस्कार से भूयो-भूयः चिर-काल तक उष्ट्र-विषयक स्मृति होती है। किसी अपूर्व-वस्तु को देखने की इच्छा के अनुगुण प्रयत्न-विशेष से जन्य विद्युत्-सम्पात-ज्ञान के समान शीघ्रोत्पन्न ज्ञान को आदर-प्रत्यय कहा जाता है। इस आदर-प्रत्यय से सापेक्ष आत्म-मनः-संयोग (असमवायि-कारण) से आत्मा में संस्कार की उत्पत्ति होती है। जैसे :—"चित्रा-नक्षत्र से युक्त चैत्री पूर्णिमा के मध्य-रात्र में देव-सरोवर में चान्दी तथा सुवर्ण से निर्मित कमल का दर्शन होता है"—इस विषय को आगम[3] अथवा लोक-प्रवाद से सुनकर उस सरोवर के किनारे स-प्रयत्न खड़ा रहकर कोई व्यक्ति जो क्षण-मात्र के लिए भी उस कमल का दर्शन करता है उस (आदर-प्रत्यय) से उत्पन्न संस्कार चिर-काल-स्थायी होता है, और इसीलिए भूयो-भूयः उस कमल का स्मरण होते रहता है। पूर्व-पूर्व-संस्कार-सापेक्ष उत्तरोत्तर-प्रत्यय को अभ्यास-प्रत्यय कहा जाता है। जैसे :—आचार्य के द्वारा उच्चारित पद के श्रवण के पश्चात् संस्कार की उत्पत्ति होती है। पुनः शिष्य के द्वारा शब्दोच्चारण से जन्य ज्ञान पूर्व-संस्कार की अपेक्षा रखकर[4] ही संस्कारान्तर का उत्पादन करता है।

---

१. न्या० क०, पृ० ६४८।

२. प्रत्यभिज्ञान संस्कार-जन्य है—यह एक पक्ष है और दूसरे मत के अनुसार, प्रत्यभिज्ञान तत्ता-स्मृति-जन्य है। इस विषय में विशेष विचार कणाद-रहस्य, (पृ० १३३–१३४) न्या० कु० (का० ४।४ सव्याख्या) एवम् कु० प्र० (पृ० ४७४) में देखना चाहिए।

३. व्योम०, पृ० ६३६; न्या० क०, पृ० ६५८।

४. विशेष विवरण के लिए देखिए:—व्योम०, पृ० ६३५; न्या० क०, पृ० ६५०।

पुनः शिष्य के द्वारा उच्चारण करने पर पूर्व-संस्कार-द्वय-सापेक्ष-ज्ञान तृतीय संस्कार का उत्पादन करता है। इसी क्रम से विद्या के प्रसङ्ग में पूर्व-पूर्व-संस्कार-सापेक्ष उत्तरोत्तर-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यही अभ्यास-प्रत्यय है। इससे संस्कारातिशय की उत्पत्ति होती है। अत एव चिर-काल तक विद्या का स्फुट स्मरण होते रहता है।

पटु-प्रत्यय, आदर-प्रत्यय तथा अभ्यास-प्रत्यय को ही अनुगत-रूप में 'उपेक्षानात्मक-निश्चय' कहा गया है :—

"भावनाऽऽख्यस्तु संस्कारो जीव-वृत्तिरतीन्द्रियः।[1]
उपेक्षाऽनात्मकस्तस्य निश्चयः कारणम्भवेत्॥"

यह भावना अनुद्बुद्ध होने पर स्मृत्यादि का उत्पादन नहीं करती है। अतः स्मृति के लिए भावनाऽऽख्य संस्कार का उद्बोध अपेक्षित होता है। संस्कोरोद्बोधक तत्त्वों में सादृश्य-दर्शन, अनुचिन्तन तथा अदृष्ट आदि का परिगणन किया गया है। इनमें से अदृष्ट तो जन्मान्तर में भी संस्कार का उद्बोध कराता है। अत एव भगवान् अक्षपाद का कथन है :—

"पूर्वाभ्यस्त-स्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य[2] हर्ष-भय-शोक-सम्प्रतिपत्तेः॥"

यह भावना प्रतिपक्ष-ज्ञान से नष्ट हो जाती है। जैसे:—द्यूत-आदि-व्यसन-निमग्न व्यक्ति का पूर्वाध्ययनादि-जन्य संस्कार नष्ट हो जाता है। भोगासक्ति, क्रोध, द्वेष, तीव्र-वेदना, अत्यन्त-सुख आदि से भी संस्कार-नाश प्रसिद्ध है। इसी प्रकार मद तथा अभिशाप से भी संस्कार का नाश होता है। अतएव कालिदास का भी कथन है :—

"विचिन्तयन्ती यमनन्य-मानसा[3] तपोनिधिं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथाम् प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव॥"

उपर्युक्त प्रतिबन्धक के अभाव होने पर भी अनुभव-जन्य संस्कार का समान-विषयक चरम-स्मरण से नाश होता है, मध्य में तो एक ही संस्कार अनुवर्तमान होकर अनेक अवान्तर स्मृतियों का उत्पादन करता है।[4]

(ग) स्थिति-स्थापक :—

"(पूर्व-) स्थितौ स्थापयतीति स्थिति-स्थापकः" इस व्युत्पत्ति से यह अर्थ स्पष्ट होता है कि वाय्वादि-पदार्थाकृष्ट शाखा-आदि पदार्थों को, पूर्व-देश-संयोग-

---

१. कारि० १६०।
२. न्या० सू० ३।१।१८।
३. अ० शा० ३।२५।
४. द्रष्टव्य :—स्मृति-प्रक्रिया—मुक्ता०।

जनक-क्रिया-विरोधी पुरुष-प्रयत्न के अभाव होने पर, पुनः पूर्व-स्थिति में सम्पन्न करानेवाले संस्कार-विशेष को 'स्थिति-स्थापक' कहा जाता है। इसी पूर्व-स्थित्यापन्न शाखादि पदार्थों अथवा तत्समवेत पूर्व-स्थित्यनुकूल-क्रिया से स्थिति-स्थापक संस्कार का अनुमान होता है।

स्थिति-स्थापक संस्कार पृथिवी, जल, तेज तथा वायु में वर्त्तमान है, ऐसा प्रशस्त-पाद[1] आदि का मत है; परन्तु विश्वनाथ[2] आदि दार्शनिक केवल पृथिवी में स्थितिस्थापक मानते, शेष द्रव्यों में नहीं।

संक्षेपतो यथा-शास्त्रम् गुणा वैशषिकोदिताः।
व्याख्याताः, आकर-ग्रन्थे द्रष्टव्यः शास्त्र-विस्तरः॥

---

१. प० ध० सं०, पृ० ६५७; कणाद-रहस्य, पृ० १३४।

२. स्थिति-स्थापक-संस्कारः क्षितौ, केचिच्चतुर्ष्वपि॥ कारि० १५९।

चतुर्षु क्षित्यादिषु स्थिति-स्थापकं केचिन्मन्यन्ते, तदप्रमाणम् (जलादिष्वाकृष्टेषु सत्सु पूर्व-देश-संयोग-जनक-क्रिया-विरोधिनः पुरुष-प्रयत्नस्य अभावे सत्यपि पूर्व-देश-संयोग-जनक-क्रियाऽनुत्पत्त्या हेत्वभावेन जलादौ स्थिति-स्थापक-साधकानुमानाऽप्रवृत्तेः)—मुक्ता० का० १५९।

सप्तम अध्याय

कर्म

कर्म का लक्षण, सूत्र-कार के अनुसार, निम्न-लिखित है :—

"एक-द्रव्यमगुणम् संयोग-[1]विभागेष्वकारणमनपेक्ष इति कर्म-लक्षणम् ।"

इस सूत्र में उपात्त लक्षण में तीन अंश हैं :—एक-द्रव्यम्, अगुणम् तथा संयोग-विभागेष्वनपेक्ष-कारणम् । तीनों अंशों का विवरण निम्न-लिखित है :—

(क) एक-द्रव्यम् :—

एक ही द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाला पदार्थ यहाँ एक-द्रव्य[2] शब्द से अभिप्रेत है । तात्पर्य यह है कि एक द्रव्य में एक काल में एक ही कर्म रहता है और एक कर्म एक ही द्रव्य में रहता है । यदि एक द्रव्य में एक काल में अनेक कर्म माने जाँय तो वे कर्म परस्पर-विरुद्ध-स्वभाव अथवा समान-स्वभाव होंगे । विरुद्ध-स्वभाव होने पर किसी भी द्रव्य में संयोग अथवा विभाग की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि दोनों ही कर्म परस्पर-विरुद्ध-स्वभाव होने के कारण अपने समवायी द्रव्य को इधर-उधर नहीं होने देंगे । यदि दोनों कर्म समान-स्वभाव हों तब तो एक से ही विभागादि की उत्पत्ति हो जाएगी, पुनः कर्मान्तर की कल्पना निरर्थक है । अतः यह माना जाता है कि एक काल में एक द्रव्य में एक ही कर्म रहता है । इसी प्रकार, यदि एक ही कर्म, उदाहरण के लिए चलन को लिया जा सकता है, अनेक द्रव्यों में हो तब तो एक व्यक्ति के चलते समय सबों को चलना चाहिए, और एक के कर्म के अन्त होने पर सबों के कर्म का अन्त हो जाना चाहिए । परन्तु ऐसा होता नहीं है । अतः यह मानना चाहिए कि एक कर्म एक ही व्यक्ति में समवेत है, दूसरे व्यक्ति में तो उसका सजातीय दूसरा कर्म है ।

(ख) अगुणम् :—

गुण की सत्ता कर्म में नहीं होती, क्योंकि कर्म गुण का समवायि-कारण नहीं हो सकता है । अतः कर्म को गुण-शून्य माना जाना है ।

(ग) संयोग-विभागेष्वनपेक्ष-कारणम् :—

कर्म, संयोग तथा विभाग की उत्पत्ति में, स्वोत्तर-भावी भाव-पदार्थ की

---

१. वै० सू० १।१।१७ ।

२. यहाँ 'द्रव्य' शब्द भी मूर्त्त-द्रव्य-वाचक है ।

अपेक्षा के विना ही कारण होता है। कर्म से विभाग की जो उत्पत्ति होती है उसमें कर्म अपने से उत्तर-काल में उत्पद्यमान किसी भी पदार्थ की उपेक्षा नहीं रखता। कर्म की उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तर-क्षण में विभाग की उत्पत्ति होती है। संयोग के उत्पादन में कर्म यद्यपि स्व (= कर्म) से पश्चाद्भावी पूर्व-संयोग-नाश की अपेक्षा रखता है (क्रिया—विभाग—पूर्व-संयोग-नाश—उत्तर-देश-संयोग[1]) तथापि वह अपेक्षणीय पदार्थ अभाव-रूप है, भाव रूप नहीं। अतः निरपेक्षत्व की अनुपपत्ति नहीं होती है, क्योंकि निरपेक्षत्व का अर्थ है स्वोत्तर-भावि-भाव-पदार्थ-निरपेक्षत्व।

अतः कर्म का लक्षण निम्न-लिखित होता है :—एक-मूर्त्त-द्रव्य-समवेत, गुण-शून्य तथा संयोग एवम् विभाग के उत्पादन में स्व (= कर्म) से पश्चाद्भावी भाव-पदार्थ की अपेक्षा से रहित पदार्थ कर्म है।

कर्म के प्रकार :—

कर्म पांच प्रकार का होता है :—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, तथा गमन।

(क) उत्क्षेपण :—

स-प्राण शरीर के हस्तादि अवयव तथा उन अवयवों से सम्बद्ध मुसल आदि पदार्थों के अधो-देश-विभाग तथा ऊर्ध्व-देश-संयोग का कारण जो कर्म होता है वह उत्क्षेपण है।

(ख) अवक्षेपण :—

उपर्युक्त कर्म से विपरीत, अर्थात् ऊर्ध्व-देश-विभाग एवम् अधो-देश-संयोग का कारण, कर्म अवक्षेपण है।

(ग) आकुञ्चन :—

कोमल द्रव्य के अग्रावयवों का आधार-भूत प्रदेश से विभाग तथा मूल-प्रदेश से संयोग का कारण जो कर्म है वही आकुञ्चन है।

(घ) प्रसारण :—

आकुञ्चन से विपरीत, अर्थात् मूल-प्रदेश से विभाग तथा उत्तर-देश-संयोग का उत्पादक, कर्म प्रसारण है।

---

१. इसी संयोग से कर्म का विनाश होता है, क्योंकि कर्म-नाशक कारण के रूप में अन्य पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती। स्व-जन्य विभाग से कर्म के विनाश को मानने पर कभी भी उत्तर-देश-संयोग नहीं हो सकेगा। यदि उत्तर-देश-संयोग से भी कर्म का नाश न माना जाय तब तो कर्म का कभी नाश होना ही असम्भव हो जाएगा।

(ङ) गमन :—

अनियत रूप में जिस किसी भी देश से विभाग तथा अनियत-देश-संयोग का उत्पादक कर्म गमन कहलाता है। भ्रमण, रेचन आदि गमन के ही अवान्तर भेद हैं। अत एव गमन का लक्षण किया जाता है:—"उत्क्षेपणादि-चतुष्टय-भिन्नत्वे सति कर्मत्व-व्याप्य-जातिमत्वम्।"

कर्म के विषय में विशिष्ट-विचार के लिए पदार्थ-धर्म-सङ्ग्रह अवलोकनीय है। कर्म के विषय में इस प्रकार का विश्लेषण दर्शनान्तर में नहीं मिलता है। अतः इस विषय में प० ध० सं० आदि वै० द० के आकर-ग्रन्थ अवश्यावलोकनीय हैं।

सामान्य

व्यक्ति-भेद से परस्पर-भिन्न अनेक घट में जिस तत्व के कारण एकाऽऽकार प्रतीति (घटः घटः) होती है वही सामान्य है। इसी को "अनुवृत्ति-प्रत्यय-हेतुः सामान्यम्" शब्द से कहा जाता है। परस्पर-भिन्न घटों में यदि कोई सर्व-घट-सामान्य-धर्म नहीं होता तो सब के लिए एकाऽकार-प्रतीति कथमपि नहीं होती। अतः सर्व-साधारण-धर्म की सिद्धि होती है, और वही धर्म सामान्य कहलाता है। [सामान्य-शब्द के लिए प्राचीन सम्प्रदाय में सत्ता, जाति आदि शब्दों का प्रयोग होता है।] यह सामान्य द्रव्य, गुण तथा कर्म में समान रूप से वर्तमान है। यही कारण है कि द्रव्य, गुण तथा कर्म के विषय में समान रूप से 'द्रव्यं सत्', 'गुणः सन्', 'कर्म सत्' इत्यादि व्यवहार होते हैं। इसी द्रव्यादि-त्रिक-वृत्ति-सामान्य को सूत्र-कार ने 'सत्ता'[1] कही है। द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों में 'सत्' इस प्रतीति की एकता के कारण तीनों में रहनेवाली सत्ता भी एक ही है।[2] द्रव्यादि-त्रय से अतिरिक्त पदार्थ में किसी भी प्रकार का सामान्य नहीं रहता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सत्ता रहने के कारण ही किसी पदार्थ के विषय में 'सत्' ऐसी प्रतीति होती है। एवञ्च यदि यह सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही रहती है, शेष पदार्थों में नहीं, जैसा ऊपर बतलाया गया है, तो सामान्य आदि पदार्थों के विषय में 'सामान्यं सत्', 'विशेषः सन्', 'समवायः सन्' ये प्रत्यय कैसे होते हैं? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि यदि परम्परा-सम्बन्ध तथा साक्षात्-सम्बन्ध की उपलब्धि हो तो साक्षात्सम्बन्ध से व्यवहार का प्रवर्तन ही मुख्य होता है, और यही उचित भी है। सत्ता की

१. वै० सू० १।२।७।

२. वै० सू० १।२।१७।

भी यही स्थिति है कि यह द्रव्य, गुण तथा कर्म में समवाय-सम्बन्ध (साक्षात्-सम्बन्ध) से रहती है, अतः उनके लिए 'सत्' यह प्रत्यय मुख्य है। अन्य पदार्थों के साथ 'सत्' इस प्रतीति का कारण है सत्ता के साथ उन पदार्थों का परम्परा-सम्बन्ध, और वह सम्बन्ध है 'एकार्थ'[1]-समवाय'। यदि यह पूछा जाय कि द्रव्यादि-पदार्थ-त्रय के समान ही पदार्थान्तर में भी सत्ता का समवाय क्यों नहीं माना जाता है, तो इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि जहाँ सत्ता की स्थिति में बाधक है वहाँ सत्ता का साक्षात्-सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। जाति-बाधकों का विवरण अभी किया जाएगा। अत एव द्रव्यादि-त्रय से अतिरिक्त पदार्थ में सत्ता का समवाय नहीं माना जाता है। द्रव्यादि-त्रय से अतिरिक्त पदार्थ में 'सत्' इस व्यवहार की उपपत्ति 'एकार्थ-समवाय' होने के कारण उपचार के आधारपर करनी चाहिए।

परन्तु 'एकार्थ-[2]समवाय' तो केवल 'विशेष-पदार्थ' में 'सत्' व्यवहार का प्रयोजक हो सकता है, अन्यत्र नहीं। अतः सामान्य में तादात्म्य, विशेष में एकार्थ-समवाय और समवाय में एकार्थ-वृत्तित्व ही 'सत्' इस उपचार का प्रयोजक है। व्यवहार-प्रयोजक सम्बन्ध में भेद रहने पर भी व्यवहार में समानाकारत्व तो 'एको घटः', 'एको रसः' आदि व्यवहारों में प्रसिद्ध ही है। यद्यपि अभाव में भी सत्ता का एकार्थ-वृत्तित्व है ही, तथापि प्रामाणिक-व्यवहार-विरुद्ध होने के कारण अभाव में 'सत्' यह औपचारिक[3] व्यवहार नहीं होता है।

यह सामान्य दो प्रकार का होता है :—'पर सामान्य' तथा 'अपर-सामान्य।' 'पर-सामान्य' का अर्थ है अधिक-देश-वृत्ती सामान्य। इसी को 'पर-सत्ता' आदि शब्दों से कहा जाता है। द्रव्य, गुण तथा कर्म में समान रूप से रहनेवाला सामान्य सर्व-व्यापक होने के कारण सर्वदा 'पर-सत्ता' ही है। इस 'पर-सत्ता' की अपेक्षा अल्प-देश-वृत्ती होने के कारण द्रव्यत्वादि सामान्य 'अपर-सामान्य' हैं। परन्तु घटत्व, पृथिवीत्व आदि की अपेक्षा व्यापक होने से

---

१. कि० प्र०, पृ० १४२ (ए०सो०); न्या० च०, का० ८०; सेतु, पृ० ५४; व्योम०, पृ० १२४-१२६।

२. समवायेन सामानाधिकरण्यम् , अर्थात् जहाँ एक से अधिक अपेक्षित पदार्थ एक ही आधार में समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान हों। जैसे 'एको रसः' इस वाक्य में उपात्त एकत्व तथा रस का एकार्थ-समवाय है, क्योंकि एकत्व संख्या तथा रस किसी द्रव्य-विशेष में समवाय-सम्बन्ध से वर्तमान हैं।

३. सेतु, पृ० ५४।

द्रव्यत्व आदि को पर-सामान्य भी कहा जा सकता है। एवञ्च औपचारिक रूप में द्रव्यत्व आदि सामान्य को 'पराऽपर-सामान्य' भी कहा जा सकता है। पर-सत्ता केवल अनुवृत्ति-प्रत्यय (समानाकार-प्रतीति) का कारण है, अतः वह सामान्य ही है। परन्तु अपर-सत्ता—द्रव्यत्वादि—सभी द्रव्यों में अनुवृत्ति-प्रत्यय तथा द्रव्येतर से व्यावृत्ति के प्रत्यय का भी कारण है। अतः इन पराऽपर-सामान्यों को औपचारिक रूप में 'सामान्य-विशेष' भी कहा जाता है।

जाति-बाधक-विवरण :—

जाति-बाधकों का विवरण करते हुए उदयनाचार्य ने अपनी किरणावली में लिखा है :—

"व्यक्तेरभेदः तुल्यत्वम्[1] सङ्करोऽथाऽनवस्थितिः।
रूप-हानिरसम्बन्धो जाति-बाधक-संग्रहः ॥"

इस श्लोक का अभिप्राय निम्न-लिखित है :—

(१) व्यक्त्यभेद :—

एक-व्यक्ति मात्र में रहनेवाला धर्म सामान्य नहीं कहलाता है, क्योंकि समान-पदार्थों का अनुगत धर्म ही सामान्य-शब्द से प्रसिद्ध है, और 'समान-पदार्थ' अनेक पदार्थावगाही है। वस्तुतः एक व्यक्ति-मात्र में वृत्ती धर्म से अनुवृत्ति प्रत्यय की कोई सम्भावना ही नहीं है, और व्यावृत्ति-प्रत्यय के लिए तद्व्यक्तित्व ही पर्याप्त है। अतः एक-व्यक्ति-मात्र-निष्ठ धर्म को सामान्य मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

(२) तुल्यत्व :—

दो सम-नियत धर्मों में किसी एक को ही जाति के रूप में माना जाता है, दोनों को जाति मानने का प्रयोजन नहीं। जैसे :—ज्ञानत्व तथा बुद्धित्व, ये दोनों ही समनियत धर्म हैं। इनमें ज्ञानत्व को जाति मान लेने पर ही ज्ञान-मात्र में अनुवृत्ति-प्रत्यय तथा ज्ञान-व्यतिरिक्त से व्यावृत्ति-प्रत्यय हो जाता है। अतः बुद्धित्व को जाति नहीं माना जाता है। परन्तु सम-नियत दो धर्मों में जाति कौन सा होगा—यह प्रश्न है। इसके दो उत्तर हैं :—(क) समनियत दो धर्मों में यदि एक धर्म लघु हो और दूसरा गुरु, तो लघु-धर्म को ही सामान्य माना जायगा। जैसे :—घटत्व तथा कलशत्व में घटत्व लघु-धर्म है, क्योंकि उसकी आकृति छोटी है, अतः उसी को जाति माना जाता है, कलशत्व को नहीं। (ख) जहाँ दोनों ही समनियत धर्म समान हैं वहाँ प्रसिद्धि के आधार पर या प्रतिपत्ति-लाघव के आधार पर अन्यतर को जाति मान लिया

१. किर०, पृ० १६१ (ए० सो०)।

जाता है। जैसे :—बुद्धित्व तथा ज्ञानत्व में से ज्ञानत्व को जाति के रूप में मानने का आधार यही द्वितीय-पक्ष, अर्थात् प्रसिद्धि, है।

(३) सङ्कर :—

सङ्कर का अर्थ है उन दो धर्मों का सामानाधिकरण्य, अर्थात् सहाऽवस्थान, जो कभी परस्पर-व्यधिकरण भी हैं। अर्थात् कभी कभी साथ-साथ रहनेवाले और कभी कभी अत्यन्त असम्पृक्त रहनेवाले दोनों ही धर्म सामान्य की परिधि से बहिर्भूत माने जाते हैं, क्योंकि उन दो धर्मों के द्वारा असन्दिग्ध रूप में अनुवृत्ति-प्रत्यय तथा व्यावृत्ति-प्रत्यय नहीं हो पाते हैं। उदाहरणार्थ, भूतत्व तथा मूर्त्तत्व को लिया जा सकता है। ये दोनों ही धर्म परस्पर-व्यधिकरण भी हैं, क्योंकि मन में मूर्त्तत्व है भूतत्व नहीं और आकाश में भूतत्व है मूर्त्तत्व नहीं। परन्तु दोनों धर्मों का सहावस्थान भी है, क्योंकि पृथिवी, जल, तेज तथा वायु में दोनों ही धर्म—मूर्त्तत्व तथा भूतत्व—वर्त्तमान हैं।

(४) अनवस्था :—

अनावश्यक कल्पना के अन्त के अभाव का नाम ही अनवस्था है। सामान्य में दूसरा सामान्य यदि माना जाय तब उस दूसरे में तीसरा सामान्य, तीसरे में चौथा, चौथे में पाँचवां—इस प्रकार से कल्पना का कहीं अन्त नहीं होगा। अतः सामान्य में सामान्य, अर्थात् जाति में जाति, नहीं मानी जाती है। इस विषय में वर्धमानोपाध्याय का व्याख्यान निम्न-लिखित है :—"सामान्यं[1] यदि द्रव्यकर्म-भिन्नं सत् जातिमत् स्यात्, गुणः स्यादिति सामान्य-रूपाऽव्यवस्थैव अनवस्था।"

(५) रूप-हानि :—

पदार्थ के स्वरूप का विनाश रूप-हानि है। विशेष-पदार्थ को स्वतो-व्यावृत्त (Self-Distinguished) माना गया है। अब यदि इन स्वतो-व्यावृत्त विशेषों में एक विशेषत्व नाम का सामान्य माना जाय तब तो विशेष का स्वतो-व्यावृत्त स्वरूप ही विनष्ट हो जाता है। अतः विशेषों में जाति नहीं मानी जाती है। अत एव वर्धमानोपाध्याय का कथन है :—"विशेषो यदि द्रव्य-कर्माऽन्यत्वे सति जातिमान्[2] स्यात् (तदा) गुणः स्यात्, तथा च व्यावृत्ति-धी-हेतुर्न स्यात्।"

(६) अ-सम्बन्धः —

सामान्य अपने आश्रय में समवाय-सम्बन्ध से वर्त्तमान रहता है। यदि

---

१. कि० प्र०, पृ० १६१–१६२।

२. वही, पृ० १६२

सामान्य की वर्त्तमानता का नियामक सम्बन्ध नहीं हो तब सामान्य की वर्तमानता भी नही रहेगी। हम समवाय को इसके उदाहरण में रख सकते हैं। समवाय में दूसरा समवाय अनवस्था के कारण नहीं माना जाता है—यह अभाव-प्रत्यक्ष के प्रकरण में बतलाया जा चुका है। यदि समवायों[1] में समवायत्व नाम की जाति की कल्पना करें तब तो समवायत्व के आश्रय समवाय तथा समवायत्व के बीच सम्बन्ध के रूप में एक और समवाय मानना पड़ेगा जिसका आश्रय (अनुयोगिता-सम्बन्ध से) समवायत्वाश्रयत्वेन-कल्प्यमान समवाय ही होगा। एवञ्च समवाय में समवाय मानना पड़ जायगा; जो अनवस्था-दोष-दुष्ट है। अतः समवाय तथा समवायत्व के बीच सामान्य की वृत्तिता का नियामक सम्बन्ध नहीं होता है। अत एव समवाय में समवायत्व जाति की कल्पना नहीं की जाती है। एवञ्च यह स्पष्ट हो जाता है कि अनवस्था के कारण समवाय में समवायत्व-जाति की वृत्तिता का नियामक समवायान्तर नहीं माना जाता है, और वृत्तिता-नियामक सम्बन्ध के अभाव (अ-सम्बन्ध) के कारण समवाय में समवायत्व जाति भी नहीं मानी जाती है।

अतः यह सिद्ध है कि द्रव्य, गुण तथा कर्म से अतिरिक्त पदार्थ में समवाय-सम्बन्ध से सामान्य का अभाव ही रहता है।

यतः यह सामान्य सामान्य-विशेष—द्रव्यत्वादि—का आधार नहीं है अत एव[2] सामान्य-विशेषाश्रयीभूत द्रव्य, गुण तथा कर्म से यह भिन्न है—यह भी सिद्ध ही है। साथ ही, यह भी सिद्ध हो जाता है कि यह सामान्य नित्य है, क्योंकि भाव-पदार्थों में द्रव्य, गुण तथा कर्म में ही अनित्यत्व[3] का भूयो-भूयः ग्रहण होता है। अतः अनित्यत्व के आश्रय के रूप में सिद्ध (यत्किञ्चित्) द्रव्य-गुण-कर्म से भिन्न सामान्य नित्य ही है। अनुगताऽऽकार-प्रतीति के प्रतिपिण्ड निर्विशेष होने से तथा प्रतिपिण्ड सामान्य के भेद में प्रमाण के अभाव से भी यह सिद्ध है कि समानाकार-पिण्ड-निचय में समवेत सामान्य एक ही है।[4]

---

१. प्रभाकर तथा रघुनाथ शिरोमणि आदि समवाय को अनेक मानते हैं, उनकी दृष्टि से असम्बन्ध का उदाहरण समवाय हो सकता है। समवाय को एक माननेवाली वैशेषिक-परम्परा के अनुसार, समवाय में जाति का बाधक 'व्यक्तेरभेदः' है।

२. वै०सू० १।२।१०।

३. द्रव्य-गुण-कर्माण्येव अनित्यानि—यही नियम का आकार है। अत एव परमाण्वादि में नियम का व्यभिचार नहीं होता है।

४. वै० सू० १।२।१७।

यद्यपि यत्र-तत्र उत्पद्यमान गवादि-पिण्ड के साथ उसके उत्पत्ति-क्षण में ही[1] सामान्य के सम्बन्ध हो जाने से यह सिद्ध है कि सामान्य अनियत-प्रदेश में रहनेवाला पदार्थ है, तथापि स्वाभिव्यञ्जक द्रव्यों तथा उनके अवयव-संयोग के नियत होने के कारण सामान्य अपने ही विषयों से (अर्थात् गोत्व गो-मात्र से, अश्वत्व अश्व-मात्र से) समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है, विषयान्तर से नहीं। तात्पर्य यह है :—सास्ना (Dew-Lap) आदि से निर्मित पिण्ड गोत्व का अभिव्यञ्जक होता है, केशर प्रभृति से निर्मित पिण्ड अश्वत्व का अभिव्यञ्जन करता है—यह अनुभव-सिद्ध है। उपर्युक्त निर्माण-विधि की उपलब्धि पिण्ड-मात्र में नहीं होती है अपि तु कुछ ही पिण्ड-विशेषों में—यह भी प्रमाण-सिद्ध है। शरीर-संघटन का उपर्युक्त प्रतिनियम (व्यवस्था) ही तत्तत् सामान्य के तत्तत् पिण्ड-विशेष के साथ समवाय का भी प्रतिनियम करता है। अतः सर्वत्र वर्त्तमान सामान्य[2] भी सभी पिण्डों से समवेत नहीं होता है। विशेष-विवरण के लिए आकर-ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

अपोह-वाद तथा उसका निराकरण

बौद्ध-सम्प्रदाय (विशेषतः दिङ्नाग-सम्प्रदाय) में सामान्य नाम की कोई चीज नहीं मानी जाती है। उनका कथन है कि दस घट व्यक्तियों में 'अयं घटः, अयं घटः, अयं घटः' इस प्रतीति का कारण यह है कि घट स्व-भिन्न-भिन्न है। अर्थात् घट से भिन्न हैं संसार के घटातिरिक्त सभी पदार्थ, उन पदार्थों से भिन्न तो घट ही होगा; इसी स्व-भिन्न-भिन्नत्व के कारण घटों में एकाकार-प्रतीति होती है। इस प्रतीति के लिए भावात्मक सामान्य-पदार्थ की कल्पना निरर्थक है। इसी सिद्धान्त को 'अपोह-वाद' कहा जाता है।

न्याय-वैशेषिक-सम्प्रदाय का कथन है कि किसी भी व्यक्ति के समक्ष एक घट को रखकर समझा दिया जाय कि यह घट है, और पुनः उसके समक्ष दस-बीस घट रखकर यदि उससे प्रश्न किया जाय—ये पदार्थ क्या हैं ? उसका स्वभावतः यही उत्तर होगा—ये घट हैं; और इस पर यदि उससे पुनः प्रश्न किया जाय—ये घट हैं, क्यों ? उसका उत्तर यही होगा :—यतः ये भी उस घट के समान हैं। एवञ्च यह स्पष्ट है कि व्यवहार में समानाकार-प्रतीति का आधार कोई भाव पदार्थ है, अभाव पदार्थ नहीं। यदि अभाव पदार्थ ही एकाकार-प्रतीति का आधार रहा होता तो लोगों को विधिमुख से प्रतिपत्ति नहीं

---

१. न्या० वा०, पृ० २३६; न्या० म०, पृ० २८५; न्या० वा० ता० टी०, पृ० ३८५; न्या० क०, पृ० ७५५-५६।

२. न्या० क०, पृ० ६५४–५५।

होती। परन्तु प्रतिपत्ति में विधिमुखता यह सिद्ध करती है कि प्रतिपत्ति का आधार भी कोई भाव-पदार्थ है। अतः उपर्युक्त 'अपोह-वाद' उचित नहीं है।

विशेष

विशेष-पदार्थ वैशेषिक-सम्प्रदाय का नवीन पदार्थ है। अन्य सम्प्रदाय में इस प्रकार के विशेष की कल्पना नहीं है। इसके विषय में सूत्र-कार का कथन है—"अन्त्येभ्यो[1] विशेषेभ्यः।" अन्त्य शब्द के दो अर्थ किये जाते हैं। आत्रेय[2]-भाष्य, प्रशस्त-[3]पाद तथा वृत्ति-[4]कार आदि के अनुसार, अन्त शब्द का अर्थ है 'नित्य द्रव्य' और अन्त्य शब्द का अर्थ है 'नित्य-द्रव्य-वृत्ती। उदयनाचार्य[5] आदि के अनुसार अन्त्य-शब्द का अर्थ है अन्तिम (Ultimate) अर्थात् वैसा विशेष जिसकी अपेक्षा विशेषान्तर नहीं होता है। यतः विशेष व्यावर्त्तक होता है अतः अन्त्य-विशेष का अर्थ होता है कि इसका व्यावर्त्तक दूसरा विशेष नहीं है। इसी से यह प्रतिफलित होता है कि यह स्वतो-व्यावृत्त पदार्थ है। वस्तुतः स्पष्टता के लिए अन्त्य-शब्द का अर्थ-द्वय ग्राह्य है; दोनों का सरूपैकशेष करके एक ही 'अन्त्य' शब्द अवशिष्ट रहता है। वस्त्र अन्त्य विशेष का अर्थ होता है :—नित्य-द्रव्यमात्र-वृत्ती स्वतः-व्यावृत्त पदार्थ विशेष है।

विशेष पदार्थ की आवश्यकता

द्वैत-सिद्धान्त-गामी वैशेषिक-दर्शन के अनुसार, सभी पदार्थों में भेद आवश्यक है। यह भेद किसी कारण-विशेष के आधार पर ही हो सकता है, अकारण नहीं। परिदृश्यमान घटादि-पदार्थों में परस्पर भेद के प्रयोजक तो संस्थान-भेद[6] (Difference in body-construction) आदि हैं। परन्तु घटादि पदार्थ के अन्त्यावयव—परमाणुओं—में यदि परस्पर भेद न हो तो अवयवावयविभाव आदि की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। अतः सभी परमाणु परस्पर भिन्न हैं, यह मानना होता है। परमाणुओं में परस्पर भेद का प्रयोजक जो तत्त्व है उसी का नाम है विशेष। तात्पर्य यह है कि एक परमाणु में

---

१. वै० सू० १।२।६।

२. मि० वि० वृ० १।२।६।

३. प० ध० सं०, पृ० ७६५–६६।

४. उप० १।२।६।

५. किर०, पृ० १२९ (८० वो०)

६. अनित्य-द्रव्येषु तावदाश्रयादि-(दे) रेव विशिष्ट-बुद्धिरुपपन्नेति ततोधिक-विशेषेषु प्रामाणाऽभावः—किर०, पृ० १२९–३० (८० सो०)

वर्त्तमान विशेष अन्य परमाणुओं में वर्त्तमान विशेषों से भिन्न है। विशेषों के भेद का प्रयोजक कोई विशेषान्तर नहीं अपि तु स्वयम् विशेष ही है। अतएव विशेष को स्वतो-व्यावृत्त कहा जाता है। एवञ्च प्रति-परमाणु-समवेत-विशेष-गत भेद के कारण ही विशेष-समवायी परमाणुओं में भी परस्पर भेद है। इसी प्रकार, विभु पदार्थों में भी परस्पर भेद तत्तत्पदार्थ-समवेत विशेष के आधार पर ही होता है।

नवीन नैयायिक लोग स्वतो-व्यावृत्त विशेष को नहीं मानते हैं। इनका कथन है कि यदि विशेष स्वतो-व्यावृत्त है तो परमाणु आदि नित्य पदार्थों को ही स्वतो-व्यावृत्त मानने में क्या अनुपपत्ति है? अतः नित्य पदार्थों को ही स्वतो-व्यावृत्त मान कर विशेष-पदार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

समवाय

दो आधाराऽऽधेय-भूत और अयुत-सिद्ध पदार्थों का वह सम्बन्ध जिसके कारण 'इह तन्तुषु पटः', 'इह कपालयोः घटः' आदि प्रत्यय होते हैं, समवाय है। अयुत-सिद्धत्व का अर्थ है पृथक् आश्रय में अनाश्रित होना। यह तो नित्य-पदार्थों के विषय में अयुत-सिद्धत्व का अर्थ है। अनित्य पदार्थों में अयुत-सिद्धत्व का अर्थ है विनाश-क्षण से अव्यवहित पूर्व-क्षण तक पृथगाश्रयानाश्रितत्व। तात्पर्य यह है कि जिन दो सम्बन्धियों का आश्रयत्व अथवा आश्रितत्व एक दूसरे को छोड़ कर पदार्थान्तर में सम्भावित न हो वे ही दोनों सम्बन्धी अयुत-सिद्ध कहलाते हैं। ऐसे अयुत-सिद्ध पदार्थ हैं:—अवयव-अवयवी, द्रव्य-गुण, द्रव्य-कर्म, द्रव्यादित्रय-सामान्य और नित्य-द्रव्य-विशेष।

समवाय की सिद्धि

जब हम "इह कुण्डे दधि" इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करते हैं तो कुण्ड तथा दधि में आधाराऽऽधेय-भाव का अवगम होता है। इस आधा-राऽऽधेय-भाव के साथ-साथ कुण्ड तथा दधि में संयोग का भी अवगम होता है। इससे यह सिद्ध है कि "इह तन्तुषु पटः" आदि प्रतीतियों में भी तन्तु तथा पट में आधाराऽऽधेय-भाव के साथ-साथ एक सम्बन्धान्तर का भी अवगम होता है। वह सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि तन्तु तथा पट के सम्बन्ध की स्थिति में एवम् संयोग-सम्बन्ध की स्थिति में अन्तर है। उदाहरणार्थ, दधि कुण्ड से अतिरिक्त पदार्थों में भी रह सकता है, परन्तु पट तन्तु से अतिरिक्त पदार्थ में नहीं रह सकता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि कुण्ड तथा दधि में युत-सिद्धत्व है जब कि तन्तु तथा पट में अयुत-सिद्धत्व। दूसरी बात यह है कि संयोग की उत्पत्ति दोनों सम्बन्धियों में से

किसी एक की क्रिया या दोनों की क्रिया अथवा संयोग से होती है परन्तु तन्तु तथा पट के सम्बन्ध की उत्पत्ति में अन्यतर-सम्बन्धि-समवेत कर्म, उभय-सम्बन्धि-समवेत कर्म अथवा संयोग की प्रयोजकता नहीं है। तीसरी बात यह है कि संयोग विभागान्त होता है और विभाग होने पर भी दोनों सम्बन्धियों की सत्ता बनी रहती है। यहाँ पट का तन्तु से विभाग सम्भावित नहीं है[1]। इन वैषम्यों से यह सिद्ध है कि तन्तु तथा पट का सम्बन्ध संयोग नहीं हो सकता है। अतः जिस सम्बन्ध के कारण तन्तु तथा पट में आधाराधेय-भाव (= विशेष्य-विशेषण-भाव) की उपपत्ति होती है वही सम्बन्ध समवाय[2] कहलाता है।

द्रव्य-गुण-कर्म में 'सत्, सत्' इस विलक्षण प्रतीति के प्रयोजक होने के कारण द्रव्यादि-भिन्न पदार्थ के रूप में सिद्ध सत्ता के समान यह समवाय भी द्रव्यादि-त्रिक में 'इह'-प्रत्यय के वैलक्षण्य के कारण द्रव्यादि-त्रिक से भिन्न है। पदार्थान्तर से भिन्नता भी इसी 'इह-प्रत्यय' के वैलक्षण्य के आधार पर सिद्ध है। 'इह'-प्रत्यय में सर्वत्र एकता के कारण और भेद-प्रयोजक तत्त्व के अभाव के कारण, सत्ता के समान ही समवाय भी एक है। समवाय में एकत्व रहने पर भी द्रव्य में गुणत्व का, गुण में कर्मत्व आदि का सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि द्रव्य में ही द्रव्यत्व को अभिव्यक्त करने की शक्ति है गुणादि में नहीं। इसी प्रकार, गुण तथा कर्म में ही क्रमशः गुणत्व तथा कर्मत्व को अभिव्यक्त करने की शक्ति है, अन्यत्र नहीं। शक्ति का नियामक तो अन्वय-व्यतिरेक ही है[3]।

समवाय के उत्पादक कारण के अनुपलम्भ से ही यह भी सिद्ध है कि समवाय नित्य पदार्थ है। यद्यपि संयोग-सम्बन्ध अपने अनुयोगी तथा प्रतियोगी में समवाय-सम्बन्ध से रहता है तथापि समवाय अपने प्रतियोगी तथा अनुयोगी में किसी सम्बन्धान्तर से सम्बद्ध नहीं है। समवाय तो स्वरूपतः ही अपने प्रतियोगी आदि से सम्बद्ध है। इसका कारण यह है कि समवाय तथा समवायी के बीच संयोग-सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि संयोग का अनुयोगी तथा प्रतियोगी द्रव्य ही हो सकता है (यतः संयोग विभागान्त

---

१. प० ध० सं०, पृ० ७७५–७७६।

२. इस प्रकार परिशेषानुमान की प्रक्रिया—इह तन्तुषु पटः इति प्रत्ययः सम्बन्धावगाही, विशिष्ट-प्रत्ययत्वात्, इह कुण्डे दधीति प्रत्ययवत्, न चासौ सम्बन्धः संयोगः, युत-सिद्धत्वाद्यभावात् इति संयोगादि-व्यतिरिक्त-सम्बन्धस्य समवायस्य सिद्धिः—से समवाय की सिद्धि होती है।

३. प० ध० सं०, पृ० ७७८–७८१।

होता है और परस्पर-विभाग दो द्रव्यों में सम्भावित है, अतः द्रव्य-द्रव्यातिरिक्त स्थल में संयोग नहीं माना जाता है) जबकि समवाय द्रव्य नहीं है। समवाय तथा समवायी के बीच यदि दूसरा समवाय मानें तब तो फिर द्वितीय समवाय तथा प्रथम समवाय के बीच तृतीय समवाय मानना पड़ेगा जिसका पर्यवसान अनवस्था में हो जाएगा, जो सर्वथा अनुचित है, क्योंकि व्यवस्था होने पर अनवस्था की कल्पना नहीं की जाती है। अतः समवाय को सम्बन्ध-निरपेक्ष अत एव स्वतो-वृत्ती पदार्थ मानना चाहिए। अत एव समवाय का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष-प्रयोजक सम्बन्धों का प्रसार समवाय तक नहीं हो सकता। समवाय की यदि उपलब्धि होगी तो समवायी के प्रत्यक्ष के द्वारा ही, स्वतन्त्र रूप में नहीं—यह तो स्पष्ट है। परन्तु समवाय तथा इन्द्रियों के बीच साक्षात्-सम्बन्ध होगा ही नहीं। परम्परा-सम्बन्ध तीन हैं :—संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय तथा समवेत-समवाय। परन्तु जब समवाय का अपने आश्रय के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो फिर परम्परा-सम्बन्ध की भी कोई प्रत्याशा नहीं रह जाती है। और भी, जिस सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है उसके दोनों ही सम्बन्धी पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष होते हैं, परन्तु समवाय के सम्बन्धी का पृथक्-पृथक् नहीं, अपि तु अयुत-सिद्ध होने के कारण एकता-निबद्ध रूप में ही प्रत्यक्ष होता है, इस लिए भी समवाय का प्रत्यक्ष मानना उचित नहीं है। अत एव विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध से भी समवाय को प्रत्यक्ष मानने का प्रयास निरर्थक है। एवञ्च उपर्युक्त परिशेषानुमान से ही समवाय की सिद्धि करनी चाहिए।

इत्थमाचार्य-वचनम् विभाव्य विमलं बृहत्।
संक्षेपतः षट् पदार्थाः भाव-रूपाः निरूपिताः॥

अष्टम अध्याय

अभाव पदार्थ

अभाव पदार्थ के निरूपण के पहले हमें यह देखना आवश्यक है कि काणाद-दर्शन में अभाव पदार्थ का अभ्युपगम कणाद-सम्मत था या नहीं। वै० सू० में[1] महर्षि कणाद ने केवल छः भाव पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य ज्ञान को ही निःश्रेयसोपयोगी माना है। इससे प्रतीत होता है कि कणाद अभाव-पदार्थ को नहीं मानते थे। कणाद-दर्शन में अभाव पदार्थ को सूत्र-कार-सम्मत बतलाने के लिए कुछ लोगों का कथन है कि "धर्म-विशेष-प्रसूतात्" आदि सूत्र मौलिक नहीं है। परन्तु यह मत अयुक्त[2] है। अन्य लोगों का कहना है कि सर्व-प्रथम शिवादित्य मिश्र ने अपनी "अष्ट-पदार्थी" में अभाव पदार्थ का उल्लेख किया है। शिवादित्य मिश्र से पहले वै० द० में अभाव पदार्थ की कल्पना नही थी। परन्तु विचार करने पर इस मत की अयुक्तता स्पष्ट हो जाती है। अभावात्मक[3] निःश्रेयस—जो मनुष्य का चरम लक्ष्य है[4]—की उपपत्ति अभाव पदार्थ के अभ्युपगम के बिना कैसे हो सकती है? दूसरी बात यह है कि वैधर्म्य-ज्ञान को निःश्रेयस का प्रयोजक माना गया है। अभाव के अभ्युपगम के बिना वैधर्म्य-ज्ञान की सम्भावना नहीं है। अतः निःश्रेयसोपयोगी[5] तथा निःश्रेयस-स्वरूप[6] अभाव को कणाद भी मानते थे—यह मानना आवश्यक है।

अब प्रश्न है कि यदि अभाव भी कणाद का अभिमत रहा तो उन्होंने अपने सूत्र में इसका उद्देश क्यों नहीं किया। इस प्रश्न के उत्तर में उद्योतकराचार्य[7] का मत है कि अभाव की प्रतीति स्वतन्त्र रूप में नहीं होती, अपि तु

१. धर्म-विशेष-प्रसूतात् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानाम्पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्व-ज्ञानात् निःश्रेयसाऽधिगमः। वै० सू० १।१।४।

२. प० ध० सं०-प्रस्तावना (चौखम्बा–१९६६), पृ० १२–१३।

३. तदभावे संयोगाऽभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः। वै० सू० ५।२।१८।

४. प्रमेयेषु अपवर्ग एव मूर्धाभिषिक्तः—न्या० वा० ता० टी०, पृ० ३५।

५. अभावश्च वक्तव्यः, निःश्रेयसोपयोगित्वात्—न्या० ली०, पृ० १६।

६. वस्तुतः मोक्षस्याऽभाव-रूपतया सोऽभ्यर्हितः—न्या० ली० प्र०, पृ० १७।

७. तत्र स्वातन्त्र्येण असन्नेदा न प्रकाशन्ते इति न उच्यन्ते···भावोपदेशादभाव-प्रपञ्चः उद्दिष्टो भवति—न्या० वा०, पृ० ११।

प्रतियोगी की प्रतीति के आश्रित ही। अत एव अभाव का पृथक् उद्देश आवश्यक नहीं है। प्रतियोगि-भूत भाव-पदार्थों के निरूपण के द्वारा ही अभाव का निरूपण हो जाता है। उद्योतकर की व्याख्या करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने[1] इस विषय को और स्पष्ट कर दिया है :—"निषेध्य-निषेधाऽधिकरणाऽधीन-निरूपणत्वादस्द्भेदानाम् भाव-भेद-तन्त्रम् प्रकाशनमिति भाव-भेद-कथनेनैव अभाव-भेदाः अपि गम्यन्ते।" पदार्थ-धर्म-सङ्ग्रह के प्रसिद्ध व्याख्याकार व्योम[2]-शिवाचार्य, श्रीधराचार्य[3] तथा उदयनाचार्य[4] ने भी इसी मत का अनुसरण किया है।

न्याय-लीलावतीकार का मत कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि जैसे वैशेषिकों के मानसेन्द्रिय का नैयायिकों ने अभ्युपगम करके पुनः न्याय-दर्शन में मन को इन्द्रिय सिद्ध करने का प्रयास नही किया है उसी प्रकार न्याय-सिद्धान्त में[5] अभाव पदार्थ के विधिवत् प्रतिपादन के कारण "परमतमप्रतिषिद्ध-मनुमतम्भवति" की युक्ति से वै० द० में भी अभाव पदार्थ का उद्देश नहीं किया किया गया है। अतः उद्देशाभाव के कारण ही अभाव पदार्थ के अस्वीकार का समर्थन युक्त नहीं हैं।[6] पदार्थ-धर्म-सङ्ग्रह की व्याख्या में पद्मनाभ[7] मिश्र ने भी इसी पक्ष का अनुसरण किया है।

परन्तु विवेचन करने पर इस मत मे कुछ अनुपपत्ति दीखती है। यदि यह मान लिया जाय जाय कि कणाद के मानसेन्द्रियत्व-सिद्धान्त का गौतम ने अपने

१. न्या० वा० ता० टी०, पृ० ३४।

२. अथाऽभावः कस्मान्नोपसङ्ख्यायते? भावोपसर्जनतया प्रतिभासनात्। तथा हि—नाऽप्रसिद्ध-भाव-सद्भावस्य नारिकेर-द्वीप-वासिनः तदभाव-प्रतीतिरिति भाव-परिज्ञानाऽपेक्षितत्वात् अभावस्य न पृथगुपसंख्यानम्—व्योम०, पृ० २० (ज)।

३. अभावस्य पृथगनुपदेशो भाव-पारतन्त्र्यात् न स्वभावात्—न्या० क०, पृ० १८।

४. अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः, प्रतियोगि-निरूपणाधीन-निरूपणत्वात्, न तु तुच्छत्वात्। उत्पत्ति-विनाश-चिन्तायाम् प्रागभाव-प्रध्वंसयोः वैधर्म्ये च इतरेतरात्यन्ताभावयोः तत्र तत्र दर्शयिष्यमाणत्वात्—किर०, पृ० ५; और भी देखिए:—"अवच्छेद-ग्रह-ध्रौव्यात्" न्या० कु० ३।२२।

५. न्या० सू० २।२।७—१२।

६. अभावस्य समान-तन्त्र-सिद्धस्याऽप्रतिषिद्धस्य न्याय-दर्शने मानसेन्द्रियता-सिद्धिवदत्राऽप्यविरोधात्—न्या० ली०, पृ० ३६।

७. सेतु, पृ० ३२।

न्याय-दर्शन में अभ्युपगम किया है तो कणाद को गौतम से पूर्व-वर्त्ती होना चाहिए। एवञ्च पर-वर्त्ती गौतम के मत का पूर्व-वर्त्ती कणाद के द्वारा अभ्युपगम में ऐतिहासिक अनुपपत्ति हो जाती है। यदि इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए यथा-कथञ्चित् गौतम को ही पूर्व-वर्त्ती मानें और कणाद को पर-वर्त्ती तो कणाद के मानसेन्द्रियत्व-सिद्धान्त का गौतम के द्वारा अभ्युपगम अनुपपन्न हो जाता है। यह कल्पना भी अयुक्त है कि न्याय या वैशेषिक दर्शन का प्रारम्भ गौतम या कणाद से ही नहीं, प्रत्युत वैदिक-साहित्य में ही ये दोनों दर्शन बद्धमूल हैं और इसलिए परस्पर अभ्युपगम में अनुपपत्ति नहीं आती है, क्योंकि ऐसी कल्पना करने पर अधिगम होगा न कि अभ्युपगम, कारण वैदिक-साहित्य को सभी दार्शनिक-सम्प्रदाय अपनी अपनी पैतृक-सम्पत्ति मानते हैं। एवञ्च उस साहित्य से किसी पदार्थ की सम्प्राप्ति अधिगम है अभ्युपगम नहीं। गौतम तथा कणाद से पूर्व न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों के किन्हीं अन्यान्य प्रतिष्ठापकों—जिनके ग्रन्थों में अभाव का तथा मानसेन्द्रियत्व का विवरण रहा होगा—की कल्पना में अभी कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः इस रीति से अभाव के अनुद्देश का समाधान अधिक उचित नहीं प्रतीत होता है।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि महर्षि कणाद ने अभाव के निरूपण की प्रतिज्ञा ही नहीं की थी। इसके प्रमापण के लिए वे लोग पदार्थ-धर्म-संग्रह के संयोग-प्रकरण में आए हुए वचन—"तस्मान्नास्त्यजः संयोगः"—की व्याख्या के प्रसङ्ग में व्योम-शिवाचार्य के वचन—"प्रतिज्ञातं[1] च महर्षिणा—यद्भावरूपं तत्सर्वमभिधास्यामि"—तथा उदयनाचार्य के कथन—"महर्षिणा[2] प्रतिज्ञातं हि तेन—यद्भावरूपं तत्सर्वमभिधास्यामः"—को प्रस्तुत करते हैं। परन्तु, जैसा प्रसङ्ग से ही स्पष्ट है, उपर्युक्त वचनों में भाव-शब्द पदार्थ-भेद-वाचक नहीं अपि तु प्रामाणिकार्थक है, और प्रामाणिक तो अभाव भी है, अत एव उपर्युक्त वचनों से तो अभाव-निरूपण प्रतिज्ञात ही होता है। यही कारण है कि अभाव के अनिरूपण से प्राप्त न्यूनता के परिहार के लिए व्योमशिवाचार्य आदि ने भी उपर्युक्त समाधान किया है। संयोग-प्रकरण में "यद्भाव-रूपं तत्सर्वमभिधास्यामि" कहने का तात्पर्य यही है कि यदि संयोग अज भी होता तो सूत्र-कार अन्य पदार्थों के समान इसका भी सङ्केत अवश्य ही करते; परन्तु यतः उन्होंने अज-संयोग का निर्देश नहीं किया है और निर्देश-नहीं करने में कोई कारण-विशेष भी नहीं प्रतीत होता है, अतः अज-संयोग सूत्र-कार-सम्मत नहीं है—यह माना जाता है।

---

१. व्योम०, पृ० ४९२।

२. किर०, पृ० २२६।

वै० सू० पर वैदिक-वृत्ति के रचयिता पं० हरि-प्रसाद शास्त्री ने पृथक्त्व में अभाव का अन्तर्भाव किया है; परन्तु, जैसा पृथक्त्व-निरूपण-क्रम में स्पष्ट कर दिया गया है, अभाव (कम से कम अन्योन्याभाव) पृथक्त्व से गतार्थ नहीं हो सकता है। अतः शास्त्री जी का मत समुचित नहीं प्रतीत होता है।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि अभाव निर्धर्मक पदार्थ है। अत एव उसका निर्देश सधर्मक पदार्थों के साथ "धर्म-विशेष-प्रसूतात्०" सूत्र में नहीं किया गया है। परन्तु न्याय-वैशेषिक-सिद्धान्त के अनुसार, अभाव निधर्मक नहीं है, अतः यह मत भी मान्य नहीं प्रतीत होता है।

अतः पूर्वोक्त उद्योतकराचार्य के द्वारा प्रदर्शित युक्ति के आधार पर अथवा निःश्रेयस-स्वरूप अभाव के साध्य तथा षट्-पदार्थ-साधर्म्य-वैधर्म्य-ज्ञान के साधन होने के कारण ही "धर्म-विशेष-प्रसूतात्०" सूत्र में अभाव पदार्थ का उद्देश नहीं किया गया है—यही मानना उचित प्रतीत होता है।

अभाव का लक्षण :—

समवाय से भिन्न तथा असमवेत (अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से अवर्त्तमान) पदार्थ अभाव है। अथवा 'नास्ति' इत्याकारक प्रतीति का विषय पदार्थ अभाव है।

अभाव के प्रकार :—

'नास्ति' इत्यादि-प्रतीति-सिद्ध अभाव के भेद के विषय में कई मत हैं। कुछ लोग प्रागभाव तथा प्रध्वंस को, कुछ लोग प्रागभाव, प्रध्वंस, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव को और कुछ लोग प्रागभावादि-चतुष्टय के साथ-साथ अपेक्षाऽभाव तथा[1] सामर्थ्याभाव को माननेवाले हैं। महर्षि कणाद ने चार प्रकार के अभावों—प्रागभाव,[2] प्रध्वंस,[3] अत्यन्ताभाव[4] तथा अन्योऽन्या[5]भाव—का निर्देश किया है।

(क) प्रागभाव :—

कार्य की उत्पत्ति से पहले उसका जो अभाव होता है उसे 'प्रागभाव' कहा जाता है। परन्तु कार्योत्पत्ति के बाद प्रागभाव का नाश हो जाता है, अत एव

---

१. न्या० म०, पृ० ५९ (भा० १)।
२. वै० सू० ९।१।१।
३. वै० सू० ९।१।२।
४. वै० सू० ९।१।५।
५. वै० सू० ९।१।४।

"विनाश्यभावः प्रागभावः" ऐसा लक्षण भी किया जाता है। यह अभाव अपने प्रतियोगी के समवायि-कारण में ही रहता है। "इह कपाले घटः भविष्यति" यही इसकी प्रतीति है।

(ख) प्रध्वंस :—

उत्पन्न कार्य के नाश को प्रध्वंश कहा जाता है। जैसे :—वर्त्तमान घट को मुद्गर आदि के आघात से जब नष्ट कर दिया जाता है तो घट का प्रध्वंस हो जाता है। अतएव इस अभाव को जन्याऽभाव भी कहा जाता है। परन्तु जब एक घट-व्यक्ति का ध्वंस हो जाता है तो पुनः वह घट-व्यक्ति सत् नहीं हो सकता। अत एव प्रध्वंस जन्य होने पर भी विनष्ट नहीं होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रध्वंस साऽऽदि होने पर भी सान्त नहीं, अपि तु अनन्त है। यह अभाव भी अपने प्रतियोगी के समवायि-कारण में ही लब्ध-पद होता है। इसकी प्रतीति का स्वरूप है :—"इह कपाले घटः ध्वस्तः"।

(ग) अत्यन्ताभाव :—

अत्यन्ताभाव के विषय में दो मत हैं :—(१) अत्यन्ताभाव दो प्रकार के हैं :—अनित्य अत्यन्ताभाव; जैसे :—भूतल में घट का अत्यन्ताभाव; और नित्य अत्यन्ताभाव; जैसे :—वायु में रूप का अत्यन्ताभाव।

(२) अत्यन्ताभाव नित्य ही होता है अनित्य नहीं। भूतल में घट का अत्यन्ताऽभाव भी नित्य ही है।

वस्तुतः यह कहना चाहिए कि अत्यन्ताऽभाव नित्य है—इसमें मत-द्वैध नहीं है। परन्तु घट की सत्ता तथा असत्ता के अनियत होने के कारण भूतल में प्रतीयमान घटाभाव प्रागभाव, प्रध्वंस से भिन्न एवम् अनित्य (क्योंकि घट के उस स्थान में आ जाने पर घटाभाव की प्रतीति नही होती है) होने के कारण अत्यान्ताभाव से भी भिन्न एक प्रकारान्तर है, जिसे 'सामयिक अभाव'[1] कहा जा सकता है। यह एक मत है। दूसरे मत के अनुसार, यह अभाव भी[2] अत्यन्ताऽभाव ही है। इस द्वितीय मत के अनुसार, भूतल में घटाभाव भी नित्य है। परन्तु भूतल में घट के आ जाने पर घटात्यन्ताऽभाव की प्रतीति नही होती है, क्योंकि भूतल में घटात्यन्ताभाव की प्रतीति का प्रयोजक स्वरूप-सम्बन्ध, अर्थात् काल-विशेष (= घटाऽसमानकालिक) एवम् देश-विशेष से

---

१. वै० सू० वि० ९।१।५।

२. मुक्ता० का० १२–१३ (क)।

परिच्छिन्न भूतल, घट की भूतल में सत्ता के समय, नहीं रहता है। तात्पर्य यह है कि घटाऽसमानकालिक भूतल ही भूतलनिष्ठ-घटात्यन्ताभाव की स्थिति तथा प्रतीति का प्रयोजक सम्बन्ध है। एवञ्च जब भूतल में घट की सत्ता नहीं रहेगी तब तो घटात्यन्ताभाव-प्रतीति-प्रयोजक स्वरूप-सम्बन्ध (= घटासमान-कालिक-भूतल) के रहने से घटात्यन्ताऽभाव की प्रतीति होती है; और जब भूतल में घट आ जाता है तब घटात्यन्ताभाव-प्रतीति-प्रयोजक स्वरूप-सम्बन्ध (= घटाऽसमान-कालिक-भूतल) के अभाव होने से घटात्यन्ताऽभाव की प्रतीति नहीं होती है, परन्तु घटात्यन्ताभाव की सत्ता तो घट की सत्ता के समय भी भूतल में बनी ही रहती है। इस विषय में "नास्ति घटो गेहे[1] इति सतो घटस्य संसर्ग-प्रतिषेधः" इस वै० सू० का उपस्कार भी अवलोकनीय है।

(घ) अन्योन्याभाव :—

एक वस्तु में दूसरी वस्तु के तादात्म्य (Identity) का प्रतिषेध ही अन्योन्याभाव है। "घटः पटो न" इस प्रकार से वाक्य-प्रयोग करते हैं। इस वाक्य के द्वारा घट या पट की सत्ता का प्रतिषेध नहीं किया जाता है। दोनों ही पदार्थ सत् हैं। परन्तु घट तथा पट के तादात्म्य या अभेद का प्रतिषेध किया जाता है कि घट पट से अतिरिक्त पदार्थ है। यद्यपि घट के साथ पट के तादात्म्य के प्रतिषेध का तात्पर्य पट के साथ घट के तादात्म्य के प्रतिषेध से भी है तथापि वाक्य-मर्यादा से तो यह स्पष्ट है कि एक का तादात्म्य-प्रतिषेध शब्द-लभ्य है और एक का तात्पर्य-लभ्य। जो प्रतियोगी होगा उसके तादात्म्य का प्रतिषेध शब्द-लभ्य होता है और अनुयोगी के तादात्म्य का प्रतिषेध तात्पर्य-लभ्य होगा। "घटः पटो न" इस वाक्य में अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता वैकल्पिक है। यदि वक्ता "घट में पट का अन्योन्याभाव, अर्थात् तादात्म्याभाव, है" इस अभिप्राय से 'घटः पटो न' इस वाक्य का प्रयोग करता है तब तो पट प्रतियोगी होगा और घट अनुयोगी। यदि "पट में घट का तादात्म्य नहीं है" इस अभिप्राय से वक्ता "घटः पटो न" इस वाक्य का प्रयोग करता है तब घट प्रतियोगी होगा और पट अनुयोगी। परन्तु उचित तो यही है कि यदि "घटः पटो न" यह वाक्य है तो घट को ही अनुयोगी और पट को प्रतियोगी मानना चाहिए और यदि "पटः घटो न" यह वाक्य-स्वरूप है तब पट को अनुयोगी और घट को प्रतियोगी।

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि अन्योन्याभाव के अनुयोगी में उसके प्रतियोगी के तादात्म्य का प्रतिषेध होता है। एवञ्च अन्योन्याभाव के

---

१. वै० सू० ९।१।१०।

प्रतियोगी (= घट) में रहनेवाली प्रतियोगिता तादात्म्य-सम्बन्ध से अवच्छिन्न है, क्योंकि घट तभी तक प्रतियोगी बना रहेगा जब तक पट में उसके तादात्म्य का प्रतिषेध अभिमत रहेगा। अत एव इस अभाव को "तादात्म्य-सम्बन्धाऽवच्छिन्न-प्रतियोगिताकः अभावः" भी कहा जाता है। जिस सम्बन्ध से किसी का अभाव विवक्षित रहता है वह सम्बन्ध अभावीय-प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है; और जिस स्वरूप (Status) में किसी पदार्थ का अभाव विवक्षित रहता है उस स्वरूप या धर्म को अभावीय प्रतियोगिताऽवच्छेदक धर्म कहा जाता है। "घटः पटो न" मे पट होने के रूप मे (पटत्वेन रूपेण)—अन्य रूप में नहीं, क्योंकि द्रव्य आदि की दृष्टि से पट तथा घट में कोई भेद (= अन्योन्याभाव) है ही नहीं—पट के तादात्म्य का घट में प्रतिषेध होता है। अतः पट-निष्ठ अभावीय-प्रतियोगिता का अवच्छेदक पटत्व है और पटत्व से पट-निष्ठाभावीय-प्रतियोगिता अवच्छिन्न है। एवञ्च संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि 'घटः पटो न' का अर्थ है :—"तादात्म्य-सम्बन्धाऽवच्छिन्न-पटत्वाऽवच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाववान् घटः।"

प्रतियोगिताऽवच्छेदक धर्म तथा प्रतियोगिताऽवच्छेदक सम्बन्ध की स्थिति प्रागभाव, प्रध्वंस तथा अत्यन्ताभाव में भी इसी प्रकार होती है। अन्तर इतना ही है कि तीन अभावों में प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध तादात्म्य कदापि नहीं होता है। अत एव इन तीन अभावों—प्रागभाव, प्रध्वंस तथा अत्यन्ताभाव—को संसर्गाभाव, अर्थात् तादात्म्यातिरिक्त-सम्बन्धाऽवच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभाव (अथवा अन्योन्याभाव-भिन्नाऽभाव), कहा जाता है। इस प्रकार से संक्षेप में अभाव को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(अ) अन्योन्याभाव,	(आ) संसर्गाऽभाव;
(तदात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावः)	(तादात्म्यातिरिक्त-सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावः, अथवा अन्योन्याभाव-भिन्नाभावः)

संसर्गाभाव को पुनः त्रिधा-विभक्त किया जा सकता है :—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव (प्रध्वंसः अभावः, प्रध्वंसे सति अभावः वा) तथा अत्यन्ताऽभाव। अन्य विवरण पूर्ववत् है।

जयन्त भट्ट ने सभी संसर्गाभावों को प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव में ही अन्तर्भावित कर दिया है। इनका उपसंहार निम्न-लिखित है :—

"उत्पन्नस्य विनाशो वा तदनुत्पाद एव वा।

अभावस्तत्त्वतोऽन्ये तु भेदास्त्वौपाधिका[1] मताः ॥"

उपर्युक्त अभाव-चतुष्टय में प्रागभाव के नाश के विषय में तो मत-भेद नहीं है; परन्तु अन्योन्याभाव के विषय में मत-भेद है । एक पक्ष के अनुसार यह अभाव नित्य है । अत एव शङ्कर मिश्र का कथन है :—"···नित्यश्च,[2] कदाचिदपि घट-पटयोस्तादात्म्याऽसम्भवात्" । परन्तु शिवादित्य मिश्र आदि के अनुसार, अन्योन्याभाव की उत्पत्ति[3] भी होती है और विनाश[4] भी । इस विषय में शिवादित्य मिश्र के व्याख्याकारों का प्रपञ्च भी द्रष्टव्य है । व्याख्याओं में पदार्थ-चन्द्रिका इस प्रसङ्ग में विशेषतः अवलोकनीय है ।

साधर्म्य-वैधर्म्य

साधर्म्य-वैधर्म्य के ज्ञान के द्वारा तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति से मोक्ष होता है—यह नियम है । अतः पदार्थों का साधर्म्य तथा वैधर्म्य अवश्य-निरूपणीय है । साधर्म्य तथा वैधर्म्य में भी प्रत्येक पदार्थ के साधर्म्य के विवरण से ही प्रत्येक का वैधर्म्य स्पष्ट हो जाता है । अतः प्रकृत में केवल साधर्म्य का ही निरूपण किया जा रहा है :—

पदार्थ-साधर्म्य :—

पदार्थ	साधर्म्य
द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव	ज्ञेयत्व,[5] अभिधेयत्व,[6] वाच्यत्व[7] आदि ।
नित्य-पदार्थातिरिक्त पदार्थ	आश्रितत्व[8] ।

---

१. न्या० म०, पृ० ५९ (भा०) ; विशेष विवरण भी इसी पृष्ठ में दिया हुआ है, जिज्ञासुओं को इसका अवलोकन करना चाहिए ।

२. उप० ९।१।४ ।

३. अन्योऽन्याऽभाव-प्रध्वंसाऽभावयोस्तु निमित्तादेव केवलादुत्पत्तिः—स० प०, पृ० ८६ ।

४. अन्योन्याऽभावस्य प्रतियोगि-विनाश-कारणात् (विनाशः)—स० प०, पृ० ८५ ।

५. यत्किञ्चिज्ज्ञान-विषयत्वम् ज्ञेयत्वम् ।

६. पद-शक्यत्वम् अभिधेयत्वम् ।

७. शक्त्या पद-बोध्यत्वम् वाच्यत्वम् ।

८. सर्वाधारता-नियामक-कालिक-सम्बन्धाऽतिरिक्त-सम्बन्धेन वृत्तिमत्त्वम् आश्रितत्वम् ।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष	अनेकत्व-विशिष्ट भावत्व[1], समवायित्व[2] ।
गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय	गुण-शून्यत्व[3], क्रिया-शून्यत्व[4] ।
द्रव्य, गुण, कर्म	सत्तावत्व, द्रव्यत्वादि-सामान्य-विशेषवत्व, 'अर्थ' शब्दाभिधेयत्व, धर्माऽधर्म-जनकत्व ।
सामान्य, विशेष, समवाय	अ-सामान्यवत्व, बुद्धि-वेद्यत्व, अकार्यत्व, अर्थ-शब्दाऽनभिधेयत्व, नित्यत्व ।
अणु-परिमाण, आत्मातिरिक्त-द्रव्य-निष्ठ परम-महत्परिमाण, अतीन्द्रिय-सामान्य तथा विशेष	अ-कारणत्व[5] ।
अव्यवहित-पूर्व में परिगणित पदार्थों से भिन्न पदार्थ	कारणत्व ।
कारणवान् , अर्थात् जन्य पदार्थ	अनित्यत्व, कार्यत्व ।

द्रव्य-साधर्म्य :—

नित्य-द्रव्यातिरिक्त द्रव्य	द्रव्याऽऽश्रितत्व[6] ।
पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् , आत्मा, मन	द्रव्यत्व-युक्तत्व, अपने में समवेत कार्य को उत्पन्न करना (स्वात्मन्यारम्भकत्व), गुण-वत्व,[7] कार्य तथा कारण से अविरोधित्व, अन्त्य-विशेषवत्व[8] ।

१. अनेक-भाव-पदार्थ-वृत्ति-पदार्थ-विभाजकोपाधि-(द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यत्व, विशेषत्व, समवायत्व) मत्वम् ।

२. समवाय-सम्बन्धेन सम्बन्धित्वम् ।

३. गुणाश्रयाऽवृत्ति-धर्मवत्वम् ।

४. क्रियाश्रयाऽवृत्ति-पदार्थ-विभाजकोपाधिमत्वम् ।

५. इसके उपपादन के लिए मुक्ता० (का० १।१५) देखनी चाहिए ।

६. इसका परिष्कार आश्रितत्व के परिष्कार के आधार पर ही करना चाहिए ।

७. गुणवत्व-योग्यता विवक्षित है ।

८. यह साधर्म्य केवल नित्य द्रव्यों का है ।

अवयवि-द्रव्य से भिन्न द्रव्य	अनाश्रितत्व, नित्यत्व ।
पृथिवी, जल, तेज, वायु, आत्मा, मन	अनेकत्व, अपर-जातिमत्व ।
पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन	क्रियावत्त्व[1], मूर्त्तत्व, परत्वाऽपरत्व-वेग-युक्तत्व ।
आकाश, काल, दिक्, आत्मा	सर्व-मूर्त्त-संयोगित्व, परम-महत्व ।
पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश	भूतत्व, इन्द्रिय[2]-प्रकृतित्व, एक एक बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य विशेष-गुण से संपन्न होना ।
पृथिवी, जल, तेज, वायु	द्रव्यारम्भकत्व, स्पर्शवत्व ।
पृथिवी, जल, तेज,	प्रत्यक्ष-विषयत्व, रूपवत्व, द्रवत्ववत्व ।
पृथिवी, जल	गुरुत्ववत्व, रसवत्व ।
पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, आत्मा	विशेष-गुणवत्व[3] ।
पृथिवी, जल, आत्मा	चतुर्दश-गुणवत्व ।
आकाश, आत्मा	क्षणिक-विशेष[4]-गुणवत्व, एक-देश-वृत्ति-विशेष-गुणवत्व[5] ।

१. योग्यता अपेक्षित है ।

२. आकाश में काल्पनिक श्रोत्र-प्रकृतित्व है ।

३. बुद्ध्यादि-षट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ।
अदृष्ट-भावना-शब्दाः अमी वैशेषिका गुणाः ॥ कारि० ९० ।

४. आकाश तथा आत्मा के विशेष-गुण क्षणिक, अर्थात् तृतीय-क्षण-नाशी, होते हैं । आकाश का विशेष गुण है शब्द । वह तृतीय-क्षण में उत्तर-शब्द के द्वारा और अन्तिम-शब्द उपान्त्य-शब्द के नाश के द्वारा विनष्ट हो जाता है—यह शब्द-निरूपण-क्रम में बतला दिया गया है । आत्मा के विशेष-गुण हैं—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार । ये सभी क्षणिक होते हैं, अर्थात् तृतीय क्षण में स्व-सजातीय अथवा स्व-विजातीय विशेष-गुण से नष्ट हो जाते हैं ।

५. आकाश का विशेष-गुण शब्द आकाश के किसी प्रदेश (औपाधिक-प्रदेश) में ही उत्पन्न होता है सर्वत्र नहीं । इसी प्रकार आत्मा के विशेष-गुण, बुद्धि आदि, जिस प्रदेश में आत्मा के साथ मन का संयोग होता है उसी प्रदेश में उत्पन्न होते हैं अन्यत्र नहीं ।

दिक्, काल	पञ्च-गुणवत्त्व, सर्व-कार्य-निमित्तत्व।
पृथिवी, तेज	नैमित्तिक-द्रवत्ववत्त्व।

गुण-साधर्म्य :—

२४ गुण	गुणत्व-समवायित्व, द्रव्य-समवेतत्व, निर्गुणत्व, निष्क्रियत्व।
रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग	मूर्त्त[1]-द्रव्य-समवेतत्व।
बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावनाख्य-संस्कार	अमूर्त्त[2]-द्रव्य-समवेतत्व, निमित्त कारणत्व।
संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग	मूर्त्तामूर्त्त-द्रव्य-समवेतत्व।
संयोग, विभाग, द्वित्व-संख्या, द्वि-पृथक्त्व एवं अनेक-वृत्ती गुण—त्रित्व, त्रि-पृथक्त्व आदि	अनेक-द्रव्य-पर्याप्तत्व।
अव्यवहित-पूर्व-परिगणित-गुणातिरिक्त गुण	एक-द्रव्य-पर्याप्तत्व।
रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि से लेकर भावना तक, शब्द	वैशेषिक-गुणत्व।
संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक-द्रवत्व, वेग	सामान्य-गुणत्व[3]।
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध	एकैक-बाह्येन्द्रिय-वेद्यत्व।
संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग	द्वीन्द्रिय-ग्राह्यत्व।
बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न	मनोमात्र-ग्राह्यत्व।
गुरुत्व, धर्म, अधर्म, भावना	अतीन्द्रियत्व, अर्थात् इन्द्रियाऽग्राह्यत्व।

१. पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन = मूर्त्त-द्रव्य।

२. आकाश, काल, दिक्, आत्मा = अमूर्त्त द्रव्य।

३. इन गुणों में यह सामर्थ्य नहीं है कि ये अपने आश्रयों को अन्य द्रव्य से भिन्न समझा सकें। अतएव सामान्य-गुण (सामान्याय = स्वाश्रय-साधर्म्याय न तु स्वाश्रय-विशेषाय, गुणाः सामान्य-गुणाः) कहलाते हैं।

अपाकज रूप, अपाकज रस, अपाकज गन्ध, अपाकज स्पर्श, परिमाण, एकत्व, एक-पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह	कारण[1]-गुण-पूर्वकत्व ।
बुद्धि से लेकर भावना तक, शब्द	अकारण-गुण-पूर्वकत्व ।
बुद्धि से भावना-पर्यन्त, शब्द, रूई आदि का परिमाण, संयोग-जन्य संयोग, नैमित्तिक-द्रवत्व, परत्व, अपरत्व, पाकज रूप-रस-गन्ध-स्पर्श	संयोग[2]-जन्यत्व ।
संयोग, विभाग, वेग	कर्म-जन्यत्व ।
शब्द, विभागज-विभाग	विभाग-जन्यत्व ।
परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्वि-पृथक्त्व, त्रित्व आदि ।	अपेक्षा-बुद्धि-जन्यत्व ।
रूप, रस, गन्ध, अनुष्ण स्पर्श, शब्द, परिमाण, एकत्व, एक-पृथक्त्व, स्नेह	समान-जातीय[3]-गुण-कारणत्व ।
सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न	असमान-जातीय-कारणत्व ।
संयोग, विभाग, संख्या, गुरुत्व, द्रवत्व, उष्ण-स्पर्श, ज्ञान, धर्म, अधर्म, संस्कार	समानाऽसमान-जातीय-कारणत्व ।
बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना, शब्द	स्व-समवायिकारण-समवेत-कार्य-जनकत्व ।
रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, स्नेह, प्रयत्न	स्वसमवायि-कारण-भिन्नाश्रित-कार्य-जनकत्व ।
संयोग, विभाग, संख्या, एक-पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, धर्म, अधर्म	स्व-समवायिकारण-निष्ठ तथा तद्भिन्न-निष्ठ कार्य-जनकत्व ।
गुरुत्व, द्रवत्व, वेग, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, नोदनाख्य तथा अभिघाताख्य संयोग	क्रिया-हेतुत्व ।

---

१. अपने समवायि-कारण में वर्तमान रूपादि से उत्पन्न होना ही कारण-गुण-पूर्वकत्व का अर्थ है ।

२. यह संयोग भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है । जैसे—शब्द भेरी-आकाश-संयोग से जन्य होता है; बुद्धि आदि आत्म-मनः-संयोग-जन्य होते हैं । इसी तरह अन्यत्र भी सोचना चाहिए ।

३. ज्ञान के प्रति रूपादि की कारणता यहाँ विवक्षित नहीं है ।

रूप, रस, गन्ध, अनुष्ण-स्पर्श, संख्या, परिमाण, एक-पृथक्त्व, स्नेह, शब्द	असमवायि-कारणत्व ।
संयोग, विभाग, उष्ण-स्पर्श, गुरुत्व, द्रवत्व, वेग	असमवायि-कारणत्व तथा निमित्त-कारणत्व ।
परत्व, अपरत्व, द्वित्व, द्वि-पृथक्त्व, त्रि-पृथक्त्व, अणु-परिमाण, परम-महत्परिमाण	अकारणत्व ।
संयोग, विभाग, शब्द, आत्मविशेषगुण—बुद्ध्यादि-भावनान्त	अव्याप्य-वृत्तित्व अर्थात् प्रादेशिकत्व ।
अन्य गुण (अव्यवहित-पूर्वोपात्त संख्यादि-भिन्न गुण)	व्याप्य[1]वृत्तित्व ।
अपाकज रूप, अपाकज रस, अपाकज गन्ध, अपाकज स्पर्श, परिमाण, एक-पृथक्त्व, सांसिद्धिक-द्रवत्व, गुरुत्व, स्नेह	आश्रय-द्रव्यावस्थिति-पर्यन्त-स्थायित्व[2] ।
अन्य गुण (अव्यवहित-पूर्व-निर्दिष्ट अपाकज-रूपादि-भिन्न-गुण)	अयावद्द्रव्य-भावित्व ।

कर्म-साधर्म्य—

पञ्च-विध कर्म	कर्मत्व-समवायित्व, एक-द्रव्य-पर्याप्तत्व, आशुतर-विनाशित्व, मूर्त्त-द्रव्य-वृत्तित्व, गुण-शून्यत्व, गुरुत्व-द्रवत्व-संयोग-प्रयत्न-जन्यत्व, स्व-जन्य-संयोग-नाश्यत्व, संयोग-विभाग-निरपेक्ष-कारणत्व, असमवायि-कारणत्व, स्वाश्रय तथा पराश्रय में वृत्ती संयोग-विभाग का जनकत्व, कर्मान्तरानारम्भकत्व, द्रव्यानारम्भकत्व, उत्क्षेपणत्वादि-जाति-समवायित्व, दिग्विशेष-प्रतिनियत-कार्योत्पादकत्व ।

सामान्य-साधर्म्य :—

सामान्य	स्व-विषयीभूत-पदार्थ-सार्थ-समवेतत्व, नित्यत्व, अकार्यत्व, जाति-शून्यत्व, गुण-क्रिया-शून्यत्व ।

---

१. ये गुण अपने आश्रय के सभी अंशों में रहते हैं। अतः 'व्याप्य-वृत्ती' कहलाते हैं।

२. इसी को वै० द० में यावद्द्रव्य-भावी गुण कहा जाता है।

विशेष-साधर्म्य :—

विशेष — स्वतो-व्यावृत्तत्व, नित्य-द्रव्य-समवेतत्व, अकार्यत्व, नित्यत्व, स्वाश्रय-भेदकत्व, जाति-शून्यत्व, गुण-शून्यत्व, क्रिया-शून्यत्व।

समवाय-साधर्म्य :—

समवाय का अन्य पदार्थों के साथ जो साधर्म्य है वह तो पदार्थ-साधर्म्य-प्रकरण में बतलाया जा चुका है। यतः समवाय स्वतः एक है अतः द्रव्य आदि के समान इसका स्व-भेद-गत साधर्म्य नहीं होता है।

उपर्युक्त साधर्म्य-विवरण तो दिग्दर्शन है। इन साधर्म्यों की उपपत्ति के लिए पदार्थ-धर्म-संग्रह तथा उसकी व्याख्याओं का अवलोकन करना चाहिए।

मोक्ष तथा उसके साधन

अब अन्त में वैशेषिक-सम्मत मोक्ष-स्वरूप का संकेत किया जा रहा है। मोक्ष का विशेष विवरण निरर्थक है, क्योंकि साधारण व्यक्तियों की दृष्टि में केवल तर्क के आधार पर मोक्ष के स्वरूप की उपस्थिति असम्भव है। मोक्ष के स्वरूप के विषय में न्याय-कन्दली, किरणावली आदि के प्रारम्भ में बहुत विचार-विमर्श किया गया है। परन्तु इस प्रपञ्च से कोई लाभ नहीं है। इस प्रसङ्ग में जयन्त भट्ट का निर्देश बहुत ही स्पष्ट तथा उपादेय है :—

"स्वरूपेण व्यवस्थानमात्मनो मोक्ष[1] इति मोक्ष-विदः। तत्रात्म-स्वरूपमेव कीदृक् इति चिन्त्यम्, न पृथक् मोक्ष-स्वरूपम्। आत्मनश्च सुख-दुःख-बुद्ध्यादयः आगन्तुकाः गुणाः, न महत्त्ववत् सांसिद्धिका इति...... ।"

उपर्युक्त विवरण की प्रामाणिकता महर्षि कणाद के [2]सूत्रों से भी होती है।

मोक्ष के उपाय के विषय में भी वैशेषिक सूत्रों में यत्र-तत्र संकेत किया गया है। सबों का सारांश "धर्म-विशेष-प्रसूतात् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानाम्पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्व-ज्ञानान्निःश्रेयसम्" इस सूत्र में निहित है। यद्यपि यह सूत्र सर्वत्र उपलब्ध नहीं है तथापि प्रक्रिया यही है। अतएव प्रशस्त-पाद का कथन भी ऐसा ही है। यही कारण है कि चन्द्रानन्द वृत्ति—जिसमें 'धर्म-विशेष'-सूत्र नहीं है—में भी सर्वान्त में कहा गया है :—

---

१. न्या० म०, पृ० ८० (भा० २)

२. "तदनाऽऽरम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः।" तदभावे संयोगाऽभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः॥ वै० सू० ५।२।१६,१८।

"एवं द्रव्यादीनां[1] साधर्म्य-वैधर्म्य-परिज्ञानात् वैराग्यद्वारेण ज्ञानोत्पत्तेः, 'आत्मा ज्ञातव्यः' इत्यादि-वाक्येभ्यश्च उपासा-क्रमेण विज्ञानाऽवाप्तेः निःश्रेयसाधिगमः।"

मोक्ष-स्वरूपाधिगम के विषय में आवश्यक प्रकार का संक्षिप्त वर्णन तो चन्द्रानन्द-वृत्ति के उपर्युक्त विवरण से ही स्पष्ट है। इससे अधिक विवरण पदार्थ-धर्म-संग्रह के मोक्ष-प्रकरण में देखना चाहिए। सबों का वर्णन यहाँ अनावश्यक प्रतीत होता है। इतना जानना चाहिए कि मोक्षावस्था में आत्मा के सभी विशेष गुणों के उच्छेद हो जाने पर पर भी तत्तत् मन के कारण प्रत्येक मुक्तात्मा में परस्पर-भेद बना रहता है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत वैशेषिक-दर्शन अन्य-दर्शनों की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। दर्शन की सबसे अधिक उपयोगिता साधारण जन के लिए है। साधारण पुरुष संसार में आसक्त रहते हैं। क्लेश की अनुभूति होने पर भी सांसारिक उपायों के अवलंबन में ही उनकी प्रवृत्ति होती है। जिस विषय में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसी मार्ग से यदि उपदेश दिया जाय तो वह उपदेश अधिक सफल होता है। अतएव प्रकृत दर्शन में व्यावहारिक पदार्थों के यथार्थ-ज्ञान को ही मोक्ष का उपाय बतलाया गया है। इस उपाय के अवलंबन में जन-साधारण की भी अरुचि नहीं होगी। अतः उपर्युक्त उपाय के अनुसरण के द्वारा हम लोगों को परम-पुरुषार्थ—निःश्रेयस—का अधिगम करना चाहिए।

विश्वं सृजत्यवति खादति लीलयैव
यो ब्रह्म-विष्णु-हर-रूपमुपेत्य शक्त्या।
साक्षाच्छिवः शिवतरो गिरिजाऽङ्गसङ्गात
गङ्गाऽऽगमात् शिवतमः सकलं पुनातु ॥ १ ॥
शान्ताः निरन्तरमनन्तरमीशते यम्
आनन्द-सिन्धुमरविन्द-दृशम्प्रशान्तम् ।
संस्थाप्य तम्पुरुषमेकमनन्तमन्तः
व्यज्ञापयम् गुरुतरं कण-भक्ष-पक्षम ॥ २ ॥

---

१. च० वृ० १०।२१ ॥

दोषाः विदामपि कथासु भवन्त्यनन्ताः
तत्राऽपि मादृशि जनेऽल्प-मतौ कथा का ?
किन्तु प्रसन्न-हृदय-स्फटिके बुधानाम्
कालाऽत्ययेऽपि ननु संक्रमते न दोषः ॥ ३ ॥

लक्ष्मीनाथाख्य-पितरं स्मृत्वा बुद्धिमतीं सतीम् ।
मातरं सम्प्रणम्यैव रचितोऽयं यथा-मति ॥
आनन्द-कानने ह्यस्मिन् विश्वनाथ-सदासने ।
प्रीत्यै भूयाद्भगवतोर्भवानी-विश्वनाथयोः ॥ ४–५ ॥

श्री विश्वनाथार्पणमस्तु ।

सङ्केत-विवरण

अ० ध० को०	अभिधर्म-कोश
अ० रा०	अनर्घ-राघव
अ० शा०	अभिज्ञान-शाकुन्तल
उप०	उपस्कार
ए० सो०	एशियाटिक सोसाइटी
कल०	कलकत्ता
क० र०	कणाद्-रहस्य
का०	कारिका
का० मा० सं०	काव्य-माला-संस्करण
कारि०	कारिकावली
कि० प्र०	किरणावली-प्रकाश
कि० प्र० दी०	किरणावली-प्रकाश-दीधिति
कि० प्र० वि०	किरणावली-प्रकाश-विवृति
किर०	किरणावली
किर० विज्ञा०	किरणावली-विज्ञापन
किरात०	किरातार्जुनीय
कु० प्र०	कुसुमाञ्जलि-प्रकाश
च० भा०	चन्द्रकान्त-भाष्य
च० वृ०	चन्द्रानन्द-वृत्ति
जि० व०	जिनवर्धनी
त० चि०	तत्त्व-चिन्तामणि
त० चि० आ०	तत्त्व-चिन्तामणि-आलोक
त० दी०	तर्क-दीपिका
त० प्र०	तर्कभाषा-प्रकाशिका
त० सं० प०	तत्त्व-संग्रह-पञ्जिका
ता० टी०	(न्याय-वार्तिक-) तात्पर्य-टीका
दिन०	दिनकरी
द्र० कि० टी०	द्रव्य-किरणावली-टीका
द्वि० भा०	द्वितीय-भाग
न० च०	नय-चक्र

न० च० वृ०	नय-चक्र-वृत्ति
ना० उ०	नारायणोपनिषत्
नील०	नीलकण्ठी
नै० च०	नैषधीय-चरित
नै० च० प्र०	नैषधीय-चरित-प्रकाश
न्या० क०	न्याय-कन्दली
न्या० कु०	न्याय-कुसुमाञ्जलि
न्या० कु० च०	न्याय-कुमुद-चन्द्र
न्या० को०	न्याय-कोश
न्या० च०	न्याय-चन्द्रिका
न्या० नि० प्र०	न्याय-निबन्ध-प्रकाश
न्या० बि० टीका	न्याय-बिन्दु-टीका
न्या० भा०	न्याय-भाष्य
न्या० म०	न्याय-मञ्जरी
न्या० मु०	न्याय-मुक्तावली
न्या० र०	न्याय-रत्नावली
न्या० ली०	न्याय-लीलावती
न्या० ली० क०	न्याय-लीलावती-कण्ठाभरण
न्या० ली० प्र० वि०	न्याय-लीलावती-प्रकाश-विवृति
न्या० ली० भू०	न्याय-लीलावती-भूमिका
न्या० वा०	न्याय-वार्त्तिक
न्या० वा० ता० टी०	न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका
न्या० सि० म०	न्याय-सिद्धान्त-मञ्जरी
न्या० सू०	न्याय-सूत्र
न्या० सू० वृ०	न्याय-सूत्र-वृत्ति
प० च०	पदार्थ-चन्द्रिका
प० ध० सं०	पदार्थ-धर्म-संग्रह
पं०	पंक्ति
प्र० क० मा०	प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड
प्र० पा० भा०	प्रशस्त-पाद-भाष्य
प्र० स०	प्रमाण-समुच्चय
प्र० स० वृ०	प्रमाण-समुच्चय-वृत्ति
[illegible]० स०	बलभद्र-सन्दर्भ

ब्र० सू०	ब्रह्म-सूत्र
भा०	भाग
भा० च०	भाष्य-चन्द्र
भा० द०	भारतीय-दर्शन
म० भा०	महा-भाष्य
म० सं०	मनु-संहिता
मा० मे०	मान-मेयोदय
मिता०	मिताचरा
मि० वि० वृ०	मिथिला-विद्यापीठ-वृत्ति
मि० वि० सं०	मिथिला-विद्यापीठ-संस्करण
मुक्ता०	मुक्तावली
मुक्ता० प्र०	मुक्तावली-प्रभा
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्य-स्मृति
यु० दी०	युक्ति-दीपिका
यो० सू०	योग-सूत्र
रस०	रस-सार
विशा०	विशालामलवती
वै० द० वृ०	वैशेषिक-दर्शन-वृत्ति (दरभङ्गा)
वै० सू०	वैशेषिक-सूत्र
वै० सू० च० वृ०	वैशेषिक-सूत्र-चन्द्रानन्द-वृत्ति
वै० सू० वि०	वैशेषिक-सूत्र-विवृत्ति
वै० सू० वृ०	वैशेषिक-सूत्र-वृत्ति (दरभङ्गा)
व्योम०	व्योमवती
शां० भा०	शाङ्कर-भाष्य (ब्र० सू०)
शि० व०	शिशुपाल-वध
श्लो०	श्लोक
श्लो० वा०	श्लोक-वार्त्तिक
श्वे० उ०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
ष० द० सं०	षड्-दर्शन-समुच्चय
ष० द० स० वृ०	षड्-दर्शन-समुच्चय-वृत्ति
स० त० प्र०	सम्मति-तर्क-प्रकरण
स० त० व्या०	सम्मति-तर्क-व्याख्या
स० प०	सप्त-पदार्थी

स० प० जिन०	सप्त-पदार्थी-जिनवर्धनी
स० प० टी०	सप्त-पदार्थी-टीका
सां० का०	सांख्य-कारिका
सां० त० कौ०	सांख्य-तत्त्व-कौमुदी
सां० सू०	सांख्य-सूत्र
सि० बि० न्या० रत्ना०	सिद्धान्त-बिन्दु-न्याय-रत्नावली
सू०	सूत्र
AIOC.	All India Oriental Conference
H. I. Phil.	History of Indian Philosophy
Indian Phil.	Indian Philosophy
I. L. S.	Indian Logic in early Sshools
P. I. L.	Primer of Indian Logic
Vais. Phil	Vaisheshika Philosophy

ग्रन्थ-परिचय

अभिज्ञान-शाकुन्तल ।
अनर्घ-राघव (काव्यमाला)
अभिधर्म-कोश (आचार्य नरेन्द्र-देव-संस्करण)
उपस्कार (जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता)
कणाद-रहस्य —शंकर मिश्र (चौखम्बा, वाराणसी)
कारिकावली-मुक्तावली (चौखम्बा, वाराणसी)
कारिकावली-न्याय-चन्द्रिका—नारायण तीर्थ (चौखम्बा, वाराणसी)
कारिकावली-मुक्तावली-प्रभा (मद्रास)
कारिकावली-मुक्तावली-दिनकरी (चौखम्बा, वाराणसी तथा मद्रास[1])
किरणावली (पदार्थ-धर्म-संग्रह की व्याख्या, चौखम्बा, वाराणसी तथा कलकत्ता[2])
किरणावली-प्रकाश—वर्धमान (ए० सो०, कलकत्ता)
किरणावली-प्रकाश-दीधिति—रघुनाथ शिरोमणि (सरस्वतीभवन, वाराणसी)
किरणावली-प्रकाश-विवृति—रुचिदत्तोपाध्याय (ए० सो०, कलकत्ता)
किरातार्जुनीय—भारवि ।
कुसुमाञ्जलि-प्रकाश—वर्धमान (चौखम्बा, वाराणसी)
गीता—(गोरखपुर)
चन्द्रकान्त-भाष्य (गुजराती प्रेस)
चन्दानन्द-वृत्ति (बड़ौदा)
जिनवर्धनी (सप्त-पदार्थी की टीका, अहमदाबाद)
तत्त्व-चिन्तामणि (गादाधरी-संस्करण, कलकत्ता)
तत्त्व-चिन्तामण्यालोक—पक्षधर मिश्र (दरभङ्गा)
तर्क-दीपिका—अन्नम्भट्ट (बम्बई—१९३३)

---

१. इस पुस्तक में विशेषतः मद्रास-संस्करण का ही उपयोग किया गया है ।

२. १०० पृष्ठ तक की किरणावली का अंश चौखम्बा-संस्करण से उद्धृत है, शेषांश के लिए कलकत्ता-संस्करण का उपयोग किया गया है ।

तर्कभाषा-प्रकाशिका—चिन्नम्भट्ट (बम्बई—१९३७)
तत्त्व-संग्रह-पञ्जिका—कमलशील (बड़ौदा)
द्रव्य-किरणावली-टीका—वादीन्द्र (ए० सो०, कलकत्ता)
नय-चक्र, सवृत्तिक (वै० द० के परिशिष्ट में प्रकाशित, बड़ौदा)
नारायणोपनिषत् (उपनिषत्संग्रह)
नीलकण्ठी (तर्क-दीपिका की व्याख्या, बम्बई)
नैषधीय-चरित ।
नै० च० प्रकाश—नारायण भट्ट (बम्बई)
न्याय-कन्दली (प्रशस्तपाद-भाष्य-व्याख्या, वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी)
न्याय-कुमुद-चन्द्र (बम्बई—४, १९३८)
न्याय-कुसुमाञ्जलि (चौखम्बा, वाराणसी)
न्याय-कोश (पूना—१९२८)
न्याय-बिन्दु-टीका—धर्मोत्तर (चौखम्बा, वाराणसी)
न्याय-भाष्य (चौखम्बा, वाराणसी—१९२५)
न्याय-मञ्जरी (चौखम्बा, वाराणसी)
न्याय-मुक्तावली—अपरार्क-कृत न्याय-सार-व्याख्या (मद्रास)
न्याय-रत्नावली—गौड़ ब्रह्मानन्द-कृत सिद्धान्त-बिन्दु-व्याख्या (चौखम्बा, वाराणसी—१९२८
न्याय-लीलावती, कण्ठाभरण, प्रकाश तथा विवृति सहित (चौखम्बा, वाराणसी)
न्याय-वार्त्तिक (चौखम्बा, वाराणसी तथा कलकत्ता)
न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका (चौखम्बा तथा कलकत्ता)
न्याय-सिद्धान्त-मञ्जरी (वाराणसी)
न्याय-सूत्र (चौखम्बा, वाराणसी—१९२५)
न्याय-सूत्र-वृत्ति (ए० सो० कलकत्ता तथा जीवानन्द)
पदार्थ-चन्द्रिका—सप्त-पदार्थी-व्याख्या (कलकत्ता)
प्रमाण-समुच्चय, सवृत्तिक (वै० द० के परिशिष्ट में अंशतः अनूदित, बड़ौदा)
प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड (बम्बई—१९४१)
प्रशस्त-पाद-भाष्य, (सं० वि० वि०, वाराणसी और चौखम्बा, वाराणसी, १९३१ तथा १९६६)

बलभद्र-सन्दर्भ—सप्त-पदार्थी-व्याख्या (कलकत्ता)
ब्रह्म-सूत्र, शाङ्कर-भाष्य, भामती-कल्पतरु-सहित (बम्बई—१९१७)
भाष्य-चन्द्र—न्याय-भाष्य-व्याख्या (चौखम्बा—१९२५)
भारतीय-दर्शन—डा० उमेश मिश्र
महा-भाष्य ।
मनु-संहिता (बम्बई—१९२९)
मान-मेयोदय (आङ्ग्लानुवाद-सहित, मद्रास)
मिथिला-विद्यापीठ-वृत्ति (दरभङ्गा—१९५७)
याज्ञवल्क्य-स्मृति, मिताक्षरा सहित ।
युक्ति-दीपिका (कलकत्ता)
योग-सूत्र-व्यासभाष्य (चौखम्बा—१९३५)
रघुवंश (चौखम्बा)
रस-सार—भट्ट वादीन्द्र (सरस्वतीभवन, वाराणसी)
वैशेषिक-सूत्र (चौखम्बा)
वै० सू० चन्द्रानन्द-वृत्ति (बड़ौदा)
व्योमवती—प्रशस्तपाद-भाष्य-व्याख्या (चौखम्बा—१९३१)
शिशुपालवध (चौखम्बा)
श्लोक-वार्त्तिक (चौखम्बा)
श्वेताश्वतरोपनिषत् (गीताप्रेस, गोरखपुर)
षड्-दर्शन-समुच्चय, सवृत्तिक (चौखम्बा)
सम्मति-तर्क-प्रकरण, सव्याख्या (अहमदाबाद)
सप्त-पदार्थी, जिनवर्धनी-सहित (अहमदाबाद)
सांख्य-कारिका, तत्त्व-कौमुदी-सहित (बम्बई—१९४०)
सांख्य-सूत्र, प्रवचन-भाष्य-सहित (कलकत्ता)
सूक्ति—प्रशस्त-पाद-भाष्य-व्याख्या (चौखम्बा—१९३१)
सेतु „ „ (चौखम्बा—१९३१)
History of Iadian Philosophy—S. N. Dasgupta.
Indian Logic in early Schools—Randle.
Philosophy of Ancient India—Garbe.
Primer of Indian Logic (Ed. Kuppuswami Shastriar)
Vaisheshika Philosophy—Dr. Ui (Ch‸ukhambha)

शुद्धि-पत्र

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-रूप	शुद्ध-रूप
७	८	अंशतः	(अंशतः)
९	१९	षड्-दर्शन-ममुच्च	षड्-दर्शन-समुच्चय
१३	९	प्रशस्तपाद से पूर्व की व्याख्या	प्रशस्तपाद से उत्तर-काल की व्याख्या
१३	२५	शा० भा०	शां० भा०
१६	२	किरणवाली	किरणावली
१७	१९	'विशालामतवती'	'विशालामलवती'
२०	२२	(क) क्रियावत् द्रव्यम्	क्रियावत् द्रव्यम्
२१	३३	प्रमाण है ।	प्रमाण है :—
२२	१	(अ) जितने कार्य-पदार्थ	जितने कार्य-पदार्थ
२५	२४	श्पर्शश्च इति	स्पर्शश्च इति
२५	२५	'वति' प्रत्यय	'मतुप्' प्रत्यय
३०	९	वति-प्रत्यय	'मतुप्' प्रत्यय
४१	८	···नाम् , भुवनोप···	···नाम् भुवनोप···
४९	४-५	परम्परा प्रत्यासत्ति	परम्परा-प्रत्यासत्ति
५०	७	श्रोत्र-मात्र-प्राह्ययत्व	श्रोत्र-मात्र-प्राह्यत्व
५०	९	मूर्त्त-संयोगासमवायि-कारणक-वृत्ति	मूर्त्त-संयोगासमवायि-कारणक
५४	८	कारणताऽवक्छेदक	कारणताऽवच्छेदक
५४	१४-१५	कारणताऽवक्छेदक	कारणताऽवच्छेदक
५७	२८	अहो-रात्र-पूर्वकत्व आ	अहो-रात्र-पूर्वकत्व का
५७	२९	व्यवस्थापन संर्गान्त	व्यवस्थापन सर्गान्त

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-रूप	शुद्ध-रूप
६०	३२	प्रलल	प्रलय
६१	१०	सृष्ट्वादि-भूताऽहो-	सृष्ट्यादिभूताऽहो-
६१	११	सृष्टि-कालीनत्वाभा-वात्	सृष्टि-कालीनत्वाऽभावात्
६१	१७	यावत्त्याऽव्यतिरेकित्वं	यावत्त्वाऽव्यतिरेकित्वं
६१	२०	द्वितीय युक्ति मी	द्वितीय युक्ति भी
६४	१९	समस्था	समस्या
७१	१६	साध-नत्व	साधनत्व
७२	१०	प्रत् भिज्ञा	प्रत्यभिज्ञा
७२	१५	क्षणिक-बाद	क्षणिक-वाद
७२	२९	वहिन-सामान्य	वह्नि-सामान्य
७४	३१	वेदान्द-मतानुसार	वेदान्त-मतानुसार
७४	३३	नया-	नैया-
७५	३१	सा० का०	सां० का०
७६	६	वही	वहीं
७६	७	चेन्य	चैतन्य
७६	१५	बुद्ध्य-सम्पर्क	बुद्ध्यसम्पर्क
७८	१७	द्वा सपर्णा	द्वा सुपर्णा
७८	१८	आत्भ-नानात्व	आत्म-नानात्व
७९	१४	रामानुज तथा मध्व	रामानुज तथा मध्व
७९	१६	स चाऽनन्त्याय	स चाऽऽनन्त्याय
८१	२९	प्र० पा० भा०, पृ० ११६	प्र० पा० भा०, पृ० २१६
८३	३	अन्धकार	अन्धकार
८४	२०	(= देशान्तर प्राप्तिमत्त्व)	(= देशान्तर-प्राप्तिमत्त्व)
८४	२१	हेतु के पक्ष-धर्मत्व	हेतु मे पक्ष-धर्मत्व
८७	६–७	द्रवत्व, स्नेह, (Liquidity)	द्रवत्व (Liquidity), स्नेह,
८८	२२	संस्कराऽदृष्ट-शब्दाः	संस्काराऽदृष्ट-शब्दाः
८९	२३–२४	शौर्योदार्य-	शौर्यौदार्य-

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-रूप	शुद्ध-रूप
९१	११	सहश्रेणापि	सहस्रेणाऽपि
९२	३१	ब० सा०	ब० स०
९३	१७	कदाचिदभिभूत	कदाचित् अभिभूत
९४	४	(= Pot) पाक का	(= Pot) में पाक का
९४	५	(= Atom) पाक का	(= Atom) में पाक का
१०५	२३	सख्या	संख्या
१०७	२	चतुथ-च्चण :—	चतुर्थ-च्चण :—
१०९	२९	एक द्यान का विषय	एक ज्ञान का विषय
११२	८	एकत्वत्व ज्ञान की	एकत्वत्व-ज्ञान की
११३	२१	दोनों नाश प्रक्रियाओं	दोनों नाश-प्रक्रियाओं
११६	१	परां काष्ठां प्रात्नोति	परां काष्ठां प्राप्नोति
११६	१६	समामाधिकरण परिमाण हैं।	समानाधिकरण परिमाण हैं।
१२५	२४	(न) संयोग	(त) संयोग
१२७	२६	समवायि कारण	समवायि-कारण
१३९	३२	सभी प्रांक्रियाओं का	सभी प्रसिद्ध प्रक्रियाओं का
१४३	२८–२९	अपेच्चा-दुद्धि-विनाश	अपेच्चा-बुद्धि-विनाश
१४८	३२	(द्र० न्या० म० देखिए —पृ०···	—देखिए :—न्या० म०, पृ०···
१५९	२०	उद्भ्रान्त अतः-करण	उद्भ्रान्त अन्तः-करण
१६१	२९	कुमारिका ज्ञान	कुमारिका-ज्ञान
१६२	३	प्रत्यच्चं-ज्ञानम्	प्रत्यच्चं ज्ञानम्
१६३	२३–२४	प्रशस्तपाद के प्रत्यच्च-प्रकरण से सन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक-ज्ञान की प्रतीति	प्रशस्तपाद के गुण-प्रकरण से इन्द्रिय की और प्रत्यच्च-प्रकरण से सन्निकर्ष, निर्विकल्पक-ज्ञान तथा विशिष्ट-ज्ञान की प्रतीति
१६४	२७	७. कारि० त०प्र०पृ० १२२	७. त० प्र०, पृ० १२२

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध-रूप	शुद्ध-रूप
१६६	२४	अ-प्राप्य-कारिचेति	अ-प्राप्य-कारि चेति
१७७	५	"तेन यत्राप्युमौ धर्मौ	"तेन यत्राप्युभौ धर्मौ
१८३	२८	क्षण में उत्पन्न संस्कार	क्षण में उद्बुद्ध संस्कार
१८६	४	मानना चाहिए	माननी चाहिए
१८९	३०	तथा अनुमिति	तथा अनुमिति-
१९३	१	हेत्वाऽभास में सामान्य,	हेत्वाऽभास में सामान्य तथा असामान्य
१९५	१२	हेत्वभास स्वतन्त्र है,	हेत्वाभास स्वतन्त्र है,
१९५	२२	ज्ञानस्य समानेन	ज्ञातस्य समानेन
१९६	१४	प्रचलित है :—	प्रचलित हैं :—
१९७	२४	यदि हाता तो	यदि होता तो
२०८	२०	स्व-समानायिकरण-	स्व-समानाधिकरण
२१४	१९	संस्कार का नाश	संस्कार का अभिभव
२२८	१०	"अप्त-पदार्थी"	सप्त-पदार्थी

अशुद्धियों का यथा-सम्भव संशोधन इस 'शुद्धि-पत्र' में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु अक्षराऽशुद्धि को सम्भावना का शत-प्रतिशत निराकरण नहीं किया जा सकता। अतः विद्वान् पाठकों से मेरी प्रार्थना है कि वे अवशिष्ट अक्षराऽशुद्धियों तथा अज्ञान-कृत विषयाशुद्धियों का स्वयम् संशोधन कर मुझे अनुगृहीत करें।

कतिपय साहित्य-परीक्षोपयोगी प्रकाशन

कादम्बरी । 'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्या । आचार्य शेषराज शर्मा 'रेग्मी' । कथामुखपर्यन्त ३५-००, आदितः शुकनासोपदेशान्त भागः

रघुवंशमहाकाव्यम् । मल्लिनाथ कृत 'संजीविनी' व्याख्यासमलङ्कृत । श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी कृत 'चन्द्रकला' हिन्दी व्याख्या युक्त । सम्पूर्ण

व्याकरणशास्त्रस्येतिहासः । लेखकः—डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

अभिज्ञानशाकुन्तलम् । 'विमला'-'चन्द्रकला'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्या युक्त । डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

रसगङ्गाधरः । आचार्य बदरीनाथ कृत 'चन्द्रिका' संस्कृत टीका एवं आचार्य मदनमोहन झा कृत हिन्दी टीका सहित । १-३ भाग सम्पूर्ण

प्रथमाननपर्यन्तः प्रथम भाग

द्वितीयानन का उत्प्रेक्षानिरूपणान्तः द्वितीय भाग

अतिशयोक्त्यलङ्कारादिसमाप्तिपर्यन्तः तृतीय भाग

दशरूपकम् । धनिककृत 'अवलोक' संस्कृत टीका एवं डॉ० भोलाशंकर व्यास कृत 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका सहित

नलचम्पूः । 'सुधा' संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहित ।श्रीपरमेश्वरदीनपाण्डेय

कौटिलीय-अर्थशास्त्रम् । हिन्दीव्याख्यासहित । वाचस्पति गैरोला

काव्यमीमांसा । परीक्षोपयोगि संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार—डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी । १-५ अध्याय

नैषधीयचरितम् । 'चन्द्रकला'सं०हि०व्याख्या । शेषराजशर्मा । १-९ सर्ग

स्वप्नवासवदत्तम् । 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्या । शेषराजशर्मा रेग्मीः

निरुक्तम् । १-७ अध्याय । विवेचनात्मक विस्तृत हिन्दी व्याख्या, भूमिकादि सहित । व्याख्याकार—डॉ० उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि'

पुराणपर्यालोचनम् । डॉ० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी। प्रथमः गवेषणात्मक भाग (उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत) । द्वितीय समीक्षात्मक भाग

भक्तिरत्नावली। श्रीकृष्णमणित्रिपाठी (उ.प्र. सरकार द्वारा पुरस्कृत)

काव्यप्रकाशः । 'शशिकला' हिन्दीव्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह

कुवलयानन्द ।'अलङ्कारसुरभि' हिन्दीव्याख्या। डॉ० भोलाशंकरव्यास

साहित्यदर्पणम् । 'शशिकला' हिन्दीव्याख्या । डॉ० सत्यव्रत सिंह १-६ परिच्छेद सम्पूर्ण

ध्वन्यालोकः । अभिनवगुप्त कृत 'लोचन' संस्कृत टीका एवं आचार्य जगन्नाथ पाठक कृत 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या । सम्पूर्ण

भट्टिमहाकाव्यम् । 'काव्यमर्मविमर्शिकाख्य-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम् । नवीन परिवर्द्धित संस्करण । म० म० श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी' १-४ सर्ग ३५-००, ५-८ सर्ग ४५-००, १४-२२ सर्ग

सर्वविध पुस्तक प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, गोपालमन्दिर लेन, वाराणसी